Anil Kumar Misra.
B.A. L.L.B. Previous
P.S. Choari
O.P. Kabsethi
Varanasi

"पाश्चात्य आधुनिक दर्शन

की

समीक्षात्मक व्याख्या"

(बेकन से काण्ट तक आठ सुप्रसिद्ध दार्शनिकों के विचारों का विवेचन)

(A Critical History of Modern Philosophy)

लेखक—

या० मसीह, एम० ए०, डी० लिट् (पटना),
पी० एच० डी (एडिनबरा)

दर्शन के अध्यापक तथा अध्यक्ष
स्नातकोत्तर विभाग
मगध विश्वविद्यालय, गया।

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

१९६७] पटना—४

रुपये पचास नये पैसे

प्रकाशक
मोतीलाल बनारसीदास
अशोक राजपथ, पटना—४

(संशोधित तथा संवर्द्धित संस्करण)

मार्च, १९६७

मूल्य - [illegible] रुपये पचास पैसे

मुद्रक
राम नरेश सिंह
बाल्मीकि प्रेस,
सैदपुर, पटना–४

समर्पण

मेरे 'भैया' श्री इश्माइल मसीह ने ही मुझे दर्शन का प्रथम पाठ सिखाया था। असमय ही, केवल ३७ वर्ष की आयु में सन् ३ मई १९४५ में आपका देहान्त हो गया। उस अधखिले फूल की सुरभि आज भी मेरी जीवन-यात्रा का पथनिर्देश कर रही है। अतः, मैं यह पुस्तक उस पुनीत स्मृति में समर्पित करता हूँ।

—लेखक

लोक-बर्कले
पाठक-
हूं।

दो शब्द

समसामयिक विचारधारा में 'दर्शन' (philosophy) और 'तत्त्व मीमांसा' (Metaphysics) के बीच भेद किया जाता है। 'दर्शन' के स्वरूप के विषय में कहा जाता है कि इसका सम्बन्ध वैज्ञानिक ज्ञान के 'स्पष्टीकरण' से है। यहां 'स्पष्टीकरण' से अर्थ लगाया जाता है कि विज्ञान का विषय 'भाषा' तथा भाषा-विषयक भाषा-चिन्हों के जोड़ने के नियमों में निहित है। इस मत के अनुसार प्रायः लोग गलत समझते हैं कि मन-निरपेक्ष, अर्थात् मन से परे स्वतन्त्र पदार्थों की निजी सत्ता है जिन्हें वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में खोज निकालते हैं। भाषामय संवेदनाओं को ही वैज्ञानिक जानते हैं और इसलिए 'भाषा' तथा भाषा विषयक प्रतीकों (symbols) को जोड़ने के नियमों को हमें स्पष्ट करना चाहिए। इसलिए 'दर्शन' का सम्बन्ध भाषादर्शन (Linguistics) तथा न्यायदर्शन (logistics) तक ही सीमित समझा जाता है। अब 'तत्त्वमीमांसा' का विषय स्वतन्त्र पदार्थों की निजी सत्ता से सम्बन्ध रखता है। परन्तु मन से परे, स्वतन्त्र तथा स्वसत्तात्मक पदार्थों का अस्तित्व समस्याहीन है, अर्थात् यह ऐसी समस्या ही नहीं है जिसके विषय अर्थपूर्ण गवेषणा की जा सके। अतः तत्वमीमांसा, दर्शन-विषय नहीं हैं। इसलिए कहा जाता है कि 'दर्शन का इतिहास' 'दर्शन' से सम्बन्ध रखता है, न कि तत्त्वमीमांसा से।

यदि समसामयिक 'तर्कनिष्ठ अनुभववाद' (Logical Empiricism) का कथन सत्य हो, तब 'दर्शन' का मुख्य काम भाषा-विश्लेषण कहा जायगा। इस अर्थ में बर्कले ने वास्तव में 'जड़-पदार्थ' के अनस्तित्व की शिक्षा हमें नहीं दी है। उन्होंने केवल उस भाषा का विश्लेषण किया है जिसे हम जड़-पदार्थ (matter) कहते हैं। फिर ईश्वर, अमर आत्मा इत्यादि भ्रान्तिपूर्ण समस्याएँ हैं, क्योंकि इनका वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हो सकता है।

मैं समझता हूँ कि तर्कनिष्ठ अनुभववाद संकीर्ण क्षेत्र की सीमित समस्या का ही समाधान करता है और इसका सम्बन्ध हमारे जीवन की सम्पूर्ण अनुभूति से नहीं है। हम भारतीयों को इसकी जानकारी अवश्य करनी चाहिए क्योंकि भाषा-दोष के कारण दार्शनिक विचारों में अनेक त्रुटियाँ चली आती हैं। परन्तु मैंने इस पुस्तक में भारतीय परम्परा का ही अनुशीलन किया है जिसके अनुसार जीवन-तत्त्व नामक मोती 'गहरे पानी' में डुबकी मारने पर ही, मिल सकता है। दार्शनिक ज्ञान, इस परम्परा के अनुसार, 'सूझ', 'पैठ' इत्यादि पर निर्भर करता है।

राधाकृष्ण ने लिखा है :—

"......if we are careful we will notice that the great metaphysical systems which are worked out in a logical way are really points of view, darsanas as they are called in India, visions of reality for which we discover reasons'. (Recovery of faith—P. I)*

मैंने इसी परम्परा को अपनाया है।

× × ×

पाठक स्वयं समझ लेंगे कि मैंने इस पुस्तक को सरल बनाने की कोशिश की है। ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों के लिए यत्र-तत्र छोटे अक्षरों में समसामयिक देन का उल्लेख कर दिया है। काण्ट पाश्चात्य दार्शनिकों में सबसे अधिक प्रभावशाली प्रतीत हुए हैं। इसलिए उनके 'दर्शन' को कुछ अधिक विस्तारपूर्वक लिखा गया है।

\+ + + +

मैंने इस पुस्तक के लिखने में अनेक पुस्तकों तथा पत्रिकाओं की सहायता ली है। श्री गुलाब राय, डाक्टर शशधर दत्त, तथा डाक्टर 'देवराज' की पुस्तकों से मैंने अनेक पारिभाषिक शब्दों को प्राप्त किया है। तोभी शब्दों को बिना गढ़े काम नहीं चल सकता है। पर भाषा पर अधिकार मेरा नहीं है। मैंने अंग्रेजी के शब्दों को अनेक स्थलों पर ज्यों का त्यों छोड़ दिया है। यह बात विशेष रीति से काण्ट के दर्शन में देखने में आयेगी।

---

* फिर देखें 'Philosophy of Sarveapalli Radhakrishnan' ८२४, 'An Idealist view of life'—१५२, 'My Search after Truth'—१५२।

हिन्दी विभाग के अध्यापक श्री हरनन्दन चौधरीजी ने लोक-वक्तले सम्बन्धी लिपि को जाँचकर भाषा-सुधार की है, जिसके लिए मैं और पाठक-उनके आभारी हैं। फिर भी भाषा की त्रुटियों के लिए मैं ही उत्तरदायी हूँ।

खबड़ा रोड, मुजफ्फरपुर।

या० मसीह

संशोधित तथा संवर्द्धित संस्करण के सम्बन्ध में

इस पुस्तक में दर्शन को वैचारिक कला माना गया है और इसी दृष्टिकोण से दार्शनिकों की देन का मूल्यांकन किया गया है। फिर पाश्चात्य दर्शन में विश्लेषक और संश्लेषक वाक्यों के बीच के भेद पर विशेष प्रकाश डाला गया है। काण्ट के दर्शन की समीक्षा को एकदम समसामयिक बना दिया गया है। पारिभाषिक शब्दों में भी हेरफर कर दिया गया है। यथासंभव रचना-सुधार पर भी ध्यान दिया गया है।

मैं अनेक विश्वविद्यालयों और उनके अध्यापकों का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को अपनाया है।

या० मसीह

विषयानुक्रमणिका

विषय-प्रवेश

फ्रान्सिस बेकन
(सन् १५६१-१६२६)

रेने देकार्त
सन् १५९६-१६५०

बेनेडिक्ट स्पिनोजा

(सन् १६३२-१६७७)

गेटफ्रिड विल्हेल्म लाइबनित्स

(सन् १६४६-१७१६)

जौन लौक्

(सन् १६३२-१७०४)

विषय-प्रवेश

'फिलौसफी तथा 'दर्शन' की शाब्दिक व्याख्या :—पाश्चात्य भाषा में जिसे फिलौसफी (Philosophy) कहते हैं, उसे हिन्दी में 'दर्शन' नाम से पुकारते हैं। इन दोनों शब्दों के इतिहास से प्राच्य और पाश्चात्य के दृष्टिकोणों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसलिए मैं यहाँ इसकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार करना अच्छा समझता हूँ। पाश्चात्य 'फिलौसफी' शब्द दो खंडों के योग से बना है, अर्थात् Philos + Sophia। Philos से अर्थ होता है प्रेमी का और Sophia शब्द का अर्थ है प्रज्ञा या बुद्धि का। इसलिए फिलौसफी का शाब्दिक अर्थ है **बुद्धि-प्रेम**। अतः पाश्चात्य दार्शनिक बुद्धिमान् या प्रज्ञावान् व्यक्ति बनना चाहता है। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास से यह बात झलक जाती है कि पाश्चात्य दार्शनिक ने ज्ञान के आधार पर ही विशेषतया बुद्धिमान होना चाहा है। इसके विपरीत कुछ उदाहरण अवश्य मिलेंगे, जिनमें आचरण शुद्धि तथा मनस् की परिशुद्धता के आधार पर परम सत्ता के साथ साक्षात्कार करने का भी आदर्श पाया जाता है। परन्तु यह आदर्श प्राच्य है, न कि पाश्चात्य। यदि कुछ पाश्चात्य विचारकों में प्राच्य आदर्श पाया जाय तो इससे सिद्ध हो जाता है कि प्राच्य और पाश्चात्य का अन्तर छिछला है और वास्तव में दर्शन के सभी पुजारियों को विश्व-प्रजातंत्र का समकक्षी सदस्य समझना चाहिए। फिर भी यदि हम रहस्यवादी (Mystics) और समाधिवादी विचारकों को अपवाद समझ लें, तो हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य दार्शनिक 'ज्ञान' पर अधिक जोर देता है और अपने ज्ञान के अनुरूप वह अपने चरित्र का संचालन करना अनिवार्य नहीं समझता है। ठीक इसके विपरीत हम भारतीय 'दर्शन' की परम्परा को देखते हैं।

परम सत्ता के साथ साक्षात्कार करने का ही दूसरा नाम 'दर्शन' है। जिस प्रकार से अपनी आँखों से देखकर हमें विश्वास हो जाता है कि नदी, पहाड़, कुर्सी, मेज इत्यादि वास्तविक पदार्थ हैं, उसी प्रकार भारतीय परम्परा के अनुसार हमें परम सत्ता का साक्षात् ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार के साक्षात्कार के लिए योग, भक्ति तथा ज्ञान के मार्ग बताये गये हैं। परन्तु दार्शनिक ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान से बिलकुल भिन्न कहा गया है। इसकी व्याख्या

कुछ ही पृष्ठों के बाद मिलेगी। यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने में हमें अपने आलोच्य विषय में परिवर्तन करना पड़ता है ताकि उसे हम अपनी इच्छा के अनुसार अपने वश में कर लें। जैसे विद्युत्सम्बन्धी प्रयोगों के आधार पर हम बिजली की शक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार चक्की चलाने, प्रकाश फैलाने, पंखा चलाने इत्यादि कामों में ला सकते हैं। परन्तु प्राच्य दर्शन के अनुसार दार्शनिक ज्ञान जीवन-साधना है। ऐसे ज्ञान से स्वयं दार्शनिक में ही परिवर्तन हो जाता है। उसे दिव्यदृष्टि हो जाती है जिसके द्वारा वह समस्त प्राणियों को अपनी समष्टि दृष्टि के अन्तर्गत देखता है। वह स्वयं बदल जाता है। इसलिए वेदान्त में कहा गया है कि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।' इसी प्रकार कहा गया है कि—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल॥

इसलिये भारतीय परम्परा के अनुसार दार्शनिक एक तपस्वी, खोजी तथा साधक होता है।

समसामयिक विचारधारा में प्राच्य दर्शन को धर्म-दर्शन माना जाता है और पाश्चात्य दर्शन को भाषा-सुधार तथा प्रत्ययों का स्पष्टीकरण कहा जाता है। प्रायः, प्राच्य परम्परा से मेल खानेवाले पाश्चात्य तत्त्वमीमांसा को लोग भाषा-रोग, शब्द-जाल, भाषा का गड़बड़-घोटाला की संज्ञा देते हैं। अब समसामयिक विचारधारा में कितना बल है, और कितनी दूर तक हमें इसे मानना चाहिये, इत्यादि कुछ ऐसे मौलिक प्रश्न हैं जिनकी तह में जाने का यहाँ काम नहीं है। हमें दर्शन के इतिहास को ध्यान में रखकर दर्शन की उपयुक्त व्याख्या करनी चाहिए। परन्तु इसके पहले दर्शन के सम्बन्ध में समसामयिक विचार को भी स्पष्ट कर देना उचित है।

दर्शन के सम्बन्ध में समसामयिक विचार

दर्शन के दो मुख्य अंग हैं, ज्ञानमीमांसा (epistemology) और तत्वमीमांसा (Ontology)। समसामयिक परम्परा के अनुसार 'दर्शन' शब्द को प्रायः ज्ञानमीमांसात्मक अर्थ में समझा जाता है और मेटाफिजिक्स (अतिभौतिकी) को तत्वमीमांसा के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। इसलिये समसामयिक विचार धारा के अनुसार दर्शन का लक्ष्य विचार को संचालन करनेवाले प्रत्ययों का सुधार करना है। प्रत्यय (Concepts) भाषा के

माध्यम से व्यक्त किया जाता है, इसलिये प्रत्ययात्मक सुधार का अर्थ लगाया है कि दर्शन भाषा का स्पष्टीकरण करे अर्थात् प्रत्येक स्थल पर परमतत्त्व, ईश्वर, आत्मा इत्यादि के अनुरूप अनुभूतियों का उल्लेख करें। फिर, साथ-ही-साथ बताये कि हम भाषा को किस प्रकार किस नियम और किन-किन आधारों पर प्रयुक्त करें जिनसे पारस्परिक विचार विनिमय में गड़बड़ी न हों।

अब तत्त्वमीमांसा का उद्देश्य है कि वह परमसत्ता की खोज करे, और उसके सम्बन्ध में हमें ज्ञान दे। यहाँ 'ज्ञान' शब्द का अर्थ है 'वैज्ञानिक ज्ञान'। वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने में विधि, प्रयोग, तर्क इत्यादि अनेक बातें हैं। परन्तु उसकी एक विशेष विशेषता है कि उसमें ऐन्द्रिय अनुभूति अथवा प्रयोग का स्थान अवश्य रहता है। इसकी सामग्रियाँ ऐसी होनी चाहिए जिन्हें हम आँख, नाक, कान इत्यादि इन्द्रियों से जान सकते हैं। परन्तु यदि ईश्वर, परम-सत्ता या आत्मा इत्यादि तत्वमीमांसा के विषय को हम इस ऐन्द्रिय अनुभूति के आधार पर जाँचना चाहें तो हमें कहना पड़ेगा कि तत्त्वमीमांसा की विषय-वस्तु ऐन्द्रिय नहीं है। अब यदि विज्ञान में प्रत्यक्ष अथवा इन्द्रियात्मक अनुभूति का रहना अनिवार्य हो तो हमें कहना पड़ेगा कि तत्वमीमांसा विज्ञान नहीं है। अब चूँकि 'ज्ञान' से अर्थ विज्ञान का होता है और चूँकि तत्वमीमांसा विज्ञान नहीं है, इसलिए समसामयिक विचार में तत्वमीमांसा को ज्ञान-विहीन शास्त्र के नाम से पुकारा जाता है। फिर यदि तत्वमीमांसा का यही उद्देश्य हो कि वह परम सत्ता का विज्ञान हो और इस प्रकार के विज्ञान होने की उसकी संभावना हो नहीं, तो इसे विफल प्रयास ही कहा जायगा। इसलिए समसामयिक विचारधारा में तत्वमीमांसा को अर्थहीन विफल प्रयास माना जाता है

पर यदि हम तत्वमीमांसा को छोड़ दें और ज्ञानमीमांसात्मक दर्शन को ही दर्शन का शुद्ध रूप समझें तो क्या इस अर्थ में दर्शन से किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो सकता है? समसामयिक विचारधारा के अनुसार विज्ञानों को छोड़कर कहीं भी ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए 'दर्शन' में भी ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। तो क्या तत्वमीमांसा के समान दर्शन भी निरर्थक विफल प्रयास है? हाँ, यदि हम सोचें कि दर्शन में किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। तो क्या दर्शन का अध्ययन-अध्यापन छोड़ दिया जाय? नहीं। दर्शन का एक मुख्य काम रह जाता है। किसी भी विज्ञान में भाषा को काम में लाया जाता है और इसी को उपकरण

(instrument) मानकर किसी भी क्षेत्र की घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। परन्तु यद्यपि हम भाषा के द्वारा सभी घटनाओं की खोज करते, उनके सम्बन्ध में नियमों की स्थापना करते और उनके सम्बन्ध में विचार-विनिमय करते, तो भी हम विज्ञान में वैज्ञानिक रहकर भाषा पर विचार नहीं करते हैं। अब दर्शन का मुख्य उद्देश्य है कि वह भाषा पर ही विचार करे। इसी बात को हम दूसरे प्रकार से भी कह सकते हैं।

भाषा-विज्ञान और भाषा-दर्शन :—विज्ञान अपने क्षेत्र विशेष की घटनाओं पर विचार करता है, परन्तु दर्शन विचार पर विचार करता है। विज्ञानों के लिए भाषा और विचार गौण हैं और घटना विशेष ही मुख्य है। परन्तु दर्शन के लिए भाषा ही मुख्य विषय है। अब चूँकि ज्ञान घटनाओं का होता है और इसका सम्बन्ध साक्षात् रीति से विज्ञान के साथ होता है, इसलिए कहा जा सकता है कि विज्ञानों के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है। फिर चूँकि दर्शन में घटनाओं का उल्लेख साक्षात् रीति से नहीं होता, इसलिए कहा जाता है कि दर्शन में ज्ञान नहीं होता हैं। यहाँ एक प्रश्न आपत्ति के रूप में उठाया जा सकता है, क्या भाषा-विज्ञान (Philology) विज्ञान नहीं है ? सर्वप्रथम, दर्शन भाषा-विज्ञान नहीं है क्योंकि भाषा-विज्ञान का काम है कि वह बताये कि भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई, और प्रत्येक शब्द और भाषा के अन्यान्य तथ्यों का कैसे विकास हुआ, और किस शब्द को किस अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, इत्यादि। भाषा-विज्ञान विज्ञान है क्योंकि इसके द्वारा भाषा-सम्बन्धी घटनाओं का साक्षात् रीति से अध्ययन किया जाता है परन्तु जब हम कहते हैं कि दर्शन का काम है कि भाषा या विचार पर विचार करे तो यहाँ इसका सही अर्थ होगा कि दर्शन भाषा-तर्कशास्त्र है। यह भाषा कोई हिन्दी, बंगाली या जर्मन के समान भाषाविशेष नहीं है। यह भाषा स्वयं सभी भाषाओं के प्रति विचार करने के लिए तैयार की जाती है। यह वह व्यापक और सर्वोपरि तल की भाषा है जिसके नियमों के अनुसार किसी भी विज्ञान में किसी भी भाषा को काम में लाया जाता है। यहाँ पर हमें भाषा-विशेष और भाषा-दर्शन के बीच के अन्तर को एक-दो उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे, 'सिंह सभी वनपशुओं का राजा है' और 'ईश्वर समस्त राजाओं का राजा है'। ये दोनों वाक्य व्याकरण के नियम के अनुसार एक ही प्रकार के वाक्य हैं, परन्तु भाषा-दर्शन के दृष्टिकोण से इनमें अन्तर है। सिंह हमारे प्रत्यक्ष अथवा निरीक्षण का विषय है, पर 'ईश्वर' हमारी ऐन्द्रिय अनुभूति का विषय नहीं है। इसलिए यदि हम 'सिंह वनपशुओं का राजा है' को

वर्णनात्मक वाक्य कहें, तो हम इसी प्रकार से 'ईश्वर समस्त राजाओं का राजा हैं' वर्णनात्मक नहीं कह सकते हैं। इन दोनों वाक्यों को एकही प्रकार का समझ लेने से दर्शन और धर्मदर्शन में अनेक दोष आ गये हैं। उसी प्रकार यदि हम कहें कि 'गणित विद्यामन्दिर स्कूल में पुरस्कार-वितरण करेगा' तो यह हिन्दी-व्याकरण के दृष्टिकोण से शुद्ध वाक्य कहा जायगा परन्तु भाषा-दर्शन के दृष्टिकोण से इसे दोषपूर्ण वाक्य कहा जायगा। यदि हम 'पुरस्कार-वितरण' शब्दों को सही रीति से काम में लायें तो कोई व्यक्ति इस कार्य के उपयुक्त हो सकता है, परन्तु गणित नहीं। भाषा-दर्शन के दृष्टिकोण से सही वाक्य होगा, 'गणित विद्या-मन्दिर स्कूल में पढ़ाया जाता है,' और इसी प्रकार से सही वाक्य होगा कि 'शिक्षामन्त्री विद्यामन्दिर स्कूल में पुरस्कार-वितरण करेंगे।' इसलिए दर्शन भाषा-दर्शन के रूप में भाषा-विज्ञान से भिन्न है ! इसलिए भाषादर्शन के रूप में दर्शन विज्ञान नहीं है और यदि यह विज्ञान न हो तो इससे ज्ञान भी नहीं प्राप्त किया जा सकता है। तो क्या दर्शन भी तत्वमीमांसा के समान विफल प्रयास है? इसके उत्तर देने के लिये हमें 'ज्ञान' प्रत्यय का थोड़ा विश्लेषण करना चाहिये।

दर्शन और ज्ञान :—वैज्ञानिक ज्ञान में हमें किसी विषय की सूचना मिलती है जो सत्य या असत्य ठहरायी जा सकती है। प्रायः, सत्यापन (Verification) का काम ऐन्द्रिय अनुभूति के ही आधार पर किया जाता है। जैसे, यदि कोई कहे कि इस कमरे में एक काला कुत्ता है, तो इस कथन की पुष्टि या इसका मिथ्यापन आँख, हाथ, नाक इत्यादि के ही द्वारा ठहराया जा सकता है। परन्तु दर्शन में साक्षात् रीति से घटनाओं अथवा वस्तुओं से हमारा सम्पर्क नहीं होता है। इसलिए साक्षात् रीति से घटनाओं की हमें ऐसी सूचना नहीं मिलती है जिसे सत्य या असत्य ठहरायी जा सके। इसलिए दार्शनिक प्रकथनों के विषय में सत्यता या असत्यता का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता।

यदि दर्शन को भाषा का तर्कशास्त्र या व्यापक व्याकरण माना जाय तो यह ठीक है कि इसमें सत्यता-असत्यता नहीं प्राप्त की जा सकती और इसलिए न तो वैज्ञानिक ज्ञान ही। पर क्या वैज्ञानिक ज्ञान में केवल ऐन्द्रिय प्रदत्त (data) या सामग्रियाँ ही पायी जाती हैं? कम-से-कम किसी भी विज्ञान में वाक्य रचना के नियम, वाक्यों के रूपान्तर करने की विधियाँ, वाक्यों की संश्लेषण-विधियाँ इत्यादि पायी जाती हैं। इन नियमों और विधियों के आधार

पर सामग्रियों का तो नहीं, पर इन सामग्रियों को व्यवस्थित कर इनके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उसी प्रकार गाणतिक भाषा और उसके नियम हैं। गाणतिक भाषा का भी साक्षात् सम्बन्ध घटनाओं से नहीं होता, पर किसी भी आनुभविक विज्ञान में इसे काम में लाकर वैज्ञानिक नियम को परिशुद्ध (Precise) भाषा में व्यक्त किया जा सकता है। इसलिए यद्यपि दर्शन में सामग्रियों का ज्ञान नहीं पाया जाता तो भी इसके द्वारा भाषा-सुधार किया जा सकता है ताकि इसके द्वारा विचार-विनिमय या विचारों का आदान-प्रदान बिना किसी गड़बड़ी, दोष या गड़बड़ घोटाले के हो। दर्शन का यह उद्देश्य भी कम महत्त्व नहीं रखता क्योंकि यदि वास्तव में भाषा परिशुद्ध हो जाय तो विचारों का आदान-प्रदान ऐसा हो सकता है कि आपस का मतभेद बहुत दूर तक मिट जाय। शायद धर्म-सम्बन्धी भेद विशेषतया कल्पनारंजित भाषा, उपमा, प्रतीक इत्यादि के व्यवहारों से हो गया हैं। यदि धर्म-भाषा को लोग समझने लगें और उस भाषा को परिशुद्ध कर पायें तो संभव है कि धर्म के नाम पर लगाये जानेवाले अनेक नारे फीके पड़ जायँ और पारस्परिक मेल में योगदान प्राप्त हो जाय।

तत्वमीमांसा के सम्बन्ध में विचार

जो उपर्युक्त बातें दर्शन और तत्वमीमांसा के सम्बन्ध में कही गयी हैं वे समसामयिक अनुभववाद से सम्बन्ध रखती हैं। अब अनुभववाद समसामयिक विचारधारा में प्रमुख स्थान अवश्य रखता है, पर अस्तित्ववाद (Existentialism) भी कम प्रभावशाली नहीं है। यदि अनुभववादी मत के अनुसार तत्वमीमांसा अर्थहीन कहा जा सकता है, तो अस्तित्ववाद के अनुसार तत्वमीमांसा ही दर्शन का वास्तविक रूप है। मोटे तौर पर अस्तित्ववाद के अनुसार कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है कि वह अपने व्यक्तित्व का सच्चा विकास स्वयं अपने कार्य निर्णयों के आधार पर कर सकता है। जो व्यक्ति दूसरे की नकल करता, या बिना अपनी स्वतंन्त्र छान-बीन किये हुए आँख मूँद कर दूसरे के बताये मार्गों पर चलता है, वह औथेन्टिक, जिन्विन*

*प्रत्येक व्यक्ति का अपना मूल रूप होता है जो अपने संस्कार के अनुसार साकार किया जाता है। इसलिये जो व्यक्ति अपने इस मूलरूप को पहचान कर इसके ही अनुसार इसे साकार करता है उसे (authentic) प्राणी कहा जाता है।

व्यक्ति नहीं हो सकता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने मूलरूप को जान कर स्वतंत्र रीति से उन्हीं निर्णयों को अपनाना चाहिये जिससे वह सद्रूपी या आँथेन्टिक व्यक्ति बन जाय।

दर्शन का स्वरूप :—

अब अस्वित्ववादी भी परम्परागत तत्त्वमीमांसा की संभावना को नहीं मानते हैं। वे व्यक्ति के अपने सही रूप को जानने और उसे साकार करने को ही जीवन और दर्शन का एकमात्र उद्देश्य गिनते हैं। परन्तु साधारणतया उन लोगों का मत वैसा तत्वमीमांसा-विरोधी नहीं कहा जा सकता जैसा तर्कनिष्ठ अनुभववादियों का है। इस पुस्तक में दर्शन के उस स्वरूप को मान्यता दी गयी है जिसमें परम्परागत, अस्तित्ववादी तथा अनुभववादी मतों का समन्वय हो जाय। 'परम्परागत मत को ध्यान में रखकर समस्त अनुभूतियों को बुद्धि तथा मूल्यों के आधार पर समीकरण के प्रयास को,' दर्शन माना गया है, अर्थात् दर्शन मानव प्रयास माना गया है जिसके द्वारा हमारी वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, दैनिक, नैतिक इत्यादि सभी प्रक्रियाओं को हम एक सूत्र में बाँधकर उन्हें अपनी पकड़ में ले आयें। फिर यहाँ यह भी माना गया है कि अस्तित्ववादी मत के अनुसार दर्शन को उस प्रकार की उत्प्रेरणात्मक प्रक्रिया मानी जाय जिसके द्वारा आत्मविकास हो। इसलिये कहा गया है कि दर्शन सम्पूर्ण विश्व या उसके प्रति सर्वपटी अनुभूतियों का वह बौद्धिक चित्रण है जिसके द्वारा मानवों के अन्दर समस्त प्राणियों तथा जगत् के प्रति स्थायी अभिवृति ऐसी हो जिससे व्यक्ति के अपने विकास में और समस्त प्राणियों के विकास में कल्याणकारी सहायता मिले। यह मत विशेषतया पूर्वीय है और यहाँ इस पुस्तक में इसे विशेष स्थान दिया गया है। हाँ, अनुभववादियों के इस कथन को भी यहाँ माना गया है कि इस रूप में दर्शन न तो वैज्ञानिक है और न इसके प्रकथन तर्कशास्त्र तथा गणित के समान परिशुद्ध (Precise) हो सकते हैं। परन्तु दर्शन को उपन्यास के समान कल्पना-रचना भी नहीं कहा गया है क्योंकि विश्व-चित्रण में तर्कशास्त्र तथा विज्ञानों को आधार माना गया है। चूंकि अनुभववादी परम्परा में वैज्ञानिक भाषा को आदर्श भाषा मानी गयी है, इसलिये तर्कशास्त्र तथा विज्ञानों को दर्शन का आधार मान लेने पर अनुभववादी पक्ष को भी स्थान देने का प्रयास किया गया है। अन्तर इतना अवश्य है कि अनुभववादी यह नहीं मानते कि दर्शन का उद्देश्य आत्मविकास है और इसलिये वे तर्कशास्त्र तथा विज्ञान-भाषा को दर्शन का मुख्य विषय मानते हैं। परन्तु इस पुस्तक में आत्मविकास उद्देश्य और इसमें विश्वचित्रण को मुख्य विषय

माना गया है । इसलिये यहाँ तर्कशास्त्र तथा विज्ञान को गौण लेकिन आवश्यक विषय माना गया है । इस पुस्तक में कहा गया है कि दर्शन का उद्देश्य व्यक्तियों में सभी वस्तुओं और प्राणियों के प्रति दिव्यदृष्टि उत्पन्न करना है अर्थात् उन में एक ऐसी स्थायी अभिवृत्ति (attitude) हो जिससे उनमें और समस्त मानवों में कल्याणकारी मूल्यों को चरित्रार्थ करने की उत्प्रेरणा हो सके । यह मत पूर्वीय दर्शन के स्वरूप के अनुसार है । यहाँ कहा जाता है कि इसमें परिशुद्ध प्रकथनों की भी आवश्यकता होती है और युक्तियों का भी पूरा स्थान है । पर अनुभववादी प्रशुद्ध प्रकथनों को अनिवार्य समझते और भाषा दर्शन को ही दर्शन की संज्ञा देते हैं परन्तु यहाँ भाषादर्शन को दर्शन का साधनमात्र माना गया है । इसलिये इस मत के अनुसार युक्तियों के आधार पर न तो तत्वमीमांसा को, न ईश्वर इत्यादि के अस्तित्व को निर्विवाद रीति से सिद्ध किया जा सकता है । दर्शन में हम युक्तियों अथवा तर्क-वितर्क को उसी प्रकार काम में लाते हैं जिस प्रकार न्यायाधीश के सामने वकील अपने पक्ष में फैसला करवाने के लिये बहस करते हैं । अभियोग और सफाई के लिये दोनों पक्षों की ओर से घटनाओं का विवरण दिया जाता और उनके आधार पर किसी एक पक्ष में जज फैसला देता है । उसी प्रकार विज्ञानों के निष्कर्षों तथा विधियों के आधार पर युक्तियों की सहायता से हम दार्शनिक रचना करते हैं, चाहे वे भौतिकवादी हों, प्रत्ययवादी हों या तटस्थवादी हों, इत्यादि । जिस प्रकार जज का फैसला कभी भी निर्विवाद तथा अनिवार्य नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार किसी भी दार्शनिक रचना को हम असंदिग्ध और प्रमाणित नहीं कह सकते हैं । परन्तु यहाँ कहा जा रहा है कि बिना दर्शन के मानवों की गति विधि संचालित नहीं हो सकती और सभी को चेतन या अचेतन रीति से दर्शन को अपनाना पड़ता है । दूसरी बात यह कि आत्मविकास और सर्वोदय ऐसे मूल्य हैं जिन्हें हम किसी तर्क से सिद्ध नहीं कर सकते कि इन्हें सभी को स्वीकार करना चाहिये, पर इन्हें हम मानवों के स्वतंत्र निर्णय का परिणाम मानते हैं । इसलिये अन्तिम रीति से दर्शन मानवों की अपनी स्वतंत्र रचना है और यह उनके अन्तिम निर्णय का परिणाम है । इन सारी बातों को ध्यान में रखकर हम दर्शन की व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं :—

विश्व-दर्शन का स्वरूप :—उपर्युक्त बातों के आधार पर दर्शन की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—अनवरत तथा प्रयत्नशील चिन्तन के आधार पर

विश्व की समस्त अनुभूतियों की बौद्धिक व्याख्या तथा उनके मूल्यांकन (evaluation) के प्रयास को दर्शन कहा जा सकता है ।*

I. सर्वप्रथम, दर्शन चिन्तन कहा गया है, न कि ज्ञान या कल्पना। दर्शन को ज्ञान इसलिए नहीं कहा गया है कि 'ज्ञान' शब्द को अब वैज्ञानिक ज्ञान के लिए ही प्रयोग किया जाता है और दर्शन विज्ञान नहीं है । इसका कारण है कि विज्ञान का विशेष उद्देश्य है कि वह अपने क्षेत्र के विषय के सम्बन्ध में हमें सूचना दे जिसे सत्य या असत्य कहा जा सके । इसके लिए वैज्ञानिक कसौटियाँ हैं जिनके द्वारा किसी भी वैज्ञानिक निष्कर्ष की सत्यता जाँची जा सकती है । ठीक इसके विपरीत, दर्शन में वे बातें हैं जिन्हें देखकर हम कह सकते हैं कि दर्शन विज्ञान नहीं है ।

(क) दर्शन में हम समस्त अनुभूतियों अथवा समस्त विषयों के सम्बन्ध में प्रकथन करते हैं । हम न तो समस्त अनुभूतियों को एक साथ लेकर उनकी वैज्ञानिक जाँच कर सकते हैं और न उनको एक-एक करके प्राप्त कर सकते हैं । शायद ही कोई ऐसा विचारक हो सकता है जो वनस्पति शास्त्र, भौतिकीय विज्ञान, रसायन विज्ञान, सौन्दर्य शास्त्र, साहित्य इत्यादि सभी विषयों को एक-एक करके जान ले । चूँकि दर्शन के अन्तर्गत समस्त अनुभूतियाँ आ जाती हैं इसलिए यह विज्ञान नहीं हो सकता है ।

(ख) दूसरी बात है कि दर्शन में हम अपनी अनुभूतियों का मूल्यांकन करते हैं और इसके लिए हमें आदर्श को अपना मापदंड बनाना पड़ता है । परन्तु आदर्शों की वर्णनात्मक व्याख्या नहीं हो सकती है । कोई साहित्यिक भी पूर्णतया इसकी व्याख्या नहीं कर सकता है कि वह क्यों कालिदास की रचना को, न कि शेक्सपियर की रचना को अधिक प्रिय समझता है । उसी प्रकार दार्शनिक भी यह अभ्युगम (assumption) मानता है कि हमारी अनुभूतियाँ बोधगम्य हैं, अर्थात् वे हमारी समझ में आ सकती हैं और परमसत्ता विचार-शून्य तथा मनमानी नहीं है । पर इस अभ्युगम को क्यों सत्य माना जाय या क्यों स्वीकार किया जाय ? शायद इसकी कोई युक्तिपूर्ण व्याख्या नहीं हो सकती है । यहाँ दार्शनिकों को स्वतन्त्रता है कि वे किसी भी मान्यता को अपनायें ।

---

*Philosophy is an unusually resolute and persistent attempt to understand and appraise our experiences of the world as a whole.

इस प्रकार दर्शन में जैसी स्वतन्त्रता है वैसी स्वतन्त्रता विज्ञानों में नहीं। इसलिए दर्शन को विज्ञान नहीं कहा जा सकता है।

अधिकांश दार्शनिक अब इस बात को मानेंगे कि दर्शन को विज्ञान नहीं कहा जा सकता है, चाहे पूर्वोक्त युक्तियाँ इस मत के समर्थन के लिए संतोष-जनक कही जायँ या नहीं। अब मान भी लिया जाय कि दर्शन विज्ञान नहीं है तो भी हम इसे कोरी कल्पना की उपज नहीं मान सकते। प्रायः, कल्पना और विचार दोनों को रचनात्मक प्रक्रियायें समझा जाता है। दोनों में अन्तर यह है कि कल्पना में दबी और दमित (repressed) गाँठो से (complexes), बिना वास्तविकता पर ध्यान दिये हुए अधूरी युक्तियों से, रचना संचालित होती है। अब चूँकि एक व्यक्ति की दबी और दमित गाँठें अन्य व्क्तियों की मानसिक गाँठों और आवश्यकताओं से भिन्न होती हैं, इसलिए काल्पनिक रचनाओं में अधिक छूट और आत्मनिष्ठता का पूरा स्थान आ जाता है। इसके विपरीत विचार-रचना में वास्तविकता, परिशुद्ध युक्तियों तथा ज्ञानात्मक समस्याओं का हाथ रहता है। काल्पनिक रचना को आत्मनिष्ठ और विचार को अतिव्यक्तिक (objective) अथवा सार्वजनिक (public) कहा गया है। सार्वजनिकता और अतिव्यक्तिकता की मात्रा जितनी अधिक रहेगी उतनी ही वह रचना कम काल्पनिक कही जायगी। इसलिए इस बात को स्पष्ट करने के लिए कि दर्शन कोरी काल्पनिक रचना नहीं है, हमें दिखाना पड़ेगा कि इसमें सार्वजनिकता, अतिव्यक्तिकता तथा समस्याओं पर भी ध्यान दिया जाता है। हाँ, दर्शन में कल्पना तथा मानसिक गाँठों और आवश्यकताओं की भी अवहेलना नहीं की जा सकती है। अतः, निम्नलिखित कारणों से दार्शनिक रचना पूर्णतया आत्मनिष्ठ तथा कोरी कल्पना नहीं हो सकती है।

(क) सर्वप्रथम, दार्शनिक समस्त मानव-अनुभूतियों का चिन्तन करता है ताकि वह इनकी गुत्थियों को सुलझा सके। अब चूँकि आधुनिक काल में मानव अनुभूतियाँ विज्ञानों में स्पष्ट तथा निर्विवाद रूप से मौजूद हैं, इसलिए दार्शनिक अपने मसालों को विज्ञान से ही लेता है। चूंकि विज्ञान किसी के मन-तरंग पर निर्भर नहीं रहता है, इसलिये विज्ञानों पर आधारित रहने के कारण दार्शनिक का चिन्तन सार्वजनिक (public) हुआ करता है।

(ख) द्वितीय, यह हो सकता है कि कोई दार्शनिक अपनी रुचि तथा विचारधारा के अनुकूल विज्ञानों की कुछ बातों को ले ले और अन्य महत्त्वपूर्ण बातों को छोड़ दे। शायद दार्शनिक की इस मनमानी को हम पूर्णतया कभी

भी नहीं हटा सकते हैं। परन्तु फिर भी दार्शनिक की स्वतन्त्रता दर्शन के ऐतिहासिक निष्कर्षों से नियन्त्रित हो जाया करती है। दर्शन का इतिहास पुराना है और इसके विकास में प्रमुख मनीषियों का हाथ है। अतः इसके विकास में अनेक मौलिक सिद्धान्तों (fundamental principles) की रचना हो चुकी है। इसलिए यदि आज कोई दार्शनिक चिन्तन करना चाहे तो उसे इन सब सिद्धान्तों पर पूरा ध्यान देना पड़ता है।

(ग) फिर दर्शन के इतिहास में कुछ विचारधाराएँ निर्मूल सिद्ध हो चुकी हैं; कम-से-कम आधुनिक दार्शनिक को इन विचारधाराओं को छोड़ना ही पड़ता है। जिस प्रकार कोई अपने सस्कार को नहीं छोड़ सकता, उसी प्रकार दार्शनिक दर्शन के इतिहास से अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकता है। अतः दार्शनिक को अधिकार अवश्य है कि वह अपनी इच्छानुसार अनुभूतियों को चुने या छोड़े, किसी को कम और किसी को अधिक महत्त्व दे; पर उसकी यह स्वतंत्रता दर्शन के इतिहास से नियन्त्रित, मार्गांकित तथा अनुशासित होती है। तृतीय, दर्शन चिन्तन है और चिन्तन के अपने सर्वव्यापी (universal) मन्तव्य (postulates) और सिद्धान्त हैं। ये ऐसे सिद्धान्त हैं कि प्रत्येक व्यक्ति ध्यानपूर्वक विचारने पर उन्हें स्पष्ट रूप से जान लेता है। चिन्तन के नियम सभी विचारशील व्यक्तियों में पाये जाते हैं और इसलिए किसी भी दार्शनिक को अपने चिन्तन में मनमानी करने का अवसर नहीं मिलता है; क्योंकि उसे इन सब नियमों का पालन करना पड़ता है।

अतः, दार्शनिकों में कितना ही अधिक मतभेद क्यों न हो, दार्शनिक रचना को वैयक्तिक मन-तरंग नहीं समझा जा सकता है।

II. फिर हमलोगों ने दर्शन को 'अनवरत चिन्तनशील प्रयास' कहा है। इसका कारण है कि दर्शन के तर्क और इसके निष्कर्ष कोशी नदी की धाराओं के समान बदलते रहते हैं। दर्शन अतिव्यक्तिक (objective) रहने पर भी मतमतान्तरों का घर है। शायद हम यही कह सकते हैं कि दर्शन-इतिहास के पाठ से हम गलतियों को सुधारना सीख लेते हैं, परन्तु हम किसी भी सिद्धांत तथा स्थापित सत्यता को निश्चित रूप से नहीं अपना सकते हैं। अतः, दर्शन का अध्ययन हमारे अज्ञान को दूर करता है और असाक्षात् रूप से ही ज्ञान-वृद्धि कर सकता है। इसका लाभ अभावात्मक है, न कि भावात्मक

(positive)* । इसका कारण है कि दर्शन अनुभूतियों के प्रति चिन्तन है ; पर मानव-अनुभूतियाँ एक रूप में नहीं पायी जाती हैं । प्राचीन काल में धर्म तथा ईश्वर सम्बन्धी अनुभूतियाँ महत्वपूर्ण थीं, परन्तु अब तो विज्ञान ही की तूती बोलती है । फिर यदि हम अपने देश और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर ध्यान दें तो अब समाज के आदर्श संगठन की ही चर्चा विशेष मालूम देती है । अतः, युगों की अपनी माँगों के अनुसार विचारकों को अनुभूतियाँ विभिन्न मालूम देती हैं और इसलिए दार्शनिक निष्कर्ष भी विभिन्न हुआ करते हैं । जो व्यक्ति दर्शन की इस विशेषता को नहीं समझते हैं, वे प्रायः कहते हैं कि दर्शन समय और बुद्धि का अपव्यय है; क्योंकि वे दर्शन की रचना को केवल हवाई किला मानते हैं । कुछ चतुरभाषी तो ऐसा भी कहते हैं कि दार्शनिक अँधेरे में उस काली टोपी को धर-पकड़ना चाहते हैं, जो वहाँ है ही नहीं । परन्तु दार्शनिक इन तिरस्कारपूर्ण छीटों से खिन्न नहीं होता है । वह जानता है कि उसकी रचना से मानव का रास्ता साफ होता है । मानव के अपने विकास में बल आता है, मानव का बौद्धिक क्षितिज बढ़ता जाता है, मानव-समाज एक यात्री-झुण्ड के समान है । केवल आँख मूँद कर चलने से लाभ नहीं होता है । यात्री-झुंड के नेता को प्रत्येक पग पर टोह लगाना पड़ता है, ताकि वह जाने कि वह कितनी दूर तक पहुँचा है, किस दिशा में जा रहा है, उसकी यात्रा में किस प्रकार की कठिनाइयाँ आ सकती हैं, उसी प्रकार मानव को अपने लक्ष्य की टोह लगानी पड़ती है और इस प्रकार दर्शन अपना महत्व रखता है । चूँकि रात अंधेरी है, रास्ता बीहड़ और दूर है, इसलिए हमें पग-पग फूँक-फूँक कर चलना है । दर्शन की खिल्ली उड़ानेवाले कहते हैं कि मानव आंखें मूँदकर ही चल सकता है और कहीं-न-कहीं, कभी-न-कभी उसे रास्ता मिल जायगा । दार्शनिकों का कहना है कि मानव को रास्ता तय करना अवश्य है, पर सावधानी से टोह ले-लेकर चलने से मानव अनेक संकटों से अपने को बचा सकता है । चूँकि मानव को चलना ही है, चाहे आँख मूंदकर अटकल पच्चू रीति से या सावधानीपूर्वक बुद्धि-विवेक से । पर वह हाथ पर हाथ धरकर या माथा टेक कर बैठा नहीं रह सकता है । इसलिए दार्शनिकों का कहना है कि

*The gain from the study of philosophy is negative rather than positive. It helps us to remove our errors but helps us little in having positive knowledge. According to the Advaita Vedanta by emptying our mind of all empirical thoughts and feelings we can attain to the absolute Chit or consciousness.

प्रत्येक व्यक्ति का कोई-न-कोई दर्शन अवश्य होता है, चाहें वह दर्शन समकालीन ज्ञानों पर आधारित समालोचनात्मक दर्शन हो किंवा अबौद्धिक भित्ति पर आधारित हो परन्तु दार्शनिक चिन्तन मानवों के लिए उतना ही स्वाभाविक है जितना साँस लेना या भोजन करना । इसलिए प्रत्येक व्यक्ति दार्शनिक है, चाहे वह आलोचनात्मक तथा जागरूक रीति से हो या रूढ़िग्रस्त समाज, जाति तथा टुकड़ियों से प्रभावित दर्शन को अपनाकर हो। अब यदि ऐसी बात हो तो दर्शन अनिवार्य है । अतः, चतुरभाषी चाहे कितना ही अधिक उसके इस प्रयास की हँसी क्यों न करें, परन्तु दार्शनिक अपनी समस्या को महत्वपूर्ण समझता है और उसके समाधान में निरत रहता है ।

III. अभी तक हमलोगों ने इसे दिखाने की कोशिश की है कि क्यों दार्शनिक युगों से अनवरत प्रयत्नशील रहता है और क्यों एक युग का दर्शन दूसरे युग, देश और समय में लोगों के हृदय में नहीं चुभता है । प्रत्येक युग में अपनी विशेष समस्या होती है और उस युग के दार्शनिक को नये सिरे से समयानुकूल दर्शन की इमारत खड़ी करनी पड़ती है । हम यह भी जानते हैं कि वर्तमान काल में विज्ञान मानव-अनुभूति का अमूल्य संग्रह है । यही कारण है कि जबसे विज्ञान की नींव जम गयी है तब से दर्शन उससे बहुत प्रभावित हुआ है । कभी दर्शन विज्ञान के चमकते हुए निष्कर्षों से प्रभावित हुआ है, तो कभी वह **वैज्ञानिक-विधि** (method) से ही ओत-प्रोत हुआ है । परन्तु, विज्ञान का प्रभाव दर्शन के लिए हर समय कल्याणकारी नहीं रहा है । इसका कारण है कि विज्ञान सभी प्रकार की अनुभूतियों का अध्ययन नहीं करता है । वे ही अनुभूतियाँ, जिन्हें गाणतिक (Mathematical) साँचों में ढाल सकते हैं, विज्ञानों के अन्तर्गत आती हैं । विज्ञान इस प्रकार आंशिक है, परन्तु दर्शन समस्त अनुभूतियों के पूर्णत्व अथवा समग्रत्व (wholeness) को आश्रय देता है और इसलिए दर्शन का क्षेत्र अति विस्तृत है । इसलिए दर्शन की कसौटी अधिक पूर्ण और व्यापक है । यही कारण है कि दर्शन विज्ञानों का समालोचनात्मक अध्ययन कर सकता है, परन्तु विज्ञानों के निष्कर्ष और विधि से दर्शन के निष्कर्षों की माप नहीं हो सकती है । जब दार्शनिक विज्ञानों की सफलता से चकाचौंध हो जाता है तो प्रायः वह दर्शन को विज्ञान की कसौटी से जाँचने लगता है और ऐसा करने पर उसमें पूर्ण को अंश से मापने का दोष आ जाता है । वर्त्तमान दार्शनिकों में अनेक ऐसे विचारक हैं, जो इस दोष से मुक्त नहीं हैं । इस प्रकार के विचारक प्रायः दर्शन को भी एक प्रकार

का विज्ञान ही समझते हैं। उनके अनुसार यदि दर्शन और विज्ञान में कोई अन्तर है तो केवल विषय-क्षेत्र का। विज्ञान का विषय विश्व के किसी विशेष क्षेत्र में ही सीमित रहता है, जैसे, वनस्पति-विज्ञान केवल वनस्पति का अध्ययन करता है, जीव-शास्त्र (biology) जीवों का अध्ययन करता है, इत्यादि। परन्तु दर्शन का विषय मानव की सभी प्रकार की अनुभूतियाँ हैं। परन्तु विज्ञानों की यदि यह विशेषता हो कि वह आंशिक (partial) हो और दर्शन की यह विशेषता हो कि वह सम्पूर्ण हो, तो दर्शन और विज्ञान में प्राकारिक (kind) अन्तर हो जाता है क्योंकि 'आंशिक' निरीक्षणीय हो सकता और 'सम्पूर्ण विश्व' निरीक्षणीय नहीं हो सकता है। केवल निरीक्षणीयों को ही विज्ञान का विषय माना जा सकता है। और इसलिये सम्पूर्ण विश्व को विषय बनानेवाले दर्शन को विज्ञान नहीं समझा जा सकता है।

अब यदि दर्शन विज्ञान न हो और फिर भी विज्ञानों के निष्कर्षों और विधि से प्रभावित हो तो हम दर्शन के स्वरूप को विज्ञानों के सम्बन्ध में किस प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं? शायद हम कह सकते हैं कि दर्शन विज्ञानों का विज्ञान है। कुछ अंशों में दर्शन का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है; परन्तु इस वाक्य से यह नहीं समझना चाहिये कि दर्शन का अध्ययन कर लेने से कोई व्यक्ति सभी विज्ञानों का भी ज्ञाता हो जाता है। इस वाक्य से केवल हम यही समझ सकते हैं कि सभी विज्ञानों के आधार में कुछ सामान्य (Common) मन्तव्य तथा सिद्धान्त हैं और दर्शन का काम इन्हें अध्ययन करना है। जो मन्तव्य और सिद्धान्त सभी विज्ञानों में सामान्य पाये जाते हैं, वे विज्ञानों का ढाँचा या रूप या आकार (Form) कहलाते हैं और आकार या रूप विज्ञानों की विषय-वस्तु (Content or matter) से भिन्न होता है। अतः, दर्शन का काम है कि विज्ञानों के रूप का पता लगाये और उसके स्वरूप का अध्ययन करे। प्रायः, दर्शन की इस शाखा को तर्कशास्त्र (Logic) तथा भाषा-वस्तु-सम्बन्धी-शास्त्र (Semantics) कहते हैं और वर्त्तमान दर्शन में इसके तार्किक भाववाद (Logical positivism), भाषा-विश्लेषणशास्त्र (Linguistics) इत्यादि प्रमुख अंग हैं। चूँकि दर्शन विज्ञानों के सामान्य रूप का अध्ययन करता है, इसलिये इसे विज्ञानों का विज्ञान कहा जा सकता है। परन्तु विज्ञानों की कथा-वस्तु (Matter) को जानने का भार विज्ञान का है और उसके विषय में दर्शन कुछ नहीं बता सकता है।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि दर्शन विज्ञानों का विज्ञान कहा जा सकता है। परन्तु दर्शन को इस प्रकार समझने में भी कुछ दोष आ जाते हैं

जिनसे पाश्चात्य दार्शनिकों को बचाना कठिन है। इसका कारण है कि विज्ञान पूर्णतया वैचारिक या बौद्धिक (Intellectual)* व्यायाम है और इसमें मानव संवेगों (Emotions) और मानव लक्ष्यों की अवहेलना की जाती है। मान लीजिये कि हमें नक्षत्रों का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करना हो तो हम मानव इच्छाओं, संवेगों और उसके आदर्श का तिरस्कार कर नक्षत्रों का अध्ययन करेंगे। अत:, वर्त्तमान-कालिक विज्ञान को अवैयक्तिक कृत (De-personalised) ज्ञान कहते हैं। इससे समझने के लिये आदि-व्यक्तियों (Primitive people) के ज्ञान से विज्ञान की तुलना की जा सकती है। आदि-व्यक्ति पेड़-पौधों, नदी-नालों इत्यादि में देवी-देवता तथा नर-तुल्य शक्ति समझता है। वह प्रकृति का मानवीकृत (Humanised) तथा वैयक्तीकृत (Personalised) ज्ञान प्राप्त करता है।

विज्ञानों का अवैयक्तीकरण (Depersonalisation) जड़ पदार्थों के समझने के लिये ठीक है। पर चूंकि वैज्ञानिक परम्परा अवैयक्तीकरण पर आधारित है इसलिये या तो इसके अनुसार मानव भी जड़ रूप में समझे जाते हैं या मानव-आदर्शों को महाभ्रम समझकर छोड़ दिया जाता है। परन्तु दर्शन का काम है कि वह मानव-सम्बन्धी अनुभूतियों को उसी प्रकार अपने ध्यान में रखे, जिस प्रकार वह वैज्ञानिक अनुभूतियों पर ध्यान देता है। दर्शन के प्रजातंत्र में सभी प्रकार की अनुभूतियाँ समान महत्त्व नहीं रखती हैं। यह बात दर्शन के लिये विचारणीय है; क्योंकि दर्शन तथा विज्ञान दोनों मानव की लक्ष्यपूर्ण तथा आदर्शपूर्ण प्रतिक्रियाएँ हैं और इसलिये किसी भी दर्शन में मानव-लक्ष्य और उसके आदर्श की अवहेलना नहीं होनी चाहिये।

उस परम्परा के अनुसार, जिसमें विज्ञान के विचारवाद को पूर्णतया अपनाया जाता है, दर्शन को वैचारिक (Intellectual) ज्ञान-राशि समझा जाता है। इस परम्परा के अनुसार दर्शन का ध्येय हमारी समस्त अनुभूतियों

*बुद्धि (Reason) और विचार (Thought या Intellect) के बीच सूक्ष्म भेद है। बुद्धिवाद का अपना विशेष स्वरूप है जिसकी व्याख्या पीछे की जायगी। उसी प्रकार विचार और संकल्प (Will) के बीच के अन्तर को समझने के लिये विचारवाद (Intellectualism) की अपनी व्याख्या है। मध्ययुगी दार्शनिकों में विचार और संकल्प का भेद विशेष महत्त्व रखता है; परन्तु यह भेद आधुनिक तथा समसामयिक दर्शन में भी कम महत्व नहीं रखता है। सभी विचारवादी को बुद्धिवादी (Rationalist) कहा जा सकता है, परन्तु सभी बुद्धिवादी को विचारवादी कहने में कठिनाई हो जाती है।

को समझना या उनकी विचारशील व्याख्या करना है, परन्तु दर्शन की यह परम्परा अधूरी है। हमें अपनी अनुभूतियों को समझना ही नहीं है; बल्कि हमें उनका मूल्यांकन भी करना है। मूल्यांकन करने के लिये हमें किसी कसौटी तथा मापदंड (standard) की आवश्यकता पड़ जाती है। दर्शन में अनुभूतियों का मूल्यांकन करने के लिये हमें आदर्शों (Ideals) को मापदण्ड बनाना पड़ता है। ये परम आदर्श सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् के नाम से विख्यात हैं। उदाहरणार्थ, हमें अपने दर्शन में जानना होता है कि विश्व का निःश्रेयस् (Summum Bonum) क्या है और यदि विश्व का कोई निःश्रेयस् न हो तो क्या कोई मानव का भी निःश्रेयस् हो सकता है। इसी प्रकार का मूल्यांकन 'सत्य' और 'सुन्दर' के आदर्शों के आधार पर भी किया जाता है। अतः, दर्शन केवल मानव की समस्त अनुभतियों की बौद्धिक व्याख्या ही नहीं है; परन्तु इसमें उनका मूल्यांकन भी किया जाता है।

यदि दर्शन का मुख्य उद्देश्य अनुभूतियों का मूल्यांकन करना हो तो दर्शन का असली स्वरूप कलात्मक होगा, न कि वैज्ञानिक। मान लीजिये कि हमें किसी चित्र की सुन्दरता जाँचनी हो तो हम उसकी सुन्दरता किसी तराजू पर तौल नहीं सकते या किसी गज-फुट से नाप नहीं सकते हैं। इसकी सुन्दरता को जानने के लिये हमें अपनी कलात्मक दृष्टि की आवश्यकता पड़ जाती है। उसी प्रकार समस्त अनुभूतियों के मूल्यांकन में दार्शनिक को कलात्मक ढंग से देखना पड़ता है। अतः; दर्शन कला है, परन्तु यह वैचारिक कला या विश्व-कविता है।

बौद्धिक या वैचारिक कला के रूप में दर्शन का महत्त्व :—दर्शन को वैचारिक कविता कहा जाता है और इसलिये इसे साहित्यकों की कविता से भिन्न समझना चाहिये। साहित्यिकों की कविता का सम्बन्ध प्रायः मानव संवेगों (emotion) से रहता है, इसलिये दोनों प्रकार की कविता के बीच के भेद को बताने के लिये कहा जाता है कि साहित्यिक कविता का स्थान हृदय है, परन्तु दर्शन-कविता का स्थान मस्तिष्क है। सुबोध होते हुए भी साहित्यिक और बौद्धिक कविता के बीच के भेद को हम इस रीति से व्यक्त नहीं कर सकते हैं। इसका कारण है कि 'हृदय' और 'मस्तिष्क' वैज्ञानिक दृष्टिकोण से संतोषजनक शब्द नहीं हैं और इसलिये उनके माध्यम से कोई संतोषजनक भेद नहीं बतलाया जा सकता है। परन्तु शायद इसका मौलिक कारण यह है कि साहित्य-दर्शन और विश्व-दर्शन में ही कोई मौलिक भेद नहीं है। अब जो भी

भेद साहित्यिक कविता और वैचारिक कविता के वीच हो, हम कम-से-कम यहाँ वैचारिक कविता के स्वरूप को निम्नलिखित ढंग से वता सकते हैं।

दर्शन-कविता को वैचारिक इसलिये कहा गया है कि इसका उपादान (matter) विज्ञानों से लिया जाता है। फिर बहुत कुछ अंशों में दर्शनविधि वैज्ञानिक परम्परा से प्रभावित रहती है। अस्तु, इसके पारिभाषिक शब्द भी वैज्ञानिक पद्धति के समान परिशुद्ध (Precise) रहा करते हैं। कम-से-कम समसामयिक दर्शन में भाषा-परिमार्जन पर वहुत अधिक जोर दिया जाता है। इसलिये दर्शन को अपने युग की वैज्ञानिक सत्यता के अनुकूल होना चाहिये और आद्यन्त उसमें आत्म-विरोध का अभाव होना चाहिये। इन सब कारणों से हम दर्शन में बौद्धिक तथा वैचारिक आदर्श का पालन करते हैं। परन्तु साथ-ही-साथ इसमें कला का भी हाथ चला आता है। दार्शनिक विज्ञान के सभी निष्कर्षों का एक ही मूल्य नहीं लगता है। उसके लिये कुछ निष्कर्ष अन्य वैज्ञानिक-सत्यता की अपेक्षा अधिक महत्व रखते हैं। जैसे देकार्त के लिये गणितिक स्पष्टता और परिशुद्धता (Clearness and Distinctness) विशेष महत्त्वपूर्ण थीं, और अरस्तू, हेगेल तथा वाइटहेड के लिये जीव (organism) का स्वरूप ही विशेष स्थान रखता है। फिर बर्गसाँ के लिये विकासवाद अपना विशेष महत्त्व रखता है। अव किसी भी वैज्ञानिक निष्कर्ष को महत्त्वपूर्ण समझना, वनाना और उसके आधार पर अपना दर्शन रचना कलात्मक प्रयास है। अतः हम कह सकते हैं कि दर्शन वैचारिक कला है।

यदि दर्शन कला हो तो दर्शन में मत-मतान्तर का रहना उसी प्रकार होगा, जिस प्रकार कला की रचनाओं में देखा जाता है। यदि दस कवि 'कोयल' या 'मेघ' के ऊपर रचना करें तो विषय के एक रहने पर भी दस प्रकार की कविताएँ होंगी। उसी प्रकार अनेक चित्रकारों ने आदर्श सुन्दर नारी का चित्र खींचा है, परन्तु उनके चित्र उतने ही हैं, जितने चित्रकार हैं। अव यदि धर्म, नीति, विश्व इत्यादि के विषय में वैचारिक कला करनी हो तो यहाँ भी विभिन्नता देखने में आयगी। यही कारण है कि दर्शन में यदि उसी प्रकार की समरूपता खोजी जाय, जिस प्रकार की समरूपता (Uniformity) भौतिक विज्ञान (Physics), रसायन शास्त्र (Chemistry) इत्यादि विज्ञानों में पायी जाती है तो यह अनुचित बात होगी। अतः दर्शन की विविधता इसका दोष नहीं है पर इसकी विशेषता है।

यदि हम कला के स्वरूप पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायगा कि कला में किसी एक वस्तुविशेष का निर्माण किया जाता है—जैसे, गोस्वामी तुलसी दास

ने एक ग्रन्थ विशेष की रचना की जिसे हम 'रामायण' कहते हैं या एप्स्टाइन ने नेहरू की मूर्ति बनायी, जो एक वस्तुविशेष है। परन्तु कला-वस्तु का महत्त्व सर्वव्यापी (Universal) होता है। नेहरू की मूर्ति का महत्व मूर्तिकला (Sculpture) के दृष्टिकोण से तभी होगा, जब उस मूर्ति से नेहरू के जीवन और उनके सम्पूर्ण चरित्र पर पूरा प्रकाश पड़ जाय। उसी प्रकार 'रामायण' का महत्व इसी में है कि इससे मानव-धर्म और मानव-चरित्र-चित्रण के शाश्वत् अंगों पर प्रकाश पड़े। अतः कला-वस्तु सर्वदा कोई एक या विशेष वस्तु होगी, परन्तु इसका महत्व और मूल्य सर्वव्यापी होता है*। इसलिये वास्तव में कलाकार अपनी कला में गागर में सागर भर देता है। इसमें विशेष और सामान्य (universal) का बेजोड़ मेल देखने में आता है। यदि दर्शन कला हो तो इसमें भी विशेष और सामान्य के सम्मिश्रण का सजीव उदाहरण मिलेगा।

चूँकि दर्शन मानव की समस्त अनुभूतियों से सम्बन्ध रखता है, इसलिये इसके निष्कर्ष व्यापक होते हैं। परन्तु किसी भी प्रकार के दर्शन को घटना-विशेषों (Particular events) के अनुकूल होना चाहिये। इसलिये दर्शन में विशेष और सामान्य का सम्मिश्रण रहना अनिवार्य है। पर हमें कला के रूप में दर्शन के विशेष और सामान्य के सम्मिश्रण पर प्रकाश डालना चाहिये।

दर्शन में हमें मानव की समस्त अनुभूतियों पर प्रकाश डालना चाहिये। परन्तु कोई भी दार्शनिक एक ही जीवन और समय में गणितज्ञ, साहित्यिक, भौतिकशास्त्रज्ञ, इत्यादि नहीं हो सकता है। परन्तु समस्त अनुभूतियों के विषय दार्शनिक को कम-अधिक जानना पड़ता है। ऐसी दशा में दार्शनिक का अपना कोई विशेष क्षेत्र होता है, जिसकी उसे विशेष जानकारी होती है। प्राय: अपने इस क्षेत्र में उसे कोई सृजनात्मक प्रत्यय या धारणा (Creative notion or concept) मिलती है और इसी सृजनात्मक धारणा के आधार पर दार्शनिक समस्त अनुभूतियों की व्याख्या करता है जैसे, न्यूटन ने सेव को नीचे गिरते देखा या वाट ने भाप से बरतन के ढक्कन को हिलते देखा या डार्विन ने पशु-पालकों में चयनात्मक (Selective) प्रक्रिया देखी, इत्यादि; और इन सृजनात्मक धारणाओं के आधार पर इन वैज्ञानिकों ने अपनी रचनाएँ की हैं। उसी प्रकार दार्शनिक भी किसी एक क्षेत्र की कुछ प्रभावोत्पादक धारणाओं को ले लेता है और उनके आधार पर मानव की

* A work of art is an individual or a particular entity, but its significance is truly universal and so goes much beyond it.

समस्त अनुभूतियों की व्याख्या और मूल्यांकन करता है। प्रायः उस धारणा-विशेष को, जिसके आधार पर अन्य सभी अनुभूतियों की व्यख्या की जाती है, रौढ़िक उपमा (Root metaphor) कहते हैं। अब रौढ़िक उपमा जिसके आधार पर दर्शन की रचना होती है, दार्शनिक की सृजनात्मक प्रक्रिया पर निर्भर करती है और जब वह अपने किसी एक क्षेत्रविशेष में आसानी से रौढ़िक उपमा के आधार पर घटना विशेषों की व्याख्या कर लेता है तो वह इसकी व्याख्या-क्षमता (Explanatory capacity) को अन्य सभी क्षेत्रों में सामान्यीकृत (Generalised) कर देता है, अर्थात् अन्य सभी घटना-विशेषों की व्याख्या इसी उपमा के आधार पर करने लगता है। अतः, किसी भी दर्शन में सृजनात्मक धारणाविशेष का रहना अनिवार्य है और फिर इसे व्यापक रूप देने के लिये सामान्यीकरण भी नितान्त आवश्यक होता है। इसलिये वैचारिक कला के रूप में दर्शन में धारणाविशेष और सामान्यीकरण का अनूठा मेल देखने में आता है और इसलिये दर्शन को वास्तव में कला समझना चाहिये।

परन्तु यदि हम दर्शन को कला मान लें तो इसमें सत्यता-असत्यता का प्रश्न उसी प्रकार नहीं उठता, जिस प्रकार किसी कविता के मूल्यांकन करने में सत्यता-असत्यता का विचार नहीं आता है। हम किसी कविता को अच्छी या असंतोषजनक कहते हैं और उसी प्रकार से हम किसी के दर्शन को अच्छा, प्रभावशील, महत्त्वपूर्ण इत्यादि रीति से मूल्यांकित कर सकते हैं। महत्त्वपूर्ण दर्शन वही होगा, जिसमें उपमा की ऐसी क्षमता हो कि उसके आधार पर अधिक से अधिक क्षेत्रों की घटनाओं पर अधिक से अधिक प्रकाश पड़ जाय। प्रायः, हम देखते हैं कि जिस क्षेत्र से सृजनात्मक धारणा-विशेष को लिया जाता है, उस क्षेत्र पर धारणा-विशेष विशेष प्रकाश डालता है और अन्य क्षेत्र जितने प्राथमिक (Primary) क्षेत्र से उत्तर होते हैं, इस उपमा से उनपर उतना ही कम प्रकाश पड़ता है। यहाँ हमें 'स्पष्ट करना' या 'प्रकाश डालने' की भी व्याख्या कर देनी चाहिये।

जेनरल स्मट्स (Smuts) ने 'Holism and Evolution' नामक पुस्तक में दिखाया है कि अणु तथा जीवाणु से लेकर मानव की बौद्धिक प्रक्रियाओं तक में एक सामान्य तथा व्यापक प्रवृत्ति है, जिसके अनुसार सभी वस्तुओं में पूर्णत्व बनने का प्रयास देखने में आता है। यदि छिपकिली की दुम कट जाय तो अपने अंगों को पूर्ण करने के प्रयास-स्वरूप इसमें पुनः दुम निकल आती है। ड्रिश (Driesch) ने इसके पहले दिखलाया था कि जीवों के

भ्रूण (embryo) में पूर्णत्व की प्रवृत्ति है। यदि भ्रूण-विकास में किसी अंग की क्षति हो जाय तो इसी पूर्ण-प्रवृत्ति (Tendency to wholeness) के कारण उस क्षति की पूर्ति हो जाती हैं। जो बात भ्रूण-विज्ञान (Embryology) में देखी जाती है, उसी पूर्णत्व के सिद्धांत को पीरों (Pieron) ने मस्तिष्क (brain) की कार्यवाही में भी सिद्ध किया है। उन्होंने और तत्पश्चात् लेश्ली (Lashley) ने दिखाया है कि मस्तिष्क के क्षेत्र-सीमन (Localisation) के साथ इसमें समक्रियाक्षमता (equipotentiality) भी है। परन्तु शायद पूर्णत्व अथवा समग्रत्वप्रक्रिया के प्रति गेस्टाल्टवादियों के सिद्धान्त को इस समय विशेष महत्वपूर्ण समझा जायगा। इस मनोविज्ञान सम्प्रदाय ने प्रामाणिक प्रयोगों के आधार पर दिखलाया है कि मानव की दैहिक (Physiological) प्रक्रिया, चेतन-प्रक्रिया तथा व्यक्तित्व-विकास में समग्रत्व (wholeness) का नियम देखने में आता है। फिर युङ्ग (Jung) ने अपने व्यक्तिकरण-प्रक्रिया (process of individuation) में सिद्ध किया है कि प्रत्येक मानव में चेतन और अचेतन के बीच सामंजस्य के आधार पर व्यक्ति का पूर्णत्व प्राप्त होता है। अतः, उपर्युक्त अधिकारी विचारकों के मत से स्पष्ट हो जाता है कि पूर्णत्व-प्रवृत्ति मानव की मौलिक प्रवृत्ति है और दार्शनिकों की प्रक्रिया, जिससे मानव की समस्त अनुभूतियों की व्याख्या की जाती है, इसी मौलिक पूर्णत्व-प्रवृत्ति का बौद्धिक विकास है। अब दार्शनिकों की पूर्णत्व-प्रवृत्ति तभी संतुष्ट समझी जायगी, जब उसकी बौद्धिक खुजलाहट समाप्त हो जाय। अतः, दर्शन के दृष्टिकोण से अनुभूतियों का स्पष्टीकरण (explanation) तभी समझा जायगा जब दार्शनिक समाज की बौद्धिक खुजलाहट समाप्त हो जाय। फिर दार्शनिक मूल्यांकन तभी संतोषजनक समझा जायगा, जब दार्शनिक को समाज के रागों, संवेगों और उनके आदर्शों की संतुष्टि हो जाय।

अतः, दर्शन वैचारिक कला है, जिसमें दार्शनिक को बौद्धिक स्तर पर समाज के रागों, संवेगों, अदर्शों, इत्यादि की संतुष्टि पूर्णत्व-प्रवृत्ति के अनुसार होती है।

दर्शन के इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता :—यदि दर्शन वैचारिक कला हो तो प्रत्येक युग और देश के उपयुक्त इसकी रचना करनी पड़ती है, ताकि इसके आधार पर उस युग और देश के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश पड़ सके और सामान्य रूप से लोगों की प्रक्रियाओं का मार्गीकरण हो सके। इसलिये यदि कोई इस समय के भारत में पुरातन दर्शन से ही काम लेना चाहे,

या पाश्चात्य पंडितों की गवेषणाओं को दर्शन का मुख्य विषय समझ ले, तो उसका दर्शन फीका होगा और वह समसामयिक भारतीयों को प्रेरणा नहीं दे सकेगा। अतः, भारतीयों के लिये भारतीय दार्शनिक ही पर्याप्त दर्शन दे सकते हैं, जो समयानुकूल हो। इसलिये मेरी समझ में न तो वैज्ञानिक भौतिक (Scientific materialism) ही, न शुद्ध शंकरवाद ही और न बौद्ध-दर्शन इस समय के लोगों को पूर्ण ग्रहण हो सकता है। शायद समय के तकाजे के आधार पर गाँधीवाद तथा सर्वोदय-दर्शन भारतीयों के अधिक काम की चीज हो। पर जो भी उपयुक्त समसामयिक दर्शन हो इसे इतिहास से पाठ सीखना होगा।

(क) पहली बात यह है कि मानव की समस्या एकाएक बदल नहीं जाती हैं। समस्या का पक्ष और पट बदलते हैं। इसलिये यह जानने के लिये कि मानव की क्या चिरन्तन समस्याएँ हैं, हमें दर्शन के इतिहास के पन्नों को उलटना पड़ता है। हमें जानना पड़ता है कि समस्याओं की कितनी व्याख्याएँ हो चुकी हैं। कुछ व्याख्याएँ इतनी भ्रमात्मक हैं कि हम इस समय उनकी मदद नहीं ले सकते हैं। परन्तु कुछ ऐसी व्याख्याएँ भी हैं, जिन्हें हम पर्याप्त समझते हैं और उन्हें समयानुकूल बनाने में केवल समसामयिक वेष-भूषा की आवश्यकता है। इस प्रकार की व्याख्या को हम क्लासिक या उच्चकोटिक कहते हैं। प्लेटो, काण्ट, शंकर, गौतम इत्यादि क्लासिक दार्शनिक हैं और उनकी रचनाएँ सभी दार्शनिकों को जाननी चाहिये।

(ख) फिर दर्शन के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है कि विचार की भी गतिदिशा है और हमें जानना पड़ता है कि दार्शनिक धारा किस ज्ञात या अज्ञात दिशा में जा रही है और इसे समझकर अपनी दर्शन-प्रक्रिया को उस गति-दिशा की ओर मोड़ना पड़ता है। शायद देवी-देवता, ईश्वर सम्बन्धी विचार तथा वैयक्तिक साधना दर्शन की भावी मुख्य धाराओं में विशेष स्थान नहीं रखेगी और दार्शनिक को अपने विचार को सजीव बनाने के लिए उन्हें कम स्थान देना पड़ेगा या उनका रूप बदल देना पड़ेगा।

प्रायः लोग गति (action or movement) पर अधिक ध्यान देते हैं और मानव-इतिहास में सिकन्दर महान, नेपोलियन, चँगेज खाँ इत्यादि विजेताओं की गति का विशेष उल्लेख किया करते हैं। परन्तु वास्तव में इतिहास की गति विभिन्न धारणाओं की गति है। सिकन्दर ने देशों को विजित इसलिए किया कि यूनानी सभ्यता का प्रसार किया जाय और नेपोलियन की विजय आकांक्षा में भी यही बात पायी जाती है। अतः, इतिहास की गति

विचारों का इतिहास है और इस दृष्टिकोण से दर्शन का इतिहास विशेष स्थान रखता है, क्योंकि इसमें उन विचारों का जीता-जागता इतिहास है, जो मानव को उद्वेलित करते आये हैं। यही कारण है कि एच० जी० वेल्स ने अशोक को विश्व सम्राटों में अग्रगण्य समझा है, क्योंकि उन्होंने विचार-पराक्रम के आधार पर विश्व-विजय की नींव डाली थी।

(ग) फिर, प्रायः दर्शन के इतिहास के अध्ययन से कभी-कभी नूतन धारणाएँ निकल आती हैं, जो विचारों में क्रान्ति उत्पन्न कर देती हैं। हेगेल की द्वन्द्वात्मक विधि (dialectic method) की धारणा सुकरात की प्रश्नोत्तर-विधि में, प्लेटो की प्रेम विकास की सीढ़ियों में तथा काण्ट के अतिदर्शन* (Transcendental) द्वन्द्व (dialectics) में अस्फुट रूप में पायी जाती है, परन्तु शायद दर्शन के इतिहास में मत-मतान्तर को सुलझाने के लिए ही हेगेल ने द्वन्द्वात्मक विधि को सफल समझा था। उसी प्रकार से समसामयिक (logical positivist) तार्किक प्रत्यक्षवादी ने दर्शन के मत-मतान्तर से ऊबकर तत्व-मीमांसा (metaphysics) के प्रति 'अर्थहीन' प्रयास का सिद्धान्त खोज निकाला है। अतः दार्शनिकों के लिए दर्शन का इतिहास विचारों की अमूल्य खान है, जिससे उसे मूल्यवान् मसाला मिलता है।

(घ) अन्त में दर्शन के इतिहास में सिद्ध होता है कि मानव की ज्ञान-प्राप्ति की क्रिया उसकी रचनात्मक प्रक्रिया पर आधारित रहती है। यह बात अब विज्ञान-विधि के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है कि मानव रचनात्मक ढ़ाँचों (moulds or forms) की स्थापना करता है और जो कुछ भी उसकी ज्ञान-प्रक्रिया के अन्दर आये, वह उसी प्रकार रूपान्तरित हो जाता है, जिस प्रकार खाद्य-पदार्थ पाचन-प्रक्रिया से रूपान्तरित होकर मांस, मज्जा तथा रुधिर हो जाता है। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य रूप से मानव ज्ञान तथा दर्शन को वैचारिक कला समझना ठीक है।

इस पुस्तक में पाश्चात्य आठ प्रमुख दार्शनिकों का संक्षिप्त, पर समीक्षात्मक अध्ययन है और इनमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया गया है।

(अ) सर्वप्रथम, प्रयास किया गया है कि प्रत्येक विचारक की अपनी समस्याएँ समझी जाएँ और फिर देखा जाय कि उसने किस प्रकार से उनका समाधान किया है।

---

*'Transcendental' शब्द दर्शन में कई अर्थों में लाया गया है। परन्तु काण्ट ने इस शब्द को अनूठे अर्थ में व्यवहार किया है और इसका अनुवाद मेरी समझ में 'अति दर्शन' से किया जा सकता है। इसकी पूरी व्याख्या काण्ट के दर्शन के प्रसंग में की जायगी।

(ब) फिर दर्शन के काल-क्रम के साथ दिखाया गया है कि बाद के आने-वाले दार्शनिकों पर पूर्व-दार्शनिकों का किस प्रकार गहरा प्रभाव पड़ा है। इन आठ दार्शनिकों का अध्ययन शृंखलाबद्ध रूप से ही हो सकता है। हम देखेंगे कि बेकन के सुधार-नारा का प्रभाव देकार्त और लौक पर पड़ा है। फिर लौक की गवेषणाओं को वर्कले ने एक पग बढ़ा दिया और ह्यूम ने उन्हें एक दिशा में चरमसीमा तक पहुँचा दिया है। इस प्रकार का क्रमवद्ध सम्बन्ध देकार्त, स्पिनोजा और लाइबनित्स में भी पाया जाता है। अन्त में, हम देखेंगे कि काण्ट में लौक, वर्कले और ह्यूम के अनुवाद (empiricism) तथा देकार्त, स्पिनोजा और लाइबनित्स के बुद्धिवाद (rationalism)का अपूर्व सम्मिश्रण और रूपान्तरण है।

(स) फिर हम देखेंगे कि इन आठ पाश्चात्य दर्शनिकों का प्रभाव समसामयिक पाश्चात्य दर्शन में भी बहुत अधिक है। परन्तु इस पुस्तक में केवल उनका संकेत-मात्र कर दिया जायगा।

(द) अन्त में, हम पायेंगे कि इन आठ दार्शनिकों के अध्ययन से हमारे समसामयिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ सकता है और इसलिए इनका दर्शन अन्तर्राष्ट्रीय तथा सामयिक महत्त्व रखता है।

दर्शन के इतिहास का विभाजन :—प्रायः, पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन में निम्नलिखित विभाजन किये जाते हैं।

(१) **प्राचीन दर्शन** (Ancient Philosophy)

(क) थेल्स से लेकर अरस्तू का यूनानी दर्शन।

(ख) यूनानी-रूमी दर्शन।

(ग) अलेक्जैन्डरिया सम्प्रदाय का नव-प्लेटोवाद।

(२) पाँच से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक का **मध्ययुगी दर्शन** (Mediaeval philosophy)

(३) **आधुनिक दर्शन**

(क) १५ वीं से १७ वीं शताब्दी तक का विचार-स्वातंत्र्य, जिसे पुनर्जागृतिकाल (renaissance) के नाम से पुकारा जाता है।

(ख) लौक से काण्ट तक का प्रदीप्ति या प्रबुद्धकाल (age of enlightenment.)

(ग) अनुकाण्ट से लेकर हेगेल तक का जर्मन दर्शन।

(४) सन् १८६० से लेकर अब तक का समसामयिक या वर्त्तमानकालीन (Contemporary) **दर्शन**।

इस पुस्तक में आधुनिक दर्शन का उल्लेख किया जायगा और यह भी काण्ट तक ही सीमित रहेगा।

आधुनिक दर्शन की विशेषताएँ :—

आधुनिक दर्शन भूतपूर्व दर्शन के निष्कर्ष और विधि का विरोधी है। हम देखेंगे कि बेकन ने पुरानी पद्धति को, जो विशेषतया निगमनात्मक (deductive) थी त्यागने का नारा लगाया; साथ ही आगमन के प्रति विचारकों का ध्यान खींचा है। यही बात देकार्त में पायी जाती है और उन्होंने नये सिरे से दर्शन की नींव डालने की घोषणा की है। फिर लौक ने ज्ञान-मीमांसा के लिये रास्ता साफ किया और काण्ट ने लौक की इस समस्या को पूरा किया है।

मध्ययुगी दर्शन की परम्परा के प्रति आधुनिक दार्शनिकों के विद्रोह को देखकर लोग समझते हैं कि मध्ययुगी दर्शन वास्तव में जर्जर हो चुका था। बात यह ठीक नहीं है। यदि मध्ययुगी दर्शन बिलकुल क्षीण और निर्बल रहता, तो आज नव-टाम्सवाद के प्रति लोगों का इतना ध्यान नहीं जाता। फिर मध्ययुगी दर्शन में इतनी सूक्ष्म बातें छिपी हुई हैं कि हम कह सकते हैं कि मध्य-युगी दार्शनिक अपने समय से आगे थे और इसीलिए उनकी खोजों की पूछ नहीं हुई थी। फिर मध्ययुगी दर्शन में सूक्ष्म विश्लेषण के आधार से बुद्धि को काफी तेज कर दिया गया था, ताकि भविष्य में इससे अच्छा काम लिया जा सके। मध्ययुगी दर्शन की विशेष त्रुटि इसी में थी कि यह धर्म-केन्द्रित था और उस धर्म में इतनी शिथिलता आ गयी थी कि वह लोगों को अनुप्राणित करने में असमर्थ हो गया था। इसलिए जब केप्लर, गैलीलियो, न्यूटन इत्यादि वैज्ञानिकों ने दर्शन के लिए नया मसाला तैयार कर दिया तो दार्शनिकों को मध्य-युगी दर्शन फीका मालूम देने लगा। विज्ञान ने मानव को नया रास्ता दिखाया, उसे नयी आशा दिखायी और उसके मानव-क्षितिज का विस्तार किया। अतः आधुनिक दर्शन विज्ञान-पोषित होने के कारण मध्ययुगी दर्शन के निष्कर्षों और विधि का तिरस्कार करता हुआ प्रतीत होता है।

विज्ञान-पोषित होने के कारण दर्शन में नवीन जागृति और अनुपम प्रगति आने लगी। विज्ञान में व्यक्ति अपनी बुद्धि के आधार पर अनेक प्रयोग कर सकता है और अनेक नये-नये आविष्कार कर सकता है। परन्तु यह बात धर्म के लिये और विशेषकर संगठित धर्म के लिए लागू नहीं हो सकती है। धर्म-पद्धति में रुढ़िवाद का रहना अनिवार्य है। यही कारण है कि आधुनिक दर्शन विज्ञान-पोषित होने के कारण बुद्धि की स्वाधीनता को स्वीकार करता हुआ रूढ़िवाद और सब प्रकार के आप्त (authority) का विरोध करता है।

पाश्चात्य परम्परा में सर्वप्रथम यूनान ही में बुद्धि को जीवन की एकमात्र अधिष्ठात्री बनाकर एक संतोषजनक सभ्यता को कायम किया गया था। इसीसे आधुनिक दर्शन को इसी यूनानी परम्परा की पुनर्जागृति (renaissance) कहा जाता है। अब जिस भी नाम से हम आधुनिक दर्शन को पुकारें, इसमें मानव बुद्धि को, न कि किसी भी प्रकार के आप्त को, स्थान दिया गया है। अतः, आधुनिक दर्शन व्यापक अर्थ में बुद्धिवादी है। इस अर्थ में अनुभववादी भी बुद्धिवादी कहे जा सकते हैं।

चूँकि सर्वप्रथम, बुद्धि नवीन आविष्कार करने में समर्थ होती है, इसलिए बुद्धि पर आश्रित होने के कारण इस युग को आशावादी भी कहा जा सकता है। परन्तु यह आशावाद स्थायी नहीं रह पाया; क्योंकि यदि व्यक्ति अपनी ही बुद्धि पर भरोसा रखे और व्यक्तिगत बुद्धि सत्यता की कसौटी हो तो व्यक्ति जितने प्रकार के होंगे उतने ही प्रकार का दर्शन होगा और तब फिर उनकी सत्यता का कौन निर्णय करेगा ? निरी बुद्धि ही के आधार पर दर्शन की रचना करने पर पहले अनुभववाद (empiricism) और बुद्धिवाद का भेद हुआ। फिर स्वयं अनुभववादियों और बुद्धिवादियों के बीच मत-मतान्तर खड़ा हो गया। लौक के अनुसार भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के पदार्थ हैं, परन्तु उनका स्वरूप नहीं जाना जा सकता है। इसी परम्परा के बर्कले के अनुसार आध्यात्मिक पदार्थ यथार्थ है, परन्तु भौतिक पदार्थ अयथार्थ। अन्त में, अनुभव-वादी ह्यूम के अनुसार किसी भी प्रकार का पदार्थ यथार्थ नहीं है। इसी प्रकार बुद्धिवादी देकार्त का कहना है कि परम पदाथ द्वैत है; स्पिनोजा के अनुसार अद्वैत है और लाइबनित्स के अनुसार विशिष्टाद्वैत है। अब ये जितने मत-मतान्तर हैं, सब बुद्धि पर अवलम्बित हैं और बुद्धि को छोड़कर आधुनिक दर्शन के लिए कोई दूसरी कसौटी नहीं है, जिससे इन सब मतों की सत्यता जाँची जाय। अतः, बुद्धि पर भरोसा रखने पर आधुनिक दर्शन में निराशावाद की परिछाया देखने में आती है। इस निराशावाद से आधुनिक दर्शन यूनानी-रूमी दर्शन के समान पंगु इसलिये नहीं बना कि विज्ञान की निरन्तर प्रगति मानव की आशा को नित्य हरी किये हुए रही। इसलिए निराशावाद का एकमात्र यही परिणाम हुआ कि दार्शनिकों ने अपनी समस्याओं को तत्त्व-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा (epistemology) में बाँट दिया। उन्होंने देखा कि हम 'क्या' जानते हैं यह बहुत अंशों में इसी बात पर निर्भर करता है कि हम किस प्रकार से सही जान सकते हैं। अब क्या हम जानते हैं, यह प्रश्न तत्त्व-मीमांसा (metaphysics or Ontology) के अन्तर्गत आता है।

पर कैसे और क्या हम सही जान सकते हैं, ये प्रश्न ज्ञान-विवेचना के अन्तर्गत आते हैं। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में पहली बार ज्ञान-समीक्षा की बात आधुनिक दर्शन ने उठायी है और इसलिए ज्ञान-समीक्षा आधुनिक दर्शन की भी विशेषता कही जायगी। अब जब बुद्धि-स्वातन्त्र्य ने निराशावाद की नींव डाली तो आधुनिक दार्शनिक इसके झोंके से परास्त नहीं हुआ। उसने आशा को न छोड़कर नये सिरे से सोचना शुरू किया। विज्ञानों में प्रगति जारी रहने के कारण आधुनिक दार्शनिकों को बुद्धि में विश्वास जमा रहा। अतः, यदि मत-मतान्तर हों और उनके बीच किसी प्रकार का निर्णय नहीं किया जा सके तो हमें ज्ञान के स्वरूप की ही विवेचना कर देखना चाहिये कि किस प्रकार से और किन मन्तव्यों पर ज्ञान संभव होता है। अतः, आधुनिक दर्शन में ज्ञान-समीक्षा विशेष रूप में देखने में आती है।

ज्ञान-समीक्षा के आधार पर दार्शनिकों ने इस बात का निर्णय किया कि यदि दर्शन की रचना बुद्धि करे तो यह वैयक्तिक बुद्धि नहीं हो सकती है। काण्ट ने अपनी ज्ञान-मीमांसा में दिखाया है कि सभी ज्ञान में कुछ पूर्वानुभविक (a priori) तथा सर्वव्यापी (universal) अंश हैं, जिनके आधार पर ज्ञान की रचना होती है। और इसलिये वैयक्तिक बुद्धि से ज्ञान की व्याख्या नहीं हो सकती है। फिर अनुकाण्टीय (post-Kantian) धाराओं में दिखाया गया है कि वह बुद्धि, जिससे मानव-ज्ञान की रचना होती है, वही बुद्धि विश्व की भी रचना करती है। इस विचारधारा को अध्यात्म (spiritualism) तथा प्रत्ययवाद (idealism) भी कहा जाता है। अतः, आधुनिक दर्शन प्रगाढ़ अर्थ में बुद्धिवाद कहा जा सकता है और हम पाते हैं कि समसामयिक दर्शन उग्र रूप में इसी बुद्धिवाद का प्रतिवाद करता हुआ दिखायी देता है।

आधुनिक दर्शन के आठ मुख्य दार्शनिकों को प्रायः दो सम्प्रदायों में बाँटा जाता है। एक को अनुभववादी और दूसरे को बुद्धिवादी कहते हैं। शायद बेकन और काण्ट को इस विभाजन में नहीं गिनना चाहिये। बेकन को अनुभववादी कहा जाता है, परन्तु वास्तव में बेकन ने वास्तविक अर्थ में किसी दर्शन की रचना नहीं की है। उन्होंने केवल अपनी लेखनी में भावी दर्शन के होने की घोषणा-मात्र की है। फिर काण्ट ने अनुभववाद और बुद्धिवाद के झगड़े को मिटाने का प्रयास किया है और इसलिये उनके मत को समीक्षावाद (criticism) कहना अधिक उपयुक्त होगा। अतः, छः ही दार्शनिक बच जाते हैं। इनमें तीन बृटिश हैं और तीन यूरोपीय हैं। लौक, बर्कले और ह्यूम

तीनों वृटिश अनुभववादी हैं। और देकार्त, स्पिनोजा तथा लाइबनित्स बुद्धि-वादी हैं। पाश्चात्य दर्शन में अनुभववाद और बुद्धिवाद का झगड़ा पुराना और महत्त्वपूर्ण है, इसलिये इन पारिभाषिक शब्दों की सही व्याख्या कर देनी चाहिये।

साधारणबोधात्मक और तर्कनिष्ठ अथवा गाणतिक ज्ञान (Common-Sense knowledge and Mathematics-Logic)

हमलोगों ने दर्शन को उपमामूलक कहा है और यही बात बुद्धिवाद (rationalism) और अनुभववाद के सिद्धान्तों में भी लागू की जा सकती है। प्रायः, अनुभववादी दैनिक और तथ्यात्मक (factual) वैज्ञानिक ज्ञान को अपने दर्शन का आधार मानते हैं और इसलिये उनके सिद्धान्त के मूल में वैज्ञानिक ज्ञान के प्रत्यय देखने में आते हैं। यह बात विशेषकर समसामयिक अनुभववाद के साथ सत्य है। आधुनिक अनुभववादी ज्ञानमीमांसा की व्याख्या दैनिकज्ञान को ही विशेष ध्यान में रखकर करते हैं। इसके विपरीत बुद्धिवादी गाणतिक ज्ञान को ही अपने सिद्धान्त का मौलिक रूप मानते हैं। अब इन दोनों प्रकार के ज्ञान में विशेष अन्तर है और यही कारण है कि आधुनिक ज्ञान मीमांसा में बुद्धिवाद और अनुभववाद का झगड़ा उठ खड़ा हुआ है। साधारण-बोधात्मक (Common Sense) ज्ञान प्रायः इन्द्रियों पर आधारित होता है। टेबुल-कुर्सी नदी-नाले इत्यादि का ज्ञान हम अपनी इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त करते हैं। साधारण बोधात्मक ज्ञान कामचलाऊ होता है और इसमें कोई अनिवार्यता (necessity) नहीं पायी जाती। जैसे साधारणतया यह कहना ठीक है कि रोटी से प्राण-रक्षा होती है। पर हम यह नहीं कह सकते कि रोटी से अवश्य ही प्राणों की रक्षा होगी। फिर यह कोई सोचता भी नहीं है कि जनसाधारण ज्ञान को असंदिग्ध माना जाय। हमें अनेक प्रकार के भ्रम होते ही रहते हैं। सर्परज्जुभ्रम का उदाहरण सबको मालूम ही है। यह ठीक है कि आगे चलकर अनुभववादियों ने साधारणबोधात्मक ज्ञान को छोड़कर वैज्ञा-निक अथवा तथ्यात्मक ज्ञान को ज्ञानमीमांसा का मूलाधार बनाया है। ऐसे तो साधारण और वैज्ञानिक ज्ञान के बीच विशेष अन्तर नहीं किया जाता है। कहा जाता है कि प्रचलित ज्ञान के संशोधित और परिशुद्ध (Precise) रूप को ही विज्ञान की संज्ञा दी जाती है। परन्तु साधारणबोधात्मक और वैज्ञानिक ज्ञान में समता रहते हुए भी भेद है और इसी भेद के कारण ही आधुनिक और समसामयिक अनुभववाद में भी अन्तर चला आता है। इस बात का उल्लेख बाद में किया जायगा।

प्रचलित अथवा साधारणबोधात्मक ज्ञान के विपरीत गणित के प्रकथन देखने में आते हैं। इन प्रकथनों में अनिवार्यता झलकती हुई दीखती है, जैसे, दो और दो मिलकर अवश्य ही चार होंगे। इसी प्रकार की बात ज्यामिति के प्रमेयों (theorems) में है, जैसे किसी भी त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर अवश्य ही दो समकोण के बराबर होंगे। परन्तु आधुनिक बुद्धिवादियों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि गाणतिक प्रकथनों का सम्बन्ध वास्तविकता से नहीं होता है। यद्यपि सम्पूर्ण संसार में कोई गिनती की जानेवाली वस्तु नहीं भी हो तो भी दो और दो का योग चार वैध*(valid) माना जायगा। फिर हम जानते हैं कि ज्यामिति के अनुसार रेखा वह है जिसमें चौड़ाई न हो और धरातल वह है जिसमें मोटाई न हो। परन्तु बिना चौड़ाई की रेखा और बिना मोटाई का धरातल किसी ने देखा नहीं है। हमें कितनी ही सूक्ष्म रेखा कोई न खींचें, लेकिन कुछ-न-कुछ इसमें चौड़ाई अवश्य होगी। अब ज्यामिति भ्रमपूर्ण नहीं है। ज्यामिति का उद्देश्य यह नहीं है कि यह देखी अथवा निरीक्षित रेखा, धरातल, विन्दु इत्यादि का अध्ययन करें। इसका काम इतना ही है कि परिभाषा के द्वारा दी गई रेखा, धरातल, बिन्दु, त्रिभुज इत्यादि रूपों या आकारों के लक्षणों का अध्ययन करें। वास्तविकता से परे परिभाषित शब्दों का खेल समझने में दर्शन के प्रारम्भिक पाठकों को कुछ आपत्ति हो सकती है। यदि वे किसी भी त्रिभुज के तीनों कोणों को नापें तो वे पायेंगे कि ये तीनकोण मिल-कर कभी-भी ठीक-ठीक १८०° नहीं होते हैं। परन्तु, ज्यामिति का प्रमेय इससे असत्य नहीं हो जाता क्योंकि ज्यामिति का विषय कोई वास्तविक त्रिभुज नहीं है। ज्यामिति में चित्रों की मदद केवल समझने और समझाने के लिए ली जाती है। परन्तु ज्यामिति की युक्तियाँ चित्रों के निरीक्षण पर आधारित नहीं रहती हैं।

अब गाणतिक ज्ञान अथवा प्रकथनों के सम्बन्ध में अनेक बातें की जा सकती हैं, परन्तु यहाँ इतना कहना प्रर्याप्त होगा कि गाणतिक प्रकथन अवैध-वैध, अनिवार्य होता और यह वास्तविकता से परे रहता है। इसके विपरीत तथ्यात्मक

---

* वैध और सत्य (true) में बहुत का अन्तर है। सत्य वह तर्कवाक्य (Proposition) है जिसे वास्तविक घटना या वस्तु के आधार पर जाँचा गया है। परन्तु 'वैध' में हमें इतना ही भर देखना है कि विचारने, बोलने अथवा निष्कर्ष निकालने के विधि-नियमों का पालन हुआ है। अरस्तू के द्वारा वर्णित हेत्वनुमान (Syllogism) यदि सही हो तो इसे वैध और गलत हो तो अवैध कहा जायगा। अतः, वैध युक्तियों में वास्तविकता का प्रसंग ही नहीं उठता है।

प्रकथनों में असत्यता-सत्यता, संभाव्यता (probability) और वास्तविकता देखने में आती है। चूंकि आधुनिक अनुभववादियों ने तथ्यात्मक (factual) प्रकथनों को ही ध्यान में रखा इसलिए उन्होंने तर्कशास्त्र और गणित के प्रकथनों की पूरी व्याख्या नहीं की और बुद्धिवादियों ने तर्कशास्त्र और गणित के प्रकथनों पर अधिक ध्यान दिया, परन्तु उनकी भी व्याख्या अधूरी ही रह गयी है। इन लोगों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि गाणतिक अनिवार्यता इसीलिए है कि गणित में वास्तविकता का प्रश्न ही नहीं उठता है। अब संसार में कोई वस्तु हो या न हो, लाल हो या पीली, परन्तु हर समय में यह युक्तिसंगत होगा कि दो और दो मिलकर चार होंगे। अब यदि वास्तविकता से परे गाणतिक प्रकथनों की भित्ति पर दर्शन की इमारत बुलन्द की जाय तो वह इमारत ठोस नहीं समझी जायगी। यह दार्शनिक इमारत केवल शब्द या प्रत्ययों की इमारत होगी। यही कारण है कि बुद्धिवादी देकार्त का Cogito ergo sum (मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ) स्पिनोजा का द्रव्यनिष्ठ एकवाद(monism) और लाईबनित्स का मोनडवाद (अध्यात्म-अणुवाद) केवल प्रत्ययात्मक किलाबन्दी है और उनके न कहने या स्वीकार न करने पर भी उनके दर्शन को यथार्थता अथवा वास्तविकता से कोसों दूर समझा जायगा। इसका कारण है कि वास्तविक वह है जो इन्द्रियों के द्वारा देश-काल की परिमिति में पाया जाय। इस परिभाषा के अनुसार कोरा प्रत्यय ऐन्द्रिय नहीं है। इसलिए बुद्धिवादी दर्शन इन्द्रियों की अवहेलना कर केवल विचारों या प्रत्ययों के उधेड़ बुन में ही खो जाता है। अतः, कहा गया है कि बुद्धिवादी अपने ही रचे मकड़ी के जाल में झूलता झूमता रहता है।

परन्तु यदि वास्तविकता का तथा तथ्यात्मक ज्ञान केवल संभावित ही हो सकता है तो इसमें अनिवार्यता की खोज भी भ्रमात्मक है और फिर अनुभव के आधार पर अनिवार्यता प्राप्त करना भी भ्रमपूर्ण ही कहा जायगा। इसलिये ह्यूम का संदेहवाद (Scepticism) या अनुभववादी लौक के अनुसार ईश्वर, आत्मा या नीति के सम्बन्ध में अनिवार्य ज्ञान की संभावना अयुक्तिसंगत है।

अनिवार्यता की व्याख्या :—बुद्धिवाद और अनुभववाद को मिलाकर संतोषप्रद वाद बनाने की कोशिश आधुनिक दर्शन में कान्ट ने की और समसामयिक धारा में अनेक विचारकों ने की है। कान्ट के दर्शन को समीक्षावाद (Criticism) और समसामयिक सिद्धान्त को तर्कनिष्ठ अनुभववाद (Logical Empiricism) कहा जाता है। समीक्षा में बहुत-कुछ उल्लेखनीय विशेषतायें हैं और मानना पड़ेगा कि बिना इस समीक्षावाद के समसाम-

प्रचलित अथवा साधारणबोधात्मक ज्ञान के विपरीत गणित के प्रकथन देखने में आते हैं। इन प्रकथनों में अनिवार्यता झलकती हुई दीखती है, जैसे, दो और दो मिलकर अवश्य ही चार होंगे। इसी प्रकार की बात ज्यामिति के प्रमेयों (theorems) में है, जैसे किसी भी त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर अवश्य ही दो समकोण के बराबर होंगे। परन्तु आधुनिक बुद्धिवादियों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि गाणतिक प्रकथनों का सम्बन्ध वास्तविकता से नहीं होता है। यद्यपि सम्पूर्ण संसार में कोई गिनती की जानेवाली वस्तु नहीं भी हो तो भी दो और दो का योग चार वैध* (valid) माना जायगा। फिर हम जानते हैं कि ज्यामिति के अनुसार रेखा वह है जिसमें चौड़ाई न हो और धरातल वह है जिसमें मोटाई न हो। परन्तु बिना चौड़ाई की रेखा और बिना मोटाई का धरातल किसी ने देखा नहीं है। हमें कितनी ही सूक्ष्म रेखा कोई न खींचें, लेकिन कुछ-न-कुछ इसमें चौड़ाई अवश्य होगी। अब ज्यामिति भ्रमपूर्ण नहीं है। ज्यामिति का उद्देश्य यह नहीं है कि यह देखी अथवा निरीक्षित रेखा. धरातल, विन्दु इत्यादि का अध्ययन करें। इसका काम इतना ही है कि परिभाषा के द्वारा दी गई रेखा, धरातल, बिन्दु, त्रिभुज इत्यादि रूपों या आकारों के लक्षणों का अध्ययन करें। वास्तविकता से परे परिभाषित शब्दों का खेल समझने में दर्शन के प्रारम्भिक पाठकों को कुछ आपत्ति हो सकती है। यदि वे किसी भी त्रिभुज के तीनों कोणों को नापें तो वे पायेंगे कि ये तीनकोण मिलकर कभी-भी ठीक-ठीक १८०° नहीं होते हैं। परन्तु, ज्यामिति का प्रमेय इससे असत्य नहीं हो जाता क्योंकि ज्यामिति का विषय कोई वास्तविक त्रिभुज नहीं है। ज्यामिति में चित्रों की मदद केवल समझने और समझाने के लिए ली जाती है। परन्तु ज्यामिति की युक्तियाँ चित्रों के निरीक्षण पर आधारित नहीं रहती हैं।

अब गाणतिक ज्ञान अथवा प्रकथनों के सम्बन्ध में अनेक बातें की जा सकती हैं, परन्तु यहाँ इतना कहना प्रर्याप्त होगा कि गाणतिक प्रकथन अवैध-वैध, अनिवार्य होता और यह वास्तविकता से परे रहता है। इसके विपरीत तथ्यात्मक

* वैध और सत्य (true) में बहुत का अन्तर है। सत्य वह तर्कवाक्य (Proposition) है जिसे वास्तविक घटना या वस्तु के आधार पर जाँचा गया है। परन्तु 'वैध' में हमें इतना ही भर देखना है कि विचारने, बोलने अथवा निष्कर्ष निकालने के विधि-नियमों का पालन हुआ है। अरस्तू के द्वारा वर्णित हेत्वनुमान (Syllogism) यदि सही हो तो इसे वैध और गलत हो तो अवैध कहा जायगा। अतः, वैध युक्तियों में वास्तविकता का प्रसंग ही नहीं उठता है।

प्रकथनों में असत्यता-सत्यता, संभाव्यता (probability) और वास्तविकता देखने में आती है। चूंकि आधुनिक अनुभववादियों ने तथ्यात्मक (factual) प्रकथनों को ही ध्यान में रखा इसलिए उन्होंने तर्कशास्त्र और गणित के प्रकथनों की पूरी व्याख्या नहीं की और बुद्धिवादियों ने तर्कशास्त्र और गणित के प्रकथनों पर अधिक ध्यान दिया, परन्तु उनकी भी व्याख्या अधूरी ही रह गयी है। इन लोगों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि गाणतिक अनिवार्यता इसीलिए है कि गणित में वास्तविकता का प्रश्न ही नहीं उठता है। अब संसार में कोई वस्तु हो या न हो, लाल हो या पीली, परन्तु हर समय में यह युक्तिसंगत होगा कि दो और दो मिलकर चार होंगे। अब यदि वास्तविकता से परे गाणतिक प्रकथनों की भित्ति पर दर्शन की इमारत बुलन्द की जाय तो वह इमारत ठोस नहीं समझी जायगी। यह दार्शनिक इमारत केवल शब्द या प्रत्ययों की इमारत होगी। यही कारण है कि बुद्धिवादी देकार्त का Cogito ergo sum (मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ) स्पिनोजा का द्रव्यनिष्ठ एकवाद(monism) और लाईबनित्स का मोनडवाद (अध्यात्म-अणुवाद) केवल प्रत्ययात्मक किलाबन्दी है और उनके न कहने या स्वीकार न करने पर भी उनके दर्शन को यथार्थता अथवा वास्तविकता से कोसों दूर समझा जायगा। इसका कारण है कि वास्तविक वह है जो इन्द्रियों के द्वारा देश-काल की परिमिति में पाया जाय। इस परिभाषा के अनुसार कोरा प्रत्यय ऐन्द्रिय नहीं है। इसलिए बुद्धिवादी दर्शन इन्द्रियों की अवहेलना कर केवल विचारों या प्रत्ययों के उधेड़ बुन में ही खो जाता है। अतः, कहा गया है कि बुद्धिवादी अपने ही रचे मकड़ी के जाल में झूलता झूमता रहता है।

परन्तु यदि वास्तविकता का तथा तथ्यात्मक ज्ञान केवल संभावित ही हो सकता है तो इसमें अनिवार्यता की खोज भी भ्रमात्मक है और फिर अनुभव के आधार पर अनिवार्यता प्राप्त करना भी भ्रमपूर्ण ही कहा जायगा। इसलिये ह्यूम का संदेहवाद (Scepticism) या अनुभववादी लौक के अनुसार ईश्वर, आत्मा या नीति के सम्बन्ध में अनिवार्य ज्ञान की संभावना अयुक्तिसंगत है।

अनिवार्यता की व्याख्या :—बुद्धिवाद और अनुभववाद को मिलाकर संतोषप्रद वाद बनाने की कोशिश आधुनिक दर्शन में कान्ट ने की और समसामयिक धारा में अनेक विचारकों ने की है। कान्ट के दर्शन को समीक्षावाद (Criticism) और समसामयिक सिद्धान्त को तर्कनिष्ठ अनुभववाद (Logical Empiricism) कहा जाता है। समीक्षा में बहुत-कुछ उल्लेखनीय विशेषतायें हैं और मानना पड़ेगा कि बिना इस समीक्षावाद के समसाम-

यिक तर्कनिष्ठ अनुभववाद संभव नहीं होता, परन्तु कान्ट के दर्शन में एक भ्रमात्मक रहस्यवाद की आधारभूमि है जिसके कारण समीक्षावाद की देन अब उतनी बड़ी नहीं समझी जायगी जितनी ४० वर्ष पूर्व समझी जाती थी। इसका मुख्य कारण है कि बुद्धिवादी इस बात को सही नहीं समझ पाये कि गाणतिक अनिवार्यता किस प्रकार प्राप्त की जाती है। देकार्त बहुत बड़े गणितज्ञ थे। परन्तु उनका गणित-दर्शन रहस्यवादी है। उनके अनुसार अनिवार्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये कोई विशेष तर्कना शक्ति या तर्कशक्ति (faculty) है और इससे जन्मजात प्रत्यय (innate ideas) प्राप्त किये जाते हैं। अब सार्वजनिक जाँच न तो प्रज्ञात्मक मनःशक्ति की की जा सकती है और न जन्मजात प्रत्ययों की और इसलिये इनके सम्बन्ध में केवल मत-मतान्तर ही हो सकता है।

इसके विपरीत समसामयिक तर्कनिष्ठ अनुभववाद के अनुसार किसी भी प्रकथनों की अनिवार्यता शब्दों की परिभाषाओं को संगतरीति से काम में लाने पर प्राप्त की जाती है। यदि हम 'बंध्या' का अर्थ समझते हों तो राम को वंध्यामाता का पुत्र कहना अवश्य ही अवैध होगा। उसी प्रकार यह अनिवार्य रीति से सत्य है 'लाल घोड़े में विस्तार है' या 'बरसाती दिन आर्द्र होते हैं'। किस भी शब्द की परिभाषा रुढ़ि या परिपाटी पर निर्भर करती है। इसलिये कहा जा सकता है कि **किसी भी प्रकथन में व्यवहृत पदों को उनकी रुढ़ (Conventional) परिभाषाओं के अनुसार संगत व्यवहार से अनिवार्यता प्राप्त की जाती है।** यदि हम 'बरसाती' और 'आर्द्र' की परिभाषा जानते हों और यह भी जानते हों कि किस प्रकार इन दोनों पदों को एक साथ मिलाकर किसी प्रकथन की रचना कर सकते हैं, तो हमें मानना पड़ेगा कि हम कह सकते हैं कि 'बरसाती दिन अवश्य ही आर्द्र होंगे।'

अब यदि हम तर्कनिष्ठ अनुभववाद और आधुनिक अनुभववाद के अन्तर को समझाने केलिए कह सकते हैं कि चूंकि उनकी प्रारम्भिक उपमायें (अर्थात् वे उपमायें जिनके आधार पर उनकी ज्ञानमीमांसा प्रारम्भ होती है) विभिन्न हैं, इसलिये उनकी ज्ञानमीमांसा भी भिन्न हो जाती है। तर्कनिष्ठ अनुभववादी ने साधारण बोधात्मक ज्ञान को नहीं, बल्कि वैज्ञानिक ज्ञान को अपनी उपमा माना है और रसायनशास्त्र या भौतिकपदार्थ विज्ञान में निरीक्षण और गणित-तर्कशास्त्र का अविभाज्य सम्मिश्रण होता है। इसलिये गाणतिक और तथ्यात्मक प्रकथनों में से किसी एक को लेकर नहीं, वरन् दोनों को एक साथ लेकर उन्हें ज्ञानमीमांसा बनाना पड़ता है। यही कारण है कि गणित और तर्कशास्त्र के

प्रकथनों की व्याख्या उन्होंने रुढ़ि या परिपाटी (Convention), न कि रहस्यपूर्ण जन्मजात प्रत्ययों, के आधार पर की है। रुढ़ि अनुभवजन्य मानव-व्यवहार है और इसकी मान्यता वहीं तक होगी जहाँ तक इससे संतोषजनक उपयोगिता प्राप्त हो सकती है। चूंकि रुढ़ि अनुभव पर आश्रित है और परिवर्तनशील है। इसलिये वैज्ञानिक ज्ञान को आधार मान लेने से तर्कनिष्ठ अनुभववाद का क्षेत्र बढ़ जाता और इसमें संगति के साथ ठोसपन भी चला आता है।

यह ठीक है कि तर्कनिष्ठ अनुभववाद में बहुत बल है। परन्तु आधुनिक दर्शन में अनुभववाद और बुद्धिवाद इस रूप में नहीं समझे गये हैं, जिस रूप में वे आधुनिक दर्शन में देखने में आते हैं, हमें उसी रूप में उन्हें समझना होगा। इसलिये अब हम उनकी व्याख्या उसी रूप में करेंगे।

बुद्धिवाद
(Rationalism)

'बुद्धिवाद' को व्यापक और उचित नामक दो अर्थों में काम में लाया जाता है। व्यापक अर्थ में अब यह शब्द काम में नहीं लाया जाता है क्योंकि इस अर्थ में बुद्धिवाद वह दर्शन है जिसमें आप्त (authority) के बदले तर्क बुद्धि ही विचार की अन्तिम कसौटी है। प्रायः, आप्त या आप्त वचन शास्त्रों में या शास्त्रियों के कथनों में पाया जाता है। व्यापक अर्थ में इस प्रकार बुद्धिवाद वह दर्शन है जिनमें शास्त्रों, पवित्र ग्रन्थों, या शास्त्रियों के कथनों को प्रामाणिक न मानकर स्वतंत्र तर्कबुद्धि (reason) को ही दार्शनिक ज्ञान की कसौटी माना जाता है। प्रायः, मध्ययुग में बैबल, बैबल के टीकाकार तथा अरस्तू के ग्रन्थ इत्यादि को दार्शनिक ज्ञान का आधार माना जाता था। परन्तु इसके विपरीत आधुनिक दार्शनिकों ने एकमात्र तर्कबुद्धि या तर्कना को ही दर्शन का आधार माना है। इसलिये इस व्यापक अर्थ में आधुनिक दार्शनिकों को बुद्धिवादी कहा जाता है। परन्तु अब चूंकि पाश्चात्य दार्शनिक बैबल, वेद, शास्त्र या शास्त्रियों के मतों को दर्शन की कसौटी नहीं मानते और न कोई अब इन्हें मापदण्ड मानने की आवश्यकता ही समझता है, इसलिये बुद्धिवाद को आप्तवचन-विरोध के अर्थ में कोई स्वतंत्रवाद नहीं गिना जाता है। इसलिये 'बुद्धिवाद' को इसके प्रचलित विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है।

फिर बुद्धिवाद को बौद्धिकता या वैचारिकता से भी अलग कर देना चाहिये। प्रायः, मनस् को ज्ञानात्मक (Cognitive), रागात्मक (affective) तथा संकल्पात्मक (conative) अधिकरणों (faculties) या

शक्तियों में बाँट दिया जाता है। मनस् के इस विभाजन के प्रसंग में यदि कहा जाय कि दर्शन में केवल ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं का स्थान है, तो इस मत को भी प्रायः बुद्धिवाद कहा जाता है। परन्तु सही शब्द होगा बौद्धिकता या विचारवाद (intellectualism), न कि बुद्धिवाद। अतः, इस अर्थ में भी आधुनिक दर्शन में बुद्धिवाद को नहीं लेना चाहिये। बुद्धिवाद की सही व्याख्या निम्नलिखित रीति से की जा सकती है :—

उचित अर्थ में बुद्धिवाद के अनुसार बुद्धि ही एकमात्र तर्कशक्ति है जिसके द्वारा सर्वव्यापी (universal) तथा असंदिग्ध (certain) या अनिवार्य (necessary) ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार का ज्ञान आत्मजात (innate) प्रत्ययों (ideas) पर आधारित रहता है। उदाहरणार्थ हम कहते हैं कि वे वस्तुएँ, जो किसी एक ही वस्तु के बराबर हों, तो वे आपस में भी बराबर होंगी। जैसे, A और B में से यदि प्रत्येक C के बराबर हो तो A और B भी एक दूसरे के बराबर होंगे। पर क्या कोई भी स्वयंसिद्ध (axiom) अनुभव के द्वारा प्राप्त अथवा प्रमाणित किया जा सकता है? यदि यह स्वयंसिद्ध वाक्य मानव अनुभव पर आधारित होता तो सार्वभौम या सर्वव्यापी नहीं हो सकता; क्योंकि इसके अन्तर्गत असंख्य उदाहरण आते हैं और असंख्य उदाहरणों को किस प्रकार से अनुभव के द्वारा जाँचा जा सकता है? फिर हम यही कह सकते हैं कि अमुक घटना इस प्रकार घटती है, जैसे, सूर्य पूरब में उगता है; पर हम यह नहीं कह सकते हैं कि सूर्य अवश्य ही पूरब में उगेगा। अतः, अनुभव के आधार पर सर्वव्यापी तथा अनिवार्य ज्ञान की स्थापना नहीं हो सकती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि बुद्धिवाद में अनुभव का कोई स्थान नहीं है। उसके अनुसार अनुभव से हमारे अन्दर ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे हम आत्मजात प्रत्ययों को अपने में जान लें। जैसे, बच्चे की प्रतिभा आत्मजात है; पर जब तक उपयुक्त परिस्थिति उसे नहीं मिले, उसकी प्रतिभा न तो निखरेगी और न किसी को इसका ज्ञान तक भी होगा। लेकिन अच्छा स्कूल हो, अनुकूल घर, साथी और अन्य व्यवस्थाएँ हों तो बच्चे की आत्मजात प्रतिभा भी निखरेगी। इसी प्रकार बुद्धिवादियों का कहना है कि आत्मजात प्रत्यय सभी व्यक्तियों में पाया जाता है। जब अनुभव के द्वारा व्यक्ति उपयुक्त उधेड़बुन में पड़ जाता है और जब वह चिन्तन करने लगता है तो उसे उस समय ये आत्मजात प्रत्यय स्पष्ट होने लगते हैं। परन्तु बुद्धिवादी का कहना है कि आत्मजात प्रत्ययों के आधार पर जो सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान प्राप्त होता है, उसे अनुभव के द्वारा न तो प्राप्त किया

जाता है और न प्रमाणित ही। अनुभव के द्वारा व्यक्तियों को इनसे केवल अवगत होने का अवसर भर प्राप्त होता है और अनुभव के द्वारा न तो सार्व-भौम तथा अनिवार्य ज्ञान की सामग्री (Material) मिलती और न उनसे इस प्रकार के ज्ञान की कसौटी ही प्राप्त की जा सकती है* ।

आधुनिक दर्शन में बुद्धिवाद के ये अंग विशेष स्थान रखते हैं—

(क) ज्ञान-प्राप्ति में मन निष्क्रिय नहीं, परन्तु सक्रिय (active) रहता है। इसलिए ज्ञान में बाहर से कुछ नहीं मिलता है, परन्तु मन स्वयं अपनी रचनात्मक प्रक्रिया से ज्ञान की रचना करता है। यह मत बड़ी स्पष्टता तथा उग्रता के साथ लाइबनित्स के दर्शन में पाया जाता है।

(ख) मानव मन में कुछ आत्मजात प्रत्यय हैं, जिनकी पहचान यही है कि वे स्पष्ट (clear) और परिस्पष्ट (distinct) होते है। प्रायः ऐसे स्पष्ट तथा परिस्पष्ट आत्मजात प्रत्यय गणितशास्त्र में पाये जाते हैं। इस लिए ज्ञान का आदर्श गणितशास्त्र में पाया जाता है। बुद्धिवाद का यह लक्षण देकार्त स्पिनोजा तथा काण्ट में पाया जाता है।

(ग) फिर बुद्धिवाद के अनुसार अनुभव से सर्वव्यापी तथा अनिवार्य ज्ञान की स्थापना नहीं होती। यही नहीं, अनुभव की सम्भावना भी इन्हीं आत्मजात प्रत्ययों के आधार पर होती है। इसलिए बुद्धिवादियों के अनुसार आत्मजात प्रत्ययों की व्याख्या अनुभव के आधार पर न होकर, स्वयं अनुभव की ही व्याख्या इन प्रत्ययों के आधार पर की जा सकती है।

आगे चलकर कान्ट के दर्शन में 'आत्मजात' शब्द की जगह पर 'पूर्वानु भविक' पदको काम लाया गया है और यह ठीक है कि ' पूर्वानुभविक' (a priori) की व्याख्या आत्मजात की भावना से भिन्न हैं तो भी बुद्धिवाद के प्रसंग में आत्मजात और पूर्वानुभविक को समकक्ष समझना चाहिए। इसलिए कान्ट को भी बुद्धिवादी परम्परा में घसीटा जा सकता है। अब कान्ट के अनु-सार चूंकि पूर्वानुभविक प्रत्यय और साँचे अनुभव से पूर्व हैं, इसलिए उनसे

---

* Experience does not constitute knowledge but serves only an occasion for the exercise of reason as the faculty of innate ideas.

इन सब बातों की व्याख्या देकार्त और कान्ट के दर्शन में विशेष रूप से की जायगी। इनका तो यह भी कहना है कि

Instead of 'experience' validating innate ideas, it is the innate or ideas which explain the possibility of experience.

अनुभव की व्याख्या होगी, न कि अनुभव से पूर्वानुभविक प्रत्ययों की व्याख्या हो सकती है।

(घ) बुद्धिवाद की सबसे बड़ी कठिनाई ज्ञान-कसौटी के सम्बन्ध में देखी जाती है। किसी भी तथ्यात्मक विज्ञान में सत्यता-असत्यता की जाँच यथार्थ घटनाओं के आधार पर की जाती है और यथार्थ घटनाओं को इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त किया जाता है। चूंकि सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान में अनुभव की कोई रचनात्मक देन नहीं होती इसलिए बुद्धिवादी ज्ञान-व्याख्या में यथार्थ घटनाओं की चर्चा ही नहीं की जाती। हमलोगों ने पहले कहा है कि बुद्धिवादी ज्ञानमीमांसा में गाणतिक प्रकथनों को ही अपनी मूल उपमा मानते हैं और चूंकि गाणतिक प्रकथन वास्तविकता से परे होते हैं इसलिए बुद्धिवादी ज्ञान की कसौटी यथार्थ वस्तुयें नहीं कही जा सकती है। प्रायः, अनुभववादी कहते हैं कि सत्य प्रकथन वे हैं जो यथार्थ वस्तुओं के अनुरूप (Corresponding) हों। अब चूंकि बुद्धिवादी ज्ञान का आदर्श रूप गाणितक प्रकथन हैं जिनमें वास्तविक घटनाओं का निर्वाह नहीं किया जाता है, इसलिए अनुरूपता-सिद्धान्त को न मानकर आत्मसंगति (harmony or self-consistency) की ही कसौटी को बुद्धिवादी अपनाते हैं। इसे हम तर्कशास्त्र और गणित में देख सकते हैं। इसलिए बुद्धिवाद के अनुसार वास्तव में सत्यता का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ केवल वैध-अवैध (Valid-invalid) का ही प्रश्न उठ सकता है। इसलिए बुद्धिवादियों के अनुसार सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान वह है जिसमें प्रत्ययों की व्याघातरहित आत्मसंगत, सर्वग्राही व्यवस्था तथा सम्बद्धता (System) हो। यह बात उग्र रूप में स्पिनोजा और लाइबनित्स के दर्शन में पायी जाती है। आगे चलकर बुद्धिवाद की परिणति प्रत्ययवाद (idealism) में पाई जाती है और इस रूप में हेगेल, ब्रैडले, बोसन्केट इत्यादि के दर्शन में प्रत्ययों के व्याघातरहित आपसी मेल या संगति को ही सत्यता की कसौटी समझी गयी है।

अनुभववाद

(Empiricism)

अनुभववाद के अनुसार ज्ञान मानव अनुभूति पर ही निर्भर होता है। इस शब्द 'अनुभूति' का एक ही अर्थ नहीं होता है। वास्तव में कोई दार्शनिक ऐसा नहीं कह सकता है कि उसके ज्ञान का विषय ऐसा है, जिसका किसी को अनुभव नहीं हो। अतः सभी दार्शनिकों को अनुभव पर ही अपने ज्ञान की रचना करनी

पड़ती है। प्रश्न सिर्फ यह उठता है कि किस प्रकार की अनुभूति पर ज्ञान की रचना होती है ? जिसे हम अनुभववाद कहते हैं, उसके अनुसार ऐन्द्रिय ज्ञान ही मौलिक ज्ञान है।

अति सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि अनुभववाद वह दार्शनिकवाद है जिसके अनुसार सभी भावनायें (ideas) अनुभव (experience) से निगमित अथवा व्युत्पन्न (derived) होती हैं*। इसके तीन पद 'भावनायें', 'अनुभव' तथा 'निगमित (deduced) अथवा 'व्युत्पन्न' विवादास्पद हैं और बिना इन पर प्रकाश डाले अनुभववाद की व्याख्या एकदम अधूरी होगी। लेकिन यहाँ पर केवल इनसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओं का ही उल्लेख-मात्र कर दिया जायगा।

'भावना' शब्द को स्पष्ट करने के लिए प्रत्यक्ष, प्रत्यय (concept), पद, निर्णय वाक्य (Judgement), तर्कवाक्य (proposition), प्रकथन (statement), वाक्य (sentence), मूलवाक्य (basic proposition), अधिकृत कथन (protocol statement), इत्यादि विषयों का उल्लेख किया गया है। उसी प्रकार यह कहना कि भावना को अनुभव से व्युत्पन्न होना चाहिए निश्चित नहीं कहा जायगा। 'व्युत्पन्न' को स्पष्ट करने के लिए प्रमाणीकरण, सत्यापन इत्यादि सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है। फिर 'अनुभव' को स्पष्ट करने के लिए ऐन्द्रिय प्रदत्तों (sense data) की व्याख्या की गयी है। परन्तु यहाँ पर एक मौलिक प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या हम सभी प्रकथनों को ऐन्द्रिय अनुभव के द्वारा प्राप्त और सत्यापित कर सकते हैं ? इसके सम्बन्ध में दो प्रकार के अनुभववाद कहे जा सकते हैं, एक आकृत्यन्तरवाद (Reductionism) और दूसरा कठोर अनुभववाद।

आकृत्यन्तरवाद (Reductionism) :—आकृत्यन्तरवाद की दो मुख्य मान्यतायें हैं, अर्थात्

(१) सभी अर्थपूर्ण ज्ञानात्मक वाक्यों के दो ही वर्ग हो सकते हैं, (क) विश्लेषक (analytic) और (ख) संश्लेषक (synthetic.)

(२) सभी संश्लेषक प्रकथनों की अर्थपूर्णता अन्तिम रूप से सरल ऐन्द्रिय प्रदत्तों अथवा भावनाओं (ideas) के द्वारा ही निर्धारित की जा सकती हैं।

---

*The most general formulation of empiricism is : 'all ideas have been derived from experience.'

आकृत्यन्तरवाद की स्पष्ट मान्यता ह्यूम ने ही व्यक्त की थी जिनके अनुसार गणित के विश्लेषक और तथ्यात्मक विज्ञानों के संश्लेषक प्रकथन ही अर्थपूर्ण हो सकते हैं। अन्यथा सभी प्रकथन अर्थहीन कहे जा सकते हैं। उनकी उक्ति इस प्रसंग में इस प्रकार है।

"यदि हम अपने हाथों में किसी पुस्तक को लें (तब)—हम पूछें, क्या इसमें परिमाण या संख्या-सम्बन्धी अमूर्त तर्क हैं ? नहीं। क्या इसमें तथ्य तथा वास्तविकता-सम्बन्धी प्रयोगात्मक तर्क हैं ? नहीं। तब इसे अग्निविसर्जन कर दो, क्योंकि इसमें वितर्क (sophistry) और भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है।*

अर्थात् ह्यूम के अनुसार अर्थपूर्ण प्रकथन या तो गणित के विश्लेषक प्रकथन हो सकते या तथ्यात्मक विज्ञानों के संश्लेपक वाक्य हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त सभी प्रकथन केवल अर्थहीन हो सकते हैं। ह्यूम के इस मत को तर्कनिष्ठ भाववाद (Logical positivism) ने बाद में चलकर दुहराया है।

फिर आकृत्यन्तरवाद का कहना है कि संवेदित छाप या ऐन्द्रिय प्रदत्त ही ऐसी सरल भावना है जो ज्ञान का आरम्भ-बिन्दु कहा जा सकता है। सभी प्रकार का ज्ञान यहीं से प्रारम्भ होता और फिर उनकी अन्तिम कसौटी भी यहीं है। इसलिए आकृत्यन्तरवादी अनुभववादियों का कहना है कि सभी तथ्यात्मक जटिल ज्ञान की रचना अन्त में इन्हीं सरल संवेदित छापों के द्वारा स्पष्ट की जा सकती है। बर्कले ने कहा था कि अन्त में सभी पदार्थों का सार उनका प्रत्यक्ष-मात्र है (esse est percipi) परन्तु इस बात को लौक और ह्यूम ने और अधिक स्पष्टता से कहा है :—

'ये सभी उत्तुंग विचार जो मेघों के ऊपर मंडराकर स्वर्ग की ऊँचाई तक पहुँचते हैं, उनकी उत्पत्ति और नींव संवेदन और आत्मनिरीक्षण से प्राप्त भावनाओं से एक बिन्दु भी आगे नहीं बढ़ सकती है।†

उसी प्रकार ह्यूम ने लिखा है :—

"हम अपनी कल्पना को स्वर्ग या ब्रह्माण्ड के अन्तिम छोर तक क्यों न दौड़ायें ? वास्तव में हम एक पग भी आगे नहीं बढ़ते और न प्रत्यक्षों की संकीर्ण सीमा को छोड़कर किसी भी प्रकार की वास्तविकता सोच सकते हैं।"

---

*An enquiry concerning Human Understanding—Edited by A. L. Selby-Bigge—p. 165.

†Locke, J. 'Essay on Human understanding' की पंक्ति के आधार पर लिखित।

इसलिए ह्यूमी अनुभववाद के अनुसार संश्लेषणात्मक प्रकथनों की अर्थ-पूर्णता अन्त में प्रत्यक्षों की कसौटी से ही आँकी जाती है।

ह्यूमी आकृत्यन्तरवाद जिसके अनुसार ज्ञान का रचनात्मक अंग केवल प्रत्यक्षों से ही प्राप्त होता है, और मिल के कठोर अनुभववाद में बहुत कुछ समानता है। मिल इस बात पर और अधिक जोर देते हैं कि संवेदनों के अतिरिक्त और किसी प्रकार प्रकथनों की व्युत्पत्ति हो ही नहीं सकती है, अर्थात् इनके अनुसार गणित तथा तर्कशास्त्र के प्रकथन भी प्रत्यक्षों के द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं। मिल ने यह दिखाने की कोशिश की है कि प्रकृति-समरूपता (uniformity of nature) तथा गणित के प्रकथन भी आनुभविक सामान्यीकरण (empirical generalisations) हैं। इनके अनुसार हमलोगों ने अनेक बार दो और दो आम, केले, कुर्सियाँ इत्यादि पदार्थों को गिनकर चार पाया है और इसलिए गणित में इन्हीं अनुभूत उदाहरणों के आधार पर सामान्य प्रकथन करते हैं कि दो और दो मिलकर चार होंगे, अर्थात् मिल विश्लेषक और संश्लेषक प्रकथनों में भेद नहीं मानते हैं।

अब समसामयिक तर्कनिष्ठ अनुभववाद को आकृत्यन्तरवाद (reductionism) के रूप में माना जाता है; और मिल के कठोर अनुभववाद का यह कहना कि गणित और तर्कशास्त्र के प्रकथन भी आनुभविक हैं, सही नहीं माना जाता है। इन दोनों प्रकार के भेदों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :

आकृत्यन्तरवाद (ह्यूम)	कठोर अनुभववाद (मिल)
१. इसके अनुसार गणित और तर्क-शास्त्र के विश्लेषक और तथ्यात्मक विज्ञानों के संश्लेषक प्रकथनों में प्राकारिक अन्तर है और विश्लेषक वाक्यों की व्याख्या प्रत्यक्षों के द्वारा नहीं हो सकती है।	१. मिल के अनुसार विश्लेषक और संश्लेषक वाक्यों के बीच कोई प्राकारिक अन्तर नहीं है और विश्लेषक वाक्यों की भी व्याख्या प्रत्यक्षों के द्वारा की जा सकती है।
२. आकृत्यन्तरवाद का मुख्य उद्देश्य प्रकथनों की अर्थपूर्णता पर यथोचित प्रकाश डालना है और ज्ञान की सत्यता-असत्यता का प्रश्न इसके लिये गौण है। इसलिए इसमें संश्लेषणात्मक प्रकथनों का प्रमाणीकरण, सत्यापन इत्यादि पर अधिक जोर दिया गया है।	२. मिल के अनुसार ज्ञान की सत्यता-असत्यता का प्रश्न ही प्रमुख है और अर्थपूर्णता की समस्या प्रमुख नहीं है। इसलिए इसमें ज्ञान-प्राप्ति तथा उसकी मनोवैज्ञानिक व्युत्पत्ति पर अधिक जोर दिया गया है।

इन बातों को ध्यान में रखकर हम आधुनिक अनुभववाद के सम्बंध में निम्नलिखित बातें बता सकते हैं।

आधुनिक दर्शन के अनुभववाद के अन्तर्गत ये मुख्य अंग हैं :—

(क) जन्म के समय मन एक कोरे कागज या साफ प्लेट के समान रहता है और जो कुछ भी ज्ञान बाद में प्राप्त किया जाता है, वह अनुभव के द्वारा ही इस पर अंकित होता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि लाइबनित्स और काण्ट ने दिखा दिया है कि यदि हम मान भी लें कि जन्म के समय मन कोरा रहता है, तोभी अनुभववादियों का मत इससे स्पष्ट नहीं होता है। शायद स्वयं लौक भी, जिसने इस कथन की नींव डाली थी, इस बात को पूर्णतया स्वीकार नहीं करते हैं कि मन पूर्णतया कोरा सफेद कागज के समान रहता है। फिर भी अनुभववादी आत्मजात प्रत्ययों को नहीं मानने के कारण मन के कोरेपन की कल्पना करते दिखाई देते हैं।

(ख) फिर हमलोगों ने देखा है कि अनुभववादियों के अनुसार ऐन्द्रिय अनुभव ही यथार्थ अनुभव है। इसमें आत्म-निरीक्षण (reflection) को भी जोड़ लेते हैं। अतः, अनुभववादियों के अनुसार संवेदन (sensation) और आत्मनिरीक्षण दो प्रकार की खिड़कियाँ हैं, जिनसे मन-कूप में ज्ञान-रश्मियाँ पहुँचती हैं।

(ग) अपितु, संवेदन और आत्मनिरीक्षण से जो ज्ञान के अंश मिलते हैं, वे अति सरल (simple) होते हैं और उनका आपसी सम्बन्ध आन्तरिक रीति से नहीं पाया जाता है। यदि उन्हें किसी प्रकार सम्बद्ध किया जाय तो सम्बद्धता बाह्य ही हो सकती है। अतः, हम अनुभव के ही आधार पर यह नहीं कह सकते कि सूर्य और ताप में अनिवार्य सबध है। यह सम्बन्ध अनुभव-वाद के अनुसार बाह्य सम्बन्ध है और इसके अनुसार ऐसी कल्पना की जा सकती है कि सूर्य से ताप न मिलकर ठंढक मिले।

(घ) ज्ञान में कोई भी आत्मजात अंग नहीं है। यदि कोई सर्वव्यापी अंग है, तो यह अनुभव का केवल विस्तारमात्र है।

(ङ) चूँकि बाह्य परिस्थिति का ज्ञान अनुभववादियों के लिए विशेष स्थान रखता है, इसलिए इनके लिए सत्यता की कसौटी वस्तु-अनुरूपता (correspondence) में पायी जाती है।

'बुद्धिवाद' तथा 'अनुभववाद' इत्यादि के अतिरिक्त भी अनेक पारिभाषिक शब्द हैं; पर इनकी व्याख्या यथास्थान की जायगी। हमलोग अब बेकन का

FRANCIS BACON (1561 to 1626)

उल्लेख करेंगे; और तब बुद्धिवादियों की चर्चा करके अनुभववादियों की व्याख्या की जायगी और अन्त में काण्ट का दर्शन इन सब मतों के समन्वय के रूप में लिया जायगा।

(१) फ्रांसिस बेकन (१५६१—१६२६)

बेकन अपने पेशे से वकील थे; परन्तु उनकी रुचि विज्ञानों में थी। आप अंग्रेजी भाषा के आदर्श गद्य लेखक थे और आज भी लोग 'Bacon's Essays' बड़े चाव से पढ़ते हैं। इनका गद्य और इसकी शैली इतनी प्रतिभा-पूर्ण है कि कभी-कभी लोग समझते हैं कि वही वास्तव में शेक्सपियर थे। परन्तु जितनी इनकी प्रतिभा थी, उतना इनका चरित्र उज्ज्वल नहीं था। जब आप न्यायाधीश के पद पर अधिष्ठित हुए थे तो आप घूस भी लिया करते थे। आप अन्त में घूस लेने के अपराध में पकड़े गये और उच्च पद से हटा दिये गये। आपने अपनी सफाई में बताया था कि "मैं घूस अवश्य लेता हूँ, परन्तु घूस लेकर मैंने न्याय को नहीं छोड़ा है।" इन सब विरोधी गुणों के रहने पर पोप नामक कवि ने इन्हें 'The greastest, brightest, meanest of mankind' का खिताब दिया है।

बेकन का युग आशावाद का युग था। उसी समय चुम्बक लोहे और कम्पास का पता लगा था, जिसके सहारे नाविकों को आशा हो गयी थी कि वे संसार भर का आसानी से भ्रमण कर लेंगे। बारूद बनाने तथा छापाखाने का भी आविष्कार हो गया था जिससे लोग समझते थे कि ज्ञान का प्रसार कुछ ही दिनों का खेल है। हार्वी ने रुधिर-संचालन के नियमों को सिद्ध कर दिया था और लोग समझने लग गये थे कि मानव अब दीर्घायु हो जायगा। ये सब बातें विज्ञानों के ही द्वारा प्राप्त की गयी थीं, यही कारण है कि बेकन को विज्ञानों पर पूरी आस्था हो गयी थी। अतः, बेकन के दर्शन में दो बातें अवश्य मुख्य हैं, अर्थात् (१) प्रकृति को समझने के लिये हमें इसके नियमों को जानना चाहिये, और (२) प्रकृति तथा मानव के प्रति वैज्ञानिक ज्ञान का एकमात्र उद्देश्य है कि उससे मानव कल्याण हो। चूँकि दूसरी बात पहली बात पर निर्भर करती है, इसलिये इसे पहले समझना चाहिये।

बेकन की आगमन-विधि (Inductive Method)

बेकन का नाम अगर किसी देन के लिये विख्यात है तो वह देन आगमन-विधि है। यह वह आगमन-विधि है जिसके द्वारा प्रकृतिसम्बन्धी अज्ञान नियमों

को ढूँढ़ निकालने की बात बेकन ने बताई थी। बेकन की आगमन-विधि दोषयुक्त अवश्य है, परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि दर्शन के इतिहास में अग्रगण्य उन्हें समझा जाता है जिन्होंने कोई नया रास्ता दिखाया है। बेकन की प्रतिष्ठा इसी तथ्य में है। यह बात दूसरी है कि कोई पथ-प्रदर्शक स्वयं निर्विघ्न रूप से पूरी मंजिल तय करता है या नहीं। शायद पूरी मंजिल तय करने में पथ-प्रदर्शक अपने को पूरा सफल नहीं पाता है। बेकन के बारे में भी यही बात सच है। समसामयिक मापदण्ड के आधार पर बेकन की विधि अधूरी जंचती है, पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उनकी विधि अपना विशेष महत्त्व रखती है।

बेकन के समय में अनुमान की मुख्य-विधि निगमनात्मक (deductive) थी, जिसका आदर्श रूप अरस्तु के न्यायवाक्य (syllogism) में पाया जाता है परन्तु हम जानते हैं कि न्यायवाक्य के निष्कर्षों की वास्तविक सत्यता उसके आधार वाक्यों (premises) पर निर्भर करती है। जैसे,

सभी मनुष्य मरणशील हैं,
राम एक मनुष्य है;
∴ राम मरणशील है।

यदि 'सभी मनुष्य मरणशील हों', और राम वास्तव में 'मनुष्य' हो, तो 'राम मरणशील है' अवश्य ही सत्य होगा। परन्तु निष्कर्ष की वास्तविक सत्यता के लिए दोनों आधार वाक्यों को भी वास्तविक होना चाहिए। इसलिए प्रश्न उठता है कि हम किस प्रकार से आधार-वाक्यों की वास्तविक सत्यता को प्रमाणित कर सकते हैं? बेकन के समय में तार्किक तथा दार्शनिक किसी भी आधार-वाक्य का वास्तविक रूप से समझने के लिए वे धर्मग्रन्थ, अरस्तू की पुस्तकों या अन्य अधिकारी लेखकों की पुस्तकों का अध्ययन करते थे। यदि ये आधार वाक्य उन लेखों में सही पाया जाता था तो ये लोग उन्हें वास्तविक समझते थे, अन्यथा नहीं। जैसे, उस समय के दार्शनिक समझते थे कि सभी नक्षत्रों का परिक्रमा-पथ गोल है क्योंकि अरस्तु ने तथा प्लेटो ने यही लिखा था। परन्तु आधार-वाक्यों की वास्तविकता को सिद्ध करने की यह प्रणाली सर्वथा निन्दनीय है। प्रकृति-सम्बन्धी वास्तविकता को सिद्ध करने के लिए प्रकृति का निरीक्षण करना चाहिए और बेकन ने जब निगमन की आलोचना कर आगमन के महत्त्व को दिखाना चाहा तो इस प्रसंग में उनके

कथन में विशेष बल दीखता है। बेकन ने तत्कालीन दर्शन के अप्रगतिशीलता के निम्नलिखित कारणों को बताया है :—

(क) यथार्थ घटनाओं के निरीक्षण तथा प्रयोग के प्रति दुराग्रह तथा उदासीनता।

(ख) धर्म के प्रति अति झुकाव के कारण तथा धर्म-कठोरपन से यथार्थ निर्णय के पहुँचने में अड़चन का होना।

(ग) आचार, देशनीति तथा ईश्वर-वाद में ही सब श्रम को खर्च कर देना और प्रकृति की ओर से मुँह मोड़ना।

(घ) आप्त या शास्त्रों के प्रति अतिशय आस्था रखना।

(ङ) प्रकृति-गवेषणा के प्रति कठिनाइयों को दूर न कर सकना।

यदि अरस्तू की विधि को पुराना नियम कहा जाय तो बेकन ने अपनी विधि को नया नियम (novum organum) कहा है*। इस विधि के अनुसार हमें अधिकारियों से आधार वाक्य नहीं प्राप्त करना चाहिए, परन्तु मन-मुकुर को सुधार कर पक्षपातरहित रूप-से प्रकृति के सम्बन्ध में प्रश्न करना चाहिए। बिना किसी कल्पना की सहायता से हमें इस प्रकार का प्रश्न रखना चाहिए कि इसके समाधान होने से प्रकृति के रहस्यों का पता मिल जाय†। बेकन का मत था कि यदि हम पूर्वकल्पना (hypothesis) बना कर प्रकृति का अध्ययन करेंगे तो हमारा मन पहले से दुराग्रह (prejudice) से भर जायगा और प्रकृतिसम्बन्धी हमें पक्षपातरहित ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकेगा! इसलिए बेकन ने दुराग्रहों से बचने के लिए हमें सावधान कर दिया है। उनके अनुसार निम्नलिखित दुराग्रहों से बचने पर ही हमें प्रकृति का निष्पक्ष ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

जाति-दोष या भ्रम (Idola Tribus) :— यह वह दोष है जो मानव जाति में प्रायः व्यापक रूप में पाया जाता है। प्रायः लोग समझते हैं कि

(*) अरस्तू ने भी आगमन-विधि की व्याख्या की है, परन्तु बेकन के समय प्रायः यह लोप के समान ही हो गयी थी।

(†) अंग्रेजी में बेकन का महत्त्वपूर्ण कथन है : We must not *anticipate but interrogate nature.*

प्रकृति में उसी प्रकार का उद्देश्य पाया जाता है जैसा मानव प्रक्रियाओं में रहता है। फिर लोग प्रकृति में मानव लक्ष्यों को देखने की कोशिश करते हैं। इसलिए वे समझते हैं कि चाँद, सूर्य, पेड़, पौधे इत्यादि सभी मानव के ही लिए बनाये गये हैं। इसलिए जब बेकन ने कहा कि बिना भाँपे हुए ही प्रकृति को समझने की कोशिश करनी चाहिए तो बेकन चाहते थे कि प्रकृति को निष्पक्ष रूप से जानने के लिए मानव लक्ष्य का आरोप प्रकृति में नहीं होना चाहिए। हम आगे चलकर देखेंगे कि स्पिनोजा ने भी प्रकृति के मानवीकरण की कड़ी आलोचना की है। अत; स्पिनोजा की आलोचना की पूर्वछाया बेकन के कथन में भी पायी जाती है।

शिक्षा-दोष (Idola Specus) यह दोष जाति-दोष से कम व्यापक है, परन्तु दार्शनिकों के लिए उपादेय है। यह व्यक्तिगत (personal) दोष है जो उनके अपने विशेष संस्कार से उत्पन्न होता है (१)। प्रत्येक दार्शनिक की शिक्षा-दीक्षा किसी विचार-सम्प्रदाय में हुआ करती है और इस कारण से वह दार्शनिक कूप-मण्डूक के समान सोचता है कि जो कुछ उसकी विचार-शैली से ही मेल नहीं खाता है वह असत्य है। कहा ही गया है कि सावन के अन्धे को सभी कुछ हरा दीखता है। प्राय: विज्ञान की सफलता से चकाचौंध होकर दार्शनिक समझते हैं कि जो कुछ वैज्ञानिक परम्परा के अनुकूल न हो वह असत्य और भ्रमात्मक है। अतः दर्शन में संकीर्णता के आने का विशेष कारण इसी कोटरी दोष (idola of the cave) से स्पष्ट हो जाता है।

चलती भाषा से उत्पन्न दोष (Idola fori) (२):—अपने व्यावहारिक जीवन में हम अनेक शब्दों और मुहावरों को काम में लाते हैं। यदि हम सतर्क न रहें तो इन चलते मुहावरों से भी हमारे विचार में दोष आ जाते हैं। (३) प्रायः हम समझते हैं कि विचार से भाषा नियन्त्रित होती है, परन्तु वास्तव में भाषा

---

(१) **The Idola of the Cave** take their rise in the peculiar constitution, mental or bodily, of each individual, and also in education, habit and accident.

(2) इसे The idola of the market place भी कहते हैं। fori शब्द forum से निकला है जिसका अर्थ है 'बाजार'।

(3) बेकन ने लिखा है कि 'the ill and unfit choice of words wonderfully obstructs the understanding'

से ही विचार नियन्त्रित हो जा सकता है। जैसे, हम जानते हैं कि सूर्य उदय-अस्त नहीं होता है, पर फिर भी व्यवहार में उदय-अस्त होने की बात कहते हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि लौक और वर्कले ने भी शब्द-जाल से वचने के लिये हमें चेतावनी दी है। वर्त्तमानकाल में तार्किक भाववादी (logical-positivist) हमें बताते हैं कि दर्शन में भाषा ही सब कुछ है। जिस जाति में जैसे शब्द होंगे उस जाति में उसी प्रकार की विचार-परम्परा पायी जायगी। शायद तार्किक भाववादियों के कथन में अतिशयोक्ति हो, पर फिर भी दर्शन के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है कि भाषा को सही रीति से काम में न लाने पर अनेक प्रकार की गड़बड़ियाँ आ गयी हैं। अतः, बेकन ने जो कुछ भाषा-दोष के सम्बन्ध में कहा है वह सामयिक चेतावनी है।

दार्शनिकों की परिकल्पना का दोष (Idola Theatri) :—यह दोष शिक्षा-दोष के समान ही है, पर इसका प्रकोप दार्शनिकों में विशष रूप से बताया गया है। इसका संकेत बेकन के समकालीन दार्शनिकों की ओर है जो कोरी युक्तियों को मानव अनुभूतियों से श्रेष्ठ समझते थे। फिर बिना परीक्षा किये गये अनुभवजन्य (empirical) नियमों को सत्य मान लेने से इस प्रकार का दोष हो जाता है। जैसे खुरवाले पशु पागुर करते हैं। इस नियम को कामचलाऊ समझा जायगा न कि असंदिग्ध। अपितु, अंधविश्वास पर आधारित ज्ञान को अपनाने से भी यह दोष हो जाता है; जैसे, 'सभी नक्षत्र का परिक्रमा-पथ गोलाकार ही हैं'। परन्तु इसे अंधविश्वास तथा मनगढ़न्त ही समझना चाहिये।

आगमन-विधि का लक्ष्य :—जब हम सभी प्रकार की भ्रान्तियों और दोषों से अपने मन को शुद्ध कर लेते हैं तो हम इस योग्य हो जाते हैं कि प्रकृति का पक्षपातरहित अन्वेषण कर लें। प्रकृति-अन्वेषण की मुख्य विधि निरीक्षण (Observation) है। प्रायः, आगमन में घटनाओं का कारण खोज निकाला जाता है परन्तु बेकन अरस्तु के कारण-सम्बन्धी सिद्धांत से प्रभावित थे। अरस्तू के अनुसार कारण चार भागों में बाँटा जा सकता है, अर्थात् (१) रूप-विषयक (formal), (२) द्रव्यवाची (material), (३) निमित्त कारण

---

(१) वस्तुओं के लक्षणों को प्राथमिक (Primary) और गौण भागों में देकार्त, लौक, इत्यादि के अनुसार बाँटा गया है। इनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या यथास्थान होगी। ठंढा, गरम, लाल-पीला इत्यादि गुण गौण कहलाता है। देश-काल, आकार, संख्या इत्यादि प्राथमिक गुण कहलाता है। (२) Erdmann, "History. of philosophy".—

(efficient) (४) परिमाणवाची (final cause)। बेकन ने अरस्तू के केवल रूपविषयक कारण ही को अपनी विधि में स्थान दिया है। अतः, निरीक्षण के द्वारा आगमन विधि का उद्देश्य है कि वस्तुओं के रूपों जान लिया जाय। परन्तु प्रश्न उठता है, कि वस्तुओं का रूप किसे कहते हैं जिन्हें बेकन खोज निकालना चाहते हैं? यहाँ बेकन का मत स्पष्ट नहीं है और इसके सम्बन्ध में कई अटकल लगाये गये हैं। सर्वप्रथम, रूप से समझा जाता है वह वस्तुओं का गुह्य (hidden) या छिपा हुआ आधार जिससे इनका प्रतिभास (appearance) या लक्षण उत्पन्न होता है। द्वितीय, वस्तुओं के **उत्पादक स्वरूप** को रूप कहा जाता है, और तृतीय, घटनाओं के **नियम** को उनका रूप समझा जा सकता है, क्योंकि बेकन के अनुसार जो कोई वस्तुओं का रूप जान लेता है वह वस्तुओं के गौण (secondary) गुण (१) को भी समझ लेता है कि वे किस प्रकार उत्पन्न होते हैं (२)। फिर रूप से अर्थ निकाला जाता है कि यह वस्तुओं का वह गुण है जिसके रहने से उनके अन्य सभी गुणों के भाव (presence) या मौजूदगी का बोध कराया जा सके। पुनः 'रूप' से वह सारतत्त्व (essence) समझा जाता है जिसे अणु (atoms) भी कहा जा सकता है। (३) अब जो कुछ भी बेकन के 'रूप' की व्याख्या हो, कम-से-कम उससे हम ये निम्नलिखित बातें नहीं समझ सकते है :—

१. वस्तुओं का बाहरी दिखलाव या प्रतिभास
२. फिर 'रूप' प्लेटो के 'प्रत्ययों' से भिन्न है।
३. यद्यपि 'रूप' का अर्थ 'नियम' किया गया है तौभी 'रूप' का अर्थ कम-से-कम 'वैज्ञानिक नियम' नहीं समझा जा सकता है।

शायद बेकन के 'रूप' का अर्थ है वह वस्तुओं का छिपा हुआ अणुसम तत्त्व जिसके परिवर्तन से वस्तुओं में सभी प्रकार का परिवर्तन होता है। हम कह सकते हैं कि (Bacon's forms are not abstract ideas, but are highly general physical properties which cause actions in simple bodies. By knowing them, he believed, that the control of nature will be greatly increased. अतः, 'रूप' से अरस्तु के 'सर्वव्यापी प्रत्यय' तथा वैज्ञानिक नियम के बीच की धारणा की अर्थ-व्यंजना होती है जिसे निश्चित रीति से बताना कठिन है। इसका मुख्य कारण है कि स्वयं बेकन की धारणा वैज्ञानिक आगमन के सम्बन्ध में वर्त्तमानकालिक दृष्टिकोण से पिछड़ी हुई है और यही कारण

P.680 (3) Hoffding, 'History of Modern philosophy,—P. 202

है कि बेकनीय 'रूप' का सही अर्थ नहीं बोध होता है। खैर, जो कुछ भी अर्थ बेकन के रूप का लगाया जाय बेकन ने इसे जानने की उन विधियों का उल्लेख किया है जिन्हें मिल की प्रयोगात्मक विधियों की पूर्वछाया कहा जा सकता है। सबसे पहले, बेकन के अनुसार, हमें उन उदाहरणों को इकट्ठा कर लेना चाहिए जिसमें खोज के विषय की घटनाएँ पायी जायें। जैसे, यदि हमें ताप का रूप जानना हो तो हमें उन सब वस्तुओं की (table) तालिका बनानी चहिए जिसमें ताप पाया जाय। उदाहरणार्थ, अग्नि, सूर्य, मोमबत्ती, दहकता हुआ शीशा इत्यादि। इस विधि को उन्होंने Tabula Presentiae या भावात्मक तालिका कहा है। यह विधि मिल की 'अन्वय-विधि' (Method of agreement) से मिलती है। परन्तु बेकन के अनुसार केवल भावात्मक उदाहरणों के संकलन से 'रूप' का निर्णय नहीं किया जा सकता है। भावात्मक उदाहरणों के आधार पर निर्णीत किये गये नियम की पुष्टि अभावात्मक (negative) उदाहरणों से होनी चाहिए। जैसे, ताप के अभावात्मक उदाहरण हैं मिट्टी, पत्थर, पृथ्वी इत्यादि जिनमें ताप नहीं पाया जाता है। इसे बेकन ने अभावात्मक तालिका या Tabula Absentiae कहा है जो मिल के 'व्यतिरेक विधि' (method of difference) से मिलती-जुलती मालूम देती है। उन दोनों विधियों में बेकन ने Tabula graduum या अनुक्रम तालिका की विधि भी जोड़ दी है जिसके अनुसार घटनाओं को उनकी तीव्रता या मात्रा (intensities) (अर्थात् कम-अधिक अंश) के अनुसार व्यवस्थित किया जाता है। यह विधि मिल की सहचारी वैभिन्य विधि (The method of Concomitant Variation) से मिलती है। इन तीन विधियों के अतिरिक्त बेकन ने ग्यारह सहायक विधियों का उल्लेख किया है, परन्तु उनमें से केवल तीन ही की व्याख्या की है, अर्थात् बहिष्करण (exclusion), निर्णायक उदाहरण (Crucial instance) और first vintage।

बेकन ने बताया है कि हमें पूर्वकल्पना को छोड़कर धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहिए। पहले विशेष (particulars) से कुछ ही व्यापक नियम (lesser axioms) की स्थापना करनी चाहिए। अन्त में, क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते अति सामान्य तथा व्यापक नियमों की स्थापना करना चाहिए। इस प्रकार की प्रगति में, बेकन के अनुसार, पूर्वकल्पना (anticipations) की आवश्यकता दूर हो जायगी।

उपर्युक्त तीन विशेष विधियों और सहायक प्रणालियों को, बेकन ने बहिष्करण की मुख्य विधि के अन्तर्गत किया है। अतः, बेकन के अनुसार निरीक्षण तथा सावधानपूर्वक विश्लेषण (analysis) के आधार पर हमें सभी उदाहरणों की सर्वग्राही (exhaustive) तालिका बना लेनी चाहिए। फिर हमें उन सब विशिष्ट गुणों को देखना चाहिए जो अन्वेपण की रूपवाली घटनाओं में नहीं पाये जाते हैं। जैसे, ताप के रूप के साथ ठंढक, रंग, घ्राण इत्यादि के गुण सभी स्थलों पर नहीं देखे जाते हैं। इस प्रकार के अनावश्यक गुणों का परित्याग या बहिष्करण कर देना चाहिए। अतः, बेकन की आगमन विधि वैकल्पिक (disjunctive) न्यायवाक्य का रूप लेती हुई दिखाई देती है, जिसे निम्नलिखित रीति से साफ कर दिया जा सकता है।

ताप का रूप है क या ख या ग या घ इत्यादि :
परन्तु क या ख या ग ताप के साथ नहीं पाया जाता है :
∴ 'घ' ही ताप का रूप है।

यहाँ लघु आधारवाक्य (minor premise) पर सभी कुछ निर्भर करता है। 'क' या 'ख' इत्यादि का इसलिए बहिष्करण कर दिया जाता है कि ये Tabula Absentiae में हैं और फिर भी ताप नहीं पाया जाता है। यदि सभी सम्भव आवश्यक लक्षणों का बहिष्करण कर लें, तो निष्कर्ष अवश्य ही अनिवार्य होगा। पर सभी संभव अनावश्यक लक्षणों को जमा करना और उनका बहिष्करण करना असंभव है। बेकन इसलिए इसे संभव सोचते थे कि उनके अनुसार सरल रूप (simple forms), जिनसे सभी घटनाओं की व्याख्या हो सकती है, सीमित संख्या में पाये जाते हैं। अतः, उनके अनुसार इनका संकलन तथा आवश्यकतानुसार बहिष्करण हो सकता है।

फिर यदि हम बेकन की बहिष्करणात्मक विधि पर ध्यान दें तो हम पायेंगे कि वह वास्तव में निगमनात्मक (deductive) मिश्र न्यायवाक्य है। बेकन निगमन से अपना पिंड छुड़ाना चाहते थे और अन्त में उसके ही जाल में फंस कर रह गये हैं। इसका कारण है कि बेकन समझते थे कि आगमन का निष्कर्ष (conclusion) असंदिग्ध (certain) होना चाहिए। यही कारण है कि उन्होंने अपनी विधि में (exhaustive analysis) तथा सभी आवश्यक बातों के बहिष्करण (exclusion) की बाता कही है। फिर अपनी विधि को असाक्षात् रीति से निगमनात्मक बनाया है, क्योंकि निगमन का ही निष्कर्ष निश्चित तथा अनिवार्य होता है। परन्तु, वास्तव में निरीक्षण पर

आधारित आगमन का निष्कर्ष केवल प्रायिक (probable) ही हो सकता हैं और आगमन के इस लक्षण को बेकन ने न तो समझा और न इसके अनुसार अपनी विधि को स्पष्ट किया है। यही कारण है कि निगमन को छोड़ते हुए भी निगमन के आदर्श के जाल में पड़कर उन्होंने आगमन की सही व्याख्या नहीं की है।

बेकन का मत था कि आगमन विधि के आधार पर सभी प्रकार के ज्ञान प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए उन्होंने इस विधि को समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान तथा आचार-शास्त्र (Ethics) इत्यादि के लिए भी भी उपयुक्त समझा था। अत:, बेकन में विज्ञानवाद की पूर्वछाया देखने में आती है जिसके अनुसार जो भी विषय विज्ञान-विधि से नहीं जाना जा सकता है, वह मानव-ज्ञान के अन्दर नहीं गिना जा सकता है। अन्त में, बेकन का मत था कि सभी प्रकार के ज्ञान का केवल एक ही लक्ष्य है, अर्थात् मानव-कल्याण की रक्षा और उसका सम्बर्द्धन हो।

यह ठीक है कि बकन की विधि सरल गणनात्मक (Induction by Simple Enumeration) नहीं है। स्वयं उन्होंने कहा है कि सरल गणनात्मक निगमन कच्चे धागे के सामान कमजोर हैं तथा वह बच्चों का खेल है। पर हम निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर उसे वैज्ञानिक विधि नहीं समझ सकते हैं।

आगमन विधि की आलोचना :—बेकन ने अपनी आगमन-विधि को अपने समय की और विशेषकर न्यायवाक्य विधि की तुलना में तीन बातों में श्रेष्ठ बताया है, अर्थात्

(क) इसके द्वारा ज्ञान-बर्द्धन होता है क्योंकि यहाँ वस्तुओं के रूप की जानकारी प्राप्त की जाती है।

(ख) इसके आधार पर न्यायवाक्य और जल्दवाजी के साथ किये गये निरीक्षण का परित्याग किया जाता है।

(ग) फिर इस विधि में मन को शुद्ध कर प्रकृति की पक्षपातरहित खोज की जाती है।

संक्षेप में बेकन की 'आगमन-विधि' घटनाओं के **पूर्ण निरीक्षण,** उनके सर्वग्राही **विश्लेषण** तथा अनावश्यक लक्षणों के अनुक्रमिक बहिष्करण पर निर्भर करती है। परन्तु अनावश्यक लक्षणों का सर्वग्राही बहिष्करण करना

असम्भव है। फिर, बेकन पूर्वकल्पना (hypothesis) बनाने का आदेश नहीं देते हैं क्योंकि उनका कहना है कि 'I do not *anticipate* nature' पुनः, उन्होंने बताया है कि गणितशास्त्र महत्त्वपूर्ण है, पर फिर भी उन्होंने गणित को अपनी आगमन-विधि में कोई स्थान नहीं दिता हैं।

परन्तु यदि हम बेकन की 'आगमन-विधि' पर ध्यान दें तो हम पायेंगे कि यह 'वैज्ञानिक-विधि' नहीं है। इसका सबसे पहला कारण यह है कि बेकन की 'आगमन-विधि' का लक्ष्य है कि इसके द्वारा वस्तुओं का 'रूप' खोजा जाय। परन्तु विज्ञानों में वस्तुओं का रहस्यमय रूप नहीं खोजा जाता है, बल्कि विज्ञानों में सांख्यकीय नियमों ही स्थापना की जाती है। अतः, रूप-विषयक होने के कारण बेकनीय विधि वैज्ञानिक न होकर मध्ययुगी परम्परा से लिपटी रह गयी है (१)।

फिर बेकन के अनुसार हमें घटनाआ की सर्वग्रही तालिका बनानी चाहिए। परन्तु किसी भी विषय की घटनाओं की **सर्वग्राही** तालिका बनाना असंभव है। भला कौन व्यक्ति सभी मनुष्यों की मरणशीलता की तालिका बना सकता है? कौन भविष्य के मनुष्यों की संख्या निर्धारित कर सकता है कि वे मरणशील हैं? फिर यदि कोई जान भी ले कि सभी मरणशील मनुष्य की संख्या x है तो यह कैसे कोई कह सकता है यह ही संख्या x मरणशील व्यक्तियों की हो सकती है? इसलिए वास्तविकता तथा तार्किक दृष्टिकोण, दोनों ही के आधार पर सर्वग्राही तालिका बनाने की बात असंभव और अवैज्ञानिक है। हमें तो निरीक्षण ही में चुन-चुनकर कुछ ही उदाहरणों का लेखा लेना पड़ता है। यदि डाक्टर किसी रोग की जाँच करते हैं तो वे रोगी के प्रत्येक अंग की जाँच नहीं करते हैं। वे केवल रोगी के कुछ ही अंगों को रोग के अनुसार महत्त्वपूर्ण समझकर जाँचते हैं। यही बात विज्ञानों के नियम की स्थापना में पायी जाती है। अतः, बेकनीय विधि सर्वग्राही निरीक्षण के आदेश पर अवलम्बित हो जाने के कारण निकम्मी हो जाती है।

पुनः, बिना पूर्वकल्पना को बनाये हुए वैज्ञानिक नियम की स्थापना करना असम्भव है। जब वैज्ञानिक कोई प्रयोग करता है तो वह किसी मत को सिद्ध या असिद्ध ठहराने के ही लिए करता है। यह मत पूर्वकल्पना का काम करता है। उसी प्रकार निरीक्षण भी बिना किसी पूर्व कल्पना के सम्भव नहीं है। इसका कारण है कि वैज्ञानिक निरीक्षण इसलिए उद्देश्यपूर्ण और सम्बद्ध रहा

(१) Windelband—History of philosophy—p. 385

करता है और निरीक्षण इसलिए उद्देश्यपूर्ण होता है कि इसमें पहले से ही किसी मत को पुष्ट या निराधार करने की बात रहती है। जब दरोगा चोरी के सम्बन्ध में किसी महल्ले की छानबीन करता है तो वह सब घरों की तलाशी नहीं करता है। उसके मन में चोर के सम्बन्ध में धारणा रहती है और इसी धारणा के अनुसार वह कुछ ही घरों की छानबीन करता है। इसलिए, दरोगा का निरीक्षण भी एक प्रकार की पूर्वकल्पना से नियन्त्रित होता है। अतः, बेकनीय विधि पूर्वकल्पना की अवहेलना करने के कारण अवैज्ञानिक और निकम्मी है (१)।

बात यह है कि बेकन ने वैज्ञानिक विधि को जानने की कोशिश नहीं की। यह बात इसी से स्पष्ट हो जाती है कि अपनी विधियों को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने विज्ञान के उदाहरणों की मदद नहीं ली है, परन्तु अपने समय की लिखी हुई पुस्तकों में दिये गये उदाहरणों की मदद ली है। फिर यदि वे विज्ञान की विधियों पर ध्यान देते तो उन्हें गणित को भी अपनी विधि में स्थान देना होता और, गणित वास्तव में शुद्ध निगमन (deduction) है। अतः, आगमन में भी निगमन की आवश्यकता पड़ जाती है। परन्तु चूँकि बेकन न्यायवाक्य के विरोधी थे, इसलिए उन्होंने निगमन के किसी अंश को आगमन में स्थान नहीं दिया है। इसलिए भी बेकनीय आगमन अधूरा है।

बेकन का प्रयोजनवाद :—हमलोगों ने पहले ही देखा है कि ज्ञान को बेकन ने मानव-कल्याण के लिए परम शक्ति माना है। उनका कथन है कि (knowledge is power and the only lasting power) अर्थात् ज्ञान की सत्यता इसी पर आधारित है कि इसके द्वारा मानव उद्देश्य की पूर्ति हो। अब बेकन ने ठीक ही में प्रकृति के मानवीकरण के विरोध में आवाज उठायी थी, परन्तु ज्ञान को मानव प्रयोजन (human utility) में मढ़कर उन्होंने विज्ञान के गला-घोंटने की बात कही है। विज्ञान में अनेक आविष्कार इसीलिए होता आया है कि वैज्ञानिक अपने धुन में लगा रहता है कि ज्ञान का प्रसार ज्ञान के ही लिए हो। ज्ञान स्वलक्ष्य है और व्यवहार की कसौटी से जांचने पर इसकी प्रगति मन्द हो जाती है। वह दूसरी बात है कि वैज्ञानिक अनुसन्धान के आधार पर मानव-व्यवहार में मदद मिले। परन्तु वैज्ञानिक का अपना धर्म है कि बिना व्यावहारिक फल की आकांक्षा किये

---

१ Schiller, F. C. S. 'Formal Logic'—P. 258

हुए वह अपने प्रयोग में लीन रहे। उदाहरणार्थ अणुवाद का सिद्धान्त अति प्राचीन है और इसकी प्रयोगात्मक सत्यता लगभग ५० वर्ष पहले हो चुकी है और अब इसे व्यावहारिक रूप में लाया जा रहा है। यदि व्यावहारिक फल की आकांक्षा रहती तो ५० वर्ष तक अणु-सम्बन्धी अनुसंधान को छोड़ दिया जाता। उसी प्रकार कई प्रकार की ज्यामितिक धारणायें १९ वीं शताब्दी में स्थापित हो चुकी थीं। पर उन्हें उस समय से लेकर सन् १९१७ तक व्यवहार में न लाया जा सका और तब सन् १९१७ में सापेक्ष नियम (theory of relativity) में इनमें से कुछ को काम में लाया गया है। यदि वैज्ञानिक केवल व्यवहार-लाभ की बात सोचते, तो ये सब धारणायें लुप्त हो गयी होतीं। व्यवहार की बात छोड़कर केवल ज्ञान-लाभ के ही लिए वैज्ञानिक प्रयत्नशील रहते हैं। अतः ज्ञान को प्रयोजनात्मक कहकर वेकन ने विज्ञान-प्रसार की कोई मदद नहीं की है।

वर्तमानकाल में पिअर्स, जेम्स इत्यादि दार्शनिकों ने प्रयोजनवाद को प्रचलित करने की कोशिश की थी। इसलिये, समसामयिक प्रयोजनवाद को दृष्टिकोण में रखकर कहा जाता है कि ज्ञान में व्यावहारिकता पर जो जोर वेकन ने दिया है उससे वह प्रयोजनवाद (pragmatism) या कार्यसाधनतावाद का आदि पथप्रदर्शक कहा जा सकता है। परन्तु वास्तव में यह ठीक नहीं है क्योंकि समसामयिक प्रयोजनवाद ज्ञानमीमांसा पर अवलम्बित है और ज्ञानमीमांसा वेकन के दर्शन में नहीं आती है। अतः, वेकन का प्रयोजनवाद मध्ययुगी कल्पना की उपज है। यही कारण है कि प्रकृति को पक्षपातरहित समझने का आदेश न देकर उन्होंने प्रकृति को मानव-हित के आधीन करने की बात कही है और इसी कल्पना से प्रेरित होकर Novum Atlantis में वे दिवास्वप्न (day dreaming) के शिकार बन गये हैं। वेकनीय प्रयोजनवाद मनगढ़न्त तथा काल्पनिक प्रेरणाओं से रचा गया है, न कि यह विज्ञान, तत्व तथा ज्ञान-समीक्षा पर आधारित हुआ है। अतः, वेकन समसामयिक प्रयोजनवाद के आदि कर्णधार नहीं हैं। इस स्थल पर अब यह मौलिक प्रश्न उठता है कि क्या वेकन आधुनिक युग के आदि पिता कहे जा सकते हैं, क्योंकि इनके बाद आधुनिक विचारधारा अति प्रबल हो उठती है।

क्या वेकन आधुनिक दर्शन के प्रवर्त्तक या आदि पिता थे ?

मेकौले ने वेकन को आधुगिक दर्शन में उच्च स्थान दिया है इसलिए नहीं कि उन्होंने आगमन-विधि की नींव डाली, पर इसलिए कि उन्होंने विज्ञान की

ओर लोगों का ध्यान मोड़ा है। वास्तव में यदि वेकन के लेख से कोई नयी लीक निकलती या नयी दिशा में दार्शनिकों की विचारधारा ढुलक जाती तो अवश्य ही वे आधुनिक युग के प्रवर्त्तक या कर्णधार कहलाते। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। कुछ वेकन के लेख से नहीं विज्ञान का पोषण बढ़ा है। वेकन के समय से लगभग ५० वर्ष पहले ही से विचारकों का ध्यान विज्ञान की ओर झुक रहा था और बहुत दिनों तक वेकन के बाद भी विज्ञान की यह प्रगति बिना वेकन के लेख से प्रभावित होकर जारी रही। इसलिए विज्ञान की प्रगति का सम्बन्ध वेकन से नहीं दीखता है। द्वितीय, यदि वेकनीय आगमन-विधि वैज्ञानिक विधि होती तो हम कह सकते कि कम-से-कम आधुनिक युग में वेकन ने एक नयी विधि की देन दी है। परन्तु हमलोगों ने देखा है कि वेकन की विधि न पुरानी है और न आधुनिक। यह आधा तीतर आधा बटेर है। फिर, यदि वैज्ञानिक वेकन की व्यवहारपक्षी बातों पर ध्यान देते तो विज्ञान बढ़ने के बदले आज लुप्तप्राय हो जाता। अतः दर्शन में किसी नयी गति-दिशा न दिखाने के कारण वेकन को आधुनिक युग का कर्णधार मान लेना आपत्ति-जनक है।

फिर दर्शन के इतिहासकारों ने वेकन के बताये भ्रम-सिद्धांत (doctrine of idolas) में काण्टीय सिद्धांत की पूर्वछाया कही है। हम आगे चलकर देखेंगे कि काण्ट का मुख्य कथन है कि प्रकृति-ज्ञान की स्थापना में मन की प्रक्रिया रचनात्मक होती है। वेकन ने अपने भ्रम सिद्धांत में कहा है कि यदि हमारा मन-मुकुर अनेक दोषों से धुंधला हो जायेगा तो इसके द्वारा जो कुछ जाना जाय वह भी धुन्धला ही दीखेगा। इसलिए लोगों ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि वेकन भी मन की प्रक्रिया को ज्ञान की स्थापना में रचनात्मक समझते थे। परन्तु वेकन में काण्टीय ज्ञान-समीक्षा की प्रतिछाया नहीं देखने में आती है। वेकन के भ्रम-सिद्धांत से स्पष्ट हो जाता है कि वे मन को निष्क्रिय समझते थे, न कि रचनात्मक। उनके अनुसार वस्तु-ज्ञान में मन की कोई देन नहीं होनी चाहिये। फिर वेकन के भ्रम-सिद्धांत में लोग काण्ट के (Transcendental Illusion) की झलक देखते हैं। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वेकनीय भ्रम विषयीगत (Subjective) तथा व्यक्तिगत है। परन्तु काण्टीय Transcendental Illusions (अनुभवातीत भ्रम) सभी मानव में अनिवार्य रूप से पाया जाता है। यह बात वेकनीय भ्रम के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती है, क्योंकि व्यक्तिगत होने के कारण वे अनिवार्य नहीं हैं।

कुछ हद तक यह ठीक है कि बेकन को आदि-अनुभववादी कहा जा सकता है क्योंकि ज्ञान की स्थापना में उन्होंने 'अनुभव' पर जोर दिया है (*) पर यहाँ भी बेकन के प्रभाव को बढ़ा-चढ़ा नहीं देना चाहिए। पहली बात यह है कि लौक प्रभृति अनुभववादी बेकन का उल्लेख नहीं करते हैं और वे देकार्त-वादियों से बेकन की अपेक्षा अधिक प्रभावित हुए थे। फिर बेकन अवश्य 'अनुभव' पर जोर देते हैं, पर वे हमें बताते नहीं हैं कि किस प्रकार से अनुभव के आधार पर ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

अतः, बेकन को आधुनिक दर्शन का जन्मदाता मानना निराधार है। उन्होंने अपने समय की चलती हुई धाराओं को सुसम्बद्ध रूप दिया है। उन्होंने किसी नये दर्शन की रूप-रेखा नहीं दी है, परन्तु नये दर्शन की स्थापना के लिये हमारे सामने प्रस्ताव-मात्र रखा है। ऐसे व्यक्तियों को जो आनेवाली घटनाओं की घोषणा किया करते हैं भारतीय नाटक में सूत्रधार कहते है। अतः, बेकन अपने युग के सूत्रधार थे और उन्होने आधुनिक दर्शन के सूर्य-परा-क्रम का बोध प्राच्य की उषा-लालिमा के रूप में किया है। उन्होंने अपने समय का अपने को 'trumpeter' अर्थात् दुन्दुभी फूँकने वाला कहा है और वास्तव में आत वही थे। बेकन के विचार मध्य और आधुनिक युग के बीच के हैं और अन्तर्कालीन होने के कारण आप उभयकालीन थे। आधुनिक दृष्टि-कोण से आप मध्ययुगी और मध्ययुग के दृष्टिकोण से आप आधुनिक थे। ऐसी दशा में आधुनिक युग का जन्मदाता न समझ कर उन्हें मध्ययुगी आलाप का अन्तिम स्वर समझना चाहिये।

बेकन ने बताया है कि आधुनिक दर्शन का क्या स्वरूप होना चाहिये और फिर उसकी विधि किस प्रकार नयी होनी चाहिये। परन्तु जो कुछ उन्होंने कहा है वह आधुनिक दर्शन की भूमिका ही है, न कि कोई दर्शन। अतः, बेकन को आधुनिक दर्शन का जन्मदाता नहीं कहा जा सकता है।

(*) यह बेकन की निम्नलिखित उक्ति से झलक जाता है :—

"Man, being the servant and interpreter of nature, can do and understand so much and so much only as he has *observed* in fact or in thought of the course of nature; beyond this he neither knows anything nor can do anything." (Italics mine)। बेकन की यह उक्ति लौक, बर्कले तथा ह्यूम के अनुभववाद से बहुत मिलती-जुलती है।

उपसंहार :—हमलोगों ने प्रारम्भ में कहा है कि दर्शन वैचारिक कला है और कला का जन्म परमसत्ता की पैठ पर निर्भर करता है। पैठ सृजनात्मक धारणा में अभिव्यक्त होकर दर्शन की सृष्टि करता है, परन्तु वेकन की पैठ उतनी गहरी नहीं है। उनका दर्शन गहराई तक पहुँचने में असमर्थ है। उनका दर्शन जीवन के अन्तराल का दार्शनिक चित्रण न होकर जीवन के कुछ वाह्य पक्षों की झाँकी मात्र है। कल्पना के कगारों पर वैठकर दर्शन की सृष्टि का प्रयास दर्शन की केवल भूमिका होकर रह गया। वेकन संतोषप्रद दर्शन की सृष्टि में असफल रहा। जहाँ तक देकार्तीय दर्शन का सवाल है देकार्त की पैठ वेकन की अपेक्षा वहुत ही गहरी और संतोषप्रद है। देकार्त अधुनिक दर्शन के प्रवर्तक और प्रतिभासम्पन्न दार्शनिक थे जो तुलना में वेकन से वहुत ही श्रेष्ठ प्रतीत होते हैं।

सारांश :—

(१) वेकन की मुख्य देन आगमन-विधि है। इसके सम्बन्ध में ये बातें ज्ञातव्य हैं—

(क) सबसे पहले मानस-मुकुर को दुराग्रहों (idolas) से मुक्त कर लेना चाहिये।

(ख) हमें घटनाओं का 'रूप' खोजना चाहिये। 'रूप' का अर्थ है जिसपर अधिकार कर लेने से सभी घटनाओं पर अधिकार हो जाता है।

(ग) 'रूप' को भावात्मक, अभावात्मक तथा अनुक्रमिक सहचार विधि से जानना चाहिये।

(घ) विधि का सार इसी में है कि सभी अनावश्यक लक्षणों को जानकर हम उनका बहिष्कार करें। जो लक्षण नहीं हटाया जा सकेगा, वही 'रूप' होगा। परन्तु बेकनीय विधि सभी अनावश्यक लक्षणों के बहिष्करण पर आधारित होने के कारण व्यर्थ है। फिर इसमें पूर्वकल्पना (hypothesis) का भी स्थान नहीं है।

(२) फिर बेकन में प्रयोजनवाद पाया जाता है जो ज्ञान-मीमांसा पर आधारित न रहने के कारण आधुनिक प्रयोजनवाद से भिन्न है। वेकनीय प्रयोजनवाद कल्पना की उपज है।

(३) बेकन को आधुनिक दर्शन का आदिपिता नहीं कहा जा सकता है, पर यह उसके 'सूत्रधार' अवश्य थे।

रेने देकार्त (सन् १५९६-१६५०)

रेने देकार्त का जन्म फ्रांस के तुरेन नामक स्थान में सन् १५९६ ई० में हुआ। शिक्षा-दीक्षा ईसाई-धर्म के द्वारा हुई। प्रचुर पैतृक सम्पत्ति प्राप्त होने की वजह से बिना किसी नौकरी या पेशा के ही देकार्त ने स्वतन्त्र जीवन निर्वाह किया। ख्याति प्रसिद्ध गणितज्ञ और दार्शनिक होने के कारण स्वेडन की महारानी ख्रिष्टियाना ने इनसे शिक्षा ग्रहण करने के लिए उन्हें आमन्त्रित किया। आप सन् १६४९ में वहाँ गये और उसी साल बीमार हो गये। दूसरे ही वर्ष सन् १६५० ई० के फरवरी में आपका देहान्त हो गया।

देकार्त की दर्शन-विधि (method):—देकार्त अपने समय के सुविख्यात गणितज्ञ थे और यही कारण है कि दर्शन की रचना करने में वे गणितिक विधि से बहुत प्रभावित हुए। गणित में सबसे पहले स्वयंसिद्धों की स्थापना की जाती है और तब उसके आधार पर निगमनात्मक रीति से अन्य निष्कर्ष स्थापित किये जाते हैं। देकार्त ने दर्शन में भी असाक्षात् रूप से इसी प्रणाली का अनुसरण किया है। अतः, हमें जानना चाहिए कि उन्होंने अपनी विधि को किस प्रकार स्पष्ट किया है।

बेकन के समान देकार्त ने भी अनुभव किया कि पुरानी ग्रन्थियों को हटाकर नये सिरे से दर्शन की नींव डालनी चाहिए। उन्होंने नयी विधि तथा प्रणाली की आवश्यकता इसलिए महसूस की कि उनके अनुसार दर्शन केवल मतभेदों का अखाड़ा हो गया था (१)। कोई भी भी ऐसी बात नहीं थी जो विवादग्रस्त न थी। इसलिए देकार्त ने ऐसी विधि स्थापित करनी चाही जिसके आधार पर असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त किया जा सके।

आज देकार्त को हुए तीन सौ वर्ष से अधिक हो गया। परन्तु देकार्त की बातों की मान्यता आज भी है। साम्प्रतिक विचारधारा और देकार्त

---

१ इस विषय में देकार्त ने 'Discourse on Method' में इस प्रकार लिखा है, "Of philosophy I will say nothing, except that when I saw that it had been cultivated of many years by the most distinguished men and that yet there is not a single matter within its sphere which is not still in dispute, and nothing, therefore which is above doubt......".

RENE DESCARTES (1596 to 1650)

के मत में एक बात की समानता है। सम्प्रति भाषा-सुधार और शब्दार्थ-विश्लेषण द्वारा वैज्ञानिक कोटि की ज्ञान-प्राप्ति की बात चलायी जा रही है। वैज्ञानिक मापदण्ड को दर्शन का मापदण्ड बनाकर बहुत अंशों में दर्शनविधि को बदलने का प्रयास किया जा रहा है। देकार्त के दर्शन में भी इन बातों को हम देख सकते हैं। हम देखेंगे कि देकार्त का प्रयास प्रभावशील होने पर भी असफल ही हुआ और समसामयिक भाषा सुधारक भी दर्शन को खोखला करके ही अपने प्रयास में सफल हो सकते हैं। अतः, हमें पाठ सीख लेना चाहिए कि दर्शन-विधि वैज्ञानिक नहीं हो सकती। दर्शन में विज्ञान के समान असंदिग्ध ज्ञान नहीं मिल सकता है। दर्शन वैचारिक कला है और दर्शन की सत्यता जीवन की गहराई तथा व्यापकता सम्बन्धी सूझ से ही आंकी जा सकती है।

देकार्त ने अपनी विधि को अन्वेषण की विधि कहा है, परन्तु इसे इन्द्रियों पर आधारित आगमन-विधि नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें इन्द्रियजन्य ज्ञान की अपेक्षा सहज ज्ञान (Intuition) या अन्तर्सूझ को अधिक स्थान दिया गया है। अन्तसूझ को आधारभूमि में रखते हुए देकार्त ने अपनी सुविधा के लिए इन चार सीढ़ियों का उल्लेख किया है।

(१) जब तक किसी बात को हम स्पष्ट न जान लें तब तक हमें उसे सत्य नहीं स्वीकार करना चाहिए।

यहाँ जानने का अर्थ है अन्तसूझ के द्वारा किसी बात को ग्रहण करना। यदि कोई पूछे कि यह किस तरह से जाना जाता है कि दो या दो से अधिक चीजें किसी एक ही चीज के बराबर हों तो वे एक दूसरे के बराबर होंगी, तो हमें कहना पड़ेगा कि यह हमें स्पष्ट मालूम देता है। इसे हम आँख, कान इत्यादि से नहीं जानते हैं, परन्तु हमारी 'बुद्धि' इसे तुरत ही जान लेती है। परन्तु 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है, क्योंकि बुद्धि किसी प्रकार के ज्ञान को प्रत्यय (concept) या भावना के आधार पर जानती है। पर 'स्वयं-सिद्ध' आदि बातों का ज्ञान हमें साक्षात् रूप से बिना किसी प्रत्यय के आधार पर होता है। इस प्रकार के साक्षात् ज्ञान को अन्तर्सूझ के द्वारा प्राप्त किया जाता है। इन्द्रियज्ञान भी साक्षात् होता है, परन्तु इन्द्रिज्ञान मूर्त्त (concr-

ete) वस्तुओं का होता है, पर सहज ज्ञान (intuitive knowledge) अमूर्त द्रव्य (abstract entity) का भी हो सकता है* ।

देकार्त ने सावधानी ही के लिए पहली सीढ़ी रखी है । हम देखते हैं कि देकार्त के अनुसार जल्दबाजी ही के कारण गलती हो जाती है । इसलिए जल्दबाजी को दूर करने का यही उपाय है कि हम ठान लें कि जब तक कोई चीज एकदम साफ न मालूम दे तब तक हम उसे ग्रहण न करें ।

(२) हमें अपनी कठिनाइयों को यथासम्भव सरल से सरलतम टुकड़ों में बाँट देना चाहिए ।

(३) सरलतम बातों से शुरू करके जटिल (Complex) बातों की ओर क्रमशः बढ़ना चाहिए ।

यहां भी हम देखते है कि देकार्त ने गणित के आदर्श को अपने सामने रखा है । गणित में हम सरल (simple) से प्रारम्भ करके अन्त में अति जटिल की ओर बढ़ते हैं । फिर यह प्रगति निगमनात्मक होती है और इस प्रक्रिया में प्रत्येक प्रगति-पग उसी प्रकार से स्पष्ट होना चाहिए जैसा कि पहला पग रहता है ।

(४) हमेशा हमें अपनी परिगणना (Enumeration) को इतना पूर्ण कर लेना चाहिए कि किसी भी हिस्से के छूट जाने की गुंजाइश न रहे ।

द्वितीय नियम के अनुसार हमें अपनी समस्याओं को टुकड़ों में बाँट लेना पड़ता है और इसलिए यदि हमें अपनी समस्या समझनी है तो हमें किसी भी टुकड़े को नहीं छोड़ना चाहिए । अतः देकार्त के अनुसार हमें इस प्रकार के नियम क्रम (Order) तथा सम्बद्धता को जान लेना चाहिए जिसमें हमारी समस्याओं की सभी बातें अँट जायें । हम देखते हैं कि देकार्त की विचार-

---

**Intuition:*—(Latin 'intuere, to look at)the direct and immediate apprehension by a knowing subject of itself, of its conscious states, of other minds, of an external world, of universals of values or of rational truths. (Runes D. D. The Dictionary of Philosophy)

भूमि में गणित की गहरी छाप थी और वे दर्शन के आधार को गणित-ज्ञान के मापदण्ड से स्थिर करना चाहते थे* ।

सन्देह-विधि (Method of Doubt)

देकार्त ने अपनी सुविधा के लिए चार नियम इसलिए बनाया था कि इनके आधार पर ऐसी सत्यता मिले जो अति सरल तथा असंदिग्ध हो । तो किस प्रकार से असंदिग्ध सत्यता को खोज निकाला जाय ? सबसे साफ बात तो यही मालूम देती है कि हम एक तरफ से सभी बातों को जिन पर सन्देह किया जा सकता है सन्देह करते जायें । अन्त में यदि कुछ ऐसी बात मिल जाय जिस पर सन्देह करने की गुंजाइश न हो तो वह हमारे लिए असंदिग्ध सत्यता हो जायगी । अब देकार्त ने अपनी सन्देह-विधि को सम्बद्ध रीति से काम में लाया है जिसे हम निम्न-लिखित रूप से व्यक्त कर सकते हैं :—

(क) **इन्द्रिय-ज्ञान संदेहात्मक है :**—वास्तविक जीवन में हम अपनी इन्द्रियों से काम लेते हैं और इसी के आधार पर हम जानते हैं कि अमुक वस्तु टेबुल, कुर्सी या मेज है । यद्यपि व्यावहारिक जीवन बिना इन्द्रिय-ज्ञान के संभव नहीं है, फिर भी इसे हम असंदिग्ध नहीं समझ सकते हैं । यह बात अपबोध (Illusion) तथा भ्रम (Hallucination) से स्पष्ट हो जाती है । जब तक रस्सी को हम सांप समझते हैं तब तक रस्सी हमें सांप उसी प्रकार मालूम

---

*स्वयं देकार्त ने 'Discourse on method में लिखा है : "I was specially delighted with the Mathematics, on account of the certitude and evidence of their reasoning : but I had not as yet a precise knowledge of their true use and thinking that they but contributed to the advancement of the mechanical arts, I was astonished that foundations, so strong and solid have had no loftier super-structure reared on them".

फिर चारों विधियों को ध्यान में रखते हुए देकार्त ने लिखा है : "I had little difficulty in determining the objects with which it was necessary to commence, for I was already persuaded that it must be with the simplest and easiest to know and considering that of all those who have hitherto sought truth in the sciences, the mathematicians alone have been able to find any demonstrations, that is, any certain and evident reasons, I did not doubt but that such must have been the rule of their investigations."

देती है जिस प्रकार असलियत में सांप, सांप दिखता है। अतः, इन्द्रियों से हमें धोखा होता है और इसलिये हमें चाहिए कि उस प्रकार के ज्ञान पर पूरा भरोसा न रखें जहां धोखे की गुंजाइश हो।

परन्तु यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि वह वस्तु जो दूर हो या अति सूक्ष्म हो या जहाँ किसी प्रकार का व्यवधान हो वहाँ इन्द्रिय-ज्ञान में धोखा हो सकता है, पर हमें इस पर तो पूरा भरोसा रखना चाहिए कि वह टेबुल जिस पर हैं लिख रहे हैं वास्तव है। यह ठीक है कि चेतना के दृष्टिकोण से वह टेबुल जिस पर हम लिख रहे हैं टेबुल ही दिखता है और यहाँ दूरी, सूक्ष्मता तथा व्यवधान इत्यादि से दोष उत्पन्न होता है। परन्तु स्वप्नों की दशा में भी जो कुछ प्रतीत होता है वह उस समय अकाट्य मालूम देता है, पर वास्तव में स्वप्न-ज्ञान भ्रममय होता है। कौन जानता है कि हमारा यह ज्ञान कि टेबुल जिस पर हम लिख रहे हैं, टेबुल है, स्वप्नवत् भ्रम हो? अतः, यह ठीक है कि कुछ इन्द्रिय-ज्ञान अन्य इन्द्रिय-ज्ञान से अधिक निश्चित हो, पर अन्त में किसी भी इन्यिद्र-ज्ञान पर पूरा भरोसा नहीं हो सकता है।

(ख) वैज्ञानिक ज्ञान भी संशय से खाली नहीं है :—शायद कुछ लोग सोच सकते हैं कि इन्द्रिय-ज्ञान शंकाओं से घिरा हो सकता है, परन्तु वैज्ञानिक ज्ञान को स्पष्ट तथा असंदिग्ध मानना चाहिए। बहुत कुछ अंशों में यह मत सही है और जब गणित की यह बात सोचते हैं कि २ और २ या २ + २ = ४ तो हमें मालूम देता है कि इससे बढ़कर कुछ भी असंदिग्ध ज्ञान नहीं हो सकता है। इसके पहले कि इस प्रकार की गाणतिक सत्यता को हम स्वीकार कर लें, तो हमें इस बात का निर्णय कर लेना चाहिये कि मानव असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त करने के योग्य है या नहीं। हो सकता है कि ईश्वर ने मानव को असंदिग्ध ज्ञान के लिए बनाया ही न हो। फिर यह कौन कह सकता है कि ईश्वर है या नहीं। हो सकता है कि मानव किसी अति धूर्त दैत्य के अधिकार में हो जो मानव को असत्यता को सत्य समझाकर ग्रहण करने में प्रेरित करता हो। अतः, वैज्ञानिक ज्ञान को भी ऐसी दशा में असंदिग्ध नहीं समझा जा सकता है

तो क्या ऐसी कोई चीज नहीं जो असंदिग्ध हो? यदि वास्तव में ऐसी बात है तो क्यों नहीं मान लिया जाय कि संसार में सभी ज्ञान संदेहात्मक है? पर यहाँ पर तो एक पते की बात आ जाती है। मैं सब प्रकार के ज्ञान पर सन्देह प्रगट कर रहा हूँ, पर अब इस पर संदेह नहीं किया जा सकता है कि मैं

सन्देह कर रहा हूँ[1] । ईश्वर या दैत्य ही हमें धोखा देने के लिए क्यों न हो और हम इस समय स्वप्न ही क्यों न देखते हों, परन्तु सन्देह करने के लिए सन्देह-प्रक्रिया का रहना अनिवार्य है और सन्देह-प्रक्रिया विना सन्देही के हो नहीं सकती है । अतः, सन्देह प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है कि सन्देही का अस्तित्व असंदिग्ध हैं । इसलिए मैं सन्देह करता या सोचता हूँ (Cogito ergo Sum)[2] असंदिग्ध ठहरता है । सन्देह कितने ही प्रकार के ज्ञान पर क्यों नहीं किया जाय, पर सन्देह सन्देही का अस्तित्व निर्विवाद रूप से सिद्ध करता है, यह एक ऐसी सत्यता है जो असदिग्ध है और इसी असंदिग्ध ज्ञान से हमें आगे बढ़ना है । परन्तु इसके पहले कि हम जानें कि किस रीति से देकार्त ने इस (Cogito ergo sum) से अपने दर्शन की मुख्य बातें स्थापित की है ।

दर्शन के इतिहास में 'संदेह' सम्बन्धी चर्चा कोई नयी चर्चा नहीं है । कई दार्शनिकों ने इन्द्रिय-ज्ञान और स्मृति की निर्बलता सिद्ध करते हुए बतलाया है कि हम असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते । परन्तु देकार्त की संदेह-विधि उपर्युक्त संदेहवाद से भिन्न है । संदेहवाद देकार्तीय दर्शन का अन्तिम परिणाम नहीं है । असंदिग्ध-ज्ञान प्राप्त करने के लिए संदेह का व्यवहार देकार्त ने विधि मात्र के रूप में किया है । सन्देह देकार्तीय दर्शन का आरम्भ विन्दु है, अन्तिम परिणाम नहीं । अगर सन्देहवाद की स्थापना उनका उद्देश्य होता तो अन्य सन्देहवादियों की तरह वे भी इन्द्रिय और स्मृति की निर्बलता सिद्ध किये होते । परन्तु वात ऐसी नहीं है । सच तो यह है कि असदिग्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने सन्देह-विधि की मदद ली है । सन्देह के माध्यम से जब उन्होंने असंदिग्ध ज्ञान की प्राप्ति की तो उनके दर्शन को सन्देहवादी मानना समीचीन नहीं है । उनका लक्ष्य तो सन्देहवाद के ठीक विपरीत असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त करना है ।

यदि हम देकार्तीय सन्देह को विधिमात्र मान लें, तो यह मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक दोनों हो सकता है । परन्तु देकार्त की सन्देह-विधि मनोवैज्ञानिक न होकर दार्शनिक है और इन दोनों में ये अन्तर हैं ।

---

1 That I doubt cannot be doubted.

2 I think therefore I am.

देकार्तीय सन्देह	मनोवैज्ञानिक सन्देह
(१) यह दार्शनिक विधि है जिसके आधार पर यह निष्पक्ष रूप से मानव अनुभूति की जाँच की जा सकती है। इसमें ऐसा नहीं मालूम देता है कि वास्तव में हमें ज्ञान नहीं मिल रहा है। जब देकार्त कहते हैं कि वह मेज जिस पर हम लिख रहे हैं असंदिग्ध नहीं है तो वास्तव में उन्हें ऐसा नहीं आभासित होता था कि मेज है ही नहीं। यहाँ यदि मेज के विषय सन्देह किया जा सकता तो केवल तार्किक दृष्टिकोण से यह सम्भव हो सकता है।	(१) मनोवैज्ञानिक सन्देह वास्तव में अनुभूत होता है। मान लीजिए कि अन्धेरे में कोई छोटा जानवर हमारे सामने गुजरे और हम ठीक-ठीक बता न सकें कि यह चूहा है या छुछुन्दर, तो यह मनोवैज्ञानिक संदेह होगा और वास्तव में हमें सन्देह अनुभूत होगा। परन्तु देकार्त को टेबुल, कुर्सी इत्यादि के प्रति इस प्रकार का सन्देह नहीं था। वे तो तर्क के आधार सन्देह करने की संभावना दिखला रहे थे।
(२) उपर्युक्त बात से स्पष्ट हो जाता है कि देकार्त का सन्देह उनकी इच्छा पर निर्भर था और उनका सन्देह किसी वस्तु-विशेष के प्रति न होकर सभी वस्तुओं के प्रति प्रयोगात्मक रूप में पाया जाता है।	(२) परन्तु मनोवैज्ञानिक संदेह वस्तु-विशेष के प्रति होता है। जैसे चूहे-छुछुन्दर के उदाहरण में हम देखते हैं और जब इस प्रकार का सन्देह हो जाता है तो हमारी इच्छा के न रहने पर भी यह जारी रहता है। अतः, मनोवैज्ञानिक सन्देह सीमित और वास्तविक होता है।

चूँकि Cogito ergo sum पर देकार्तीय दर्शन आधारित है, इसलिए हमें इसे अच्छी तरह से समझने की कोशिश करनी चाहिए। Cogito (मैं सोचता हूँ) ergo (इसलिए) sum (मैं हूँ) के प्रायः दो खण्ड किये जाते हैं, अर्थात् (क) मैं सोचता हूँ, (ख) मैं हूँ; और इन दोनों को जोड़ने के लिये 'इसलिए' का प्रयोग किया गया है। परन्तु 'मैं सोचता हूँ' इसलिए 'मैं हूँ' इस व्याख्या में गलती होने की गुन्जाइश हो जाती है। प्रायः, लोग समझते हैं कि खण्ड (क) आधारवाक्य है और (ख) इसका निष्कर्ष (Conclusion)। इस प्रकार से (Cogito ergo sum) अनुमित निष्कर्ष हो जाता है। परन्तु वास्तव में 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' यदि अनुमति (Inferred) सत्यता होती तो यह असंदिग्ध नहीं होती, क्योंकि कोई भी

अनुमति अपने सत्यता आधारवाक्यों से सिद्ध की जाती है इस प्रकार हमें बराबर पीछे की ओर हटना पड़ता है और इस अनवस्था (Regressus ad infinitum) का दोष कहते हैं। इसलिए Cogito ergo sum की सत्यता अनुमति नहीं है। फिर हम जानते हैं कि देकार्त वास्तव में इस प्रकार की सरल सत्यता की खोज में थे जिसे सभी व्यक्ति अपनी सहजबुद्धि (Intuition) से तुरत ग्रहण कर लें। इसलिए Cogito ergo sum अन्तर्सूझज्ञान है। यह ठीक है कि ergo या 'इसलिए' का शब्द इसे अनुमान समझ लेने में गड़बड़ी डाल देते हैं। परन्तु 'इसलिए' दो अर्थ के हैं, अर्थात् (i) वह चिह्न जो बताता है कि अनुमान की यह सीढ़ी है और (ii) इसका दूसरा अर्थ होता है कि वाक्य के दो अवियोज्य खंडों में अनिवार्य सम्बन्ध है। देकार्त का 'ergo' बताता है कि सोचने और सोचनेवाले में अनिवार्य सम्बन्ध है। अतः 'इसलिए' अनुमान का नहीं, वरन् अनिवार्य सम्बन्ध का चिह्न है।

फिर (cogito) का अर्थ लगाया गया है 'सोचना या विचारना', परन्तु यहाँ इसका व्यापक अर्थ लेना चाहिए, अर्थात् संवेगात्मक (Emotional) तथा इच्छात्मक (Volitional) प्रक्रिया से भी चिन्तनशील पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध होता है। अतः, देकार्त का अर्थ चेतनामय प्रक्रिया से है और इसलिये व्यापक अर्थ में (cogito ergo sum) से बोध होता है कि चेतन (conscious) प्रक्रिया से चेतनामय 'मैं' का अस्तित्व अवियोज्य रीति से लिपटा हुआ है।

देकार्त की धारणा थी कि स्थायी आत्मा का अनुभव हो सकता है। इसलिए वे सोचते थे कि विचारने या अपनी चेतना या आत्म-निरीक्षण से अपनी स्थायी आत्मा को हम जान ले सकते हैं और इस ज्ञान को वे स्पष्ट और परिस्पष्ट समझते थे। अनुभववादी लैक भी समझते थे कि अहम् का प्रदर्शनात्मक या निश्चयात्मक (demonstrative) ज्ञान संभव है। प्रथम बार ह्यूम ने ही इस भ्रम का पर्दाफाश किया था और समसामयिक विचारधारा के अनुसार इस बात को मान लिया जाता है कि हम अपनी स्थायी आत्मा को अन्तर्निरीक्षण के आधार पर नहीं जान सकते हैं। हमें बस इतना ही भर ज्ञान किसी भी समय होता है कि हम भूखे हैं या प्यासे, थके हैं या ताजे, सुखी हैं या दुःखी हैं, इत्यादि। परन्तु भूख-प्यास, सुख-दुःख इत्यादि की परिवर्तनशील मानसिक प्रक्रियाओं के अतिरिक्त हमें किसी स्थायी आत्मा को चेतना नहीं होती है। इसलिए देकार्त का यह कहना है कि "मैं विचारता हूँ, इसलिए मैं हूँ" सही अन्तर्निरीक्षण के प्रतिवेदन पर आधारित नहीं मालूम देता है।

फिर 'मेरे विचार' और 'मेरे अस्तित्व' के बीच अविभोज्य सम्बन्ध भी नहीं दीखता है। 'विचारना' एक प्रकार का प्रत्यय है। हम एक प्रत्यय (idea) से दूसरे प्रत्यय की ओर प्रगति करते हैं और यह युक्तिसंगत बात है। परन्तु प्रत्यय मात्र से हम किसी वास्तविकता को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। विचारक या 'स्थायी मैं' एक वास्तविकता है और विचारना एक प्रत्यय है। इसलियें विचारने की प्रक्रिया से केवल यही स्थापित हो सकता है कि विचारना एक चेतन-प्रक्रिया है। पर विचारने-मात्र से स्थायी विचारक के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता है। इसलिये Cogito ergo Sum को निर्विवाद तथा असंदिग्ध प्राथमिक सत्यता नहीं माना जायगा।

अपितु, Sum जिसका अनुवाद है 'मैं हूँ' में एक दोष चला आता है। प्राय: देकार्त और उनके बाद अनेक विचारकों ने समझा है कि 'हूँ' या 'अस्तित्व' कोई विधेय है। यह बात देकार्त के सत्तामूलक प्रमाण में फिर देखी जायगी। लेकिन 'होना' धातु वास्तव में केवल संयोजक (Copula) का काम करता है और यह कोई स्वतंत्र विधेय नहीं है। जैसे, हम कहते हैं कि सभी मानव मरणशील हैं। यहाँ 'है' मानव और मरणशीलता के बीच के रहने के सम्बन्ध का बोधक मात्र है और इससे न तो मानव और न मरणशीलता की वास्तविकता सिद्ध होती है। ऐसा रहता तो 'परियाँ सुन्दर नारियाँ हैं' कहने से 'परियों' का अस्तित्व झलक जाता। फिर यदि हम कहें कि "राम है" तो यह वाक्य अधूरा है क्योंकि यहाँ विधेय का लोप कर दिया गया है। इस रिक्त-पूर्क्ति ······

राम है········

के लिये हमें सही विधेय को लिखना चाहिए, जैसे, छात्र, कवि, गायक, दार्शनिक इत्यादि। उसी प्रकार यदि लिखा जाय 'मैं हूँ' तो यह भी अधूरा ही वाक्य कहा जायगा। इसलियें 'मैं हूँ' से किसी वास्तविक या स्थायी आत्मा का बोध नहीं हो सकता है।

वास्तव में देखा जाय तो ऐसा आभासित होता है कि देकार्त समझते थे कि सभी वाक्यों को उद्देश्य-विधेय के ही रूप में लिखा जा सकता है और साथ ही साथ यह कि उद्देश्य कोई स्थायी द्रव्य होता और विधेय उसका गुण होता है। जैसे, हम कहते हैं कि आम पीला है। यहाँ हम समझते हैं कि आम एक द्रव्य है जिसका गुण पीला होना है। इसलिये देकार्त के अनुसार बिना द्रव्य के गुण नहीं हो सकता है। इसलिये यदि विचारने को प्रक्रिया को गुण मान लिया जाय तो हमें विचारक को इसका अनिवार्य द्रव्य मानना पड़ेगा। परन्तु यहाँ देकार्त की भूल है। पहली बात तो यह है कि सभी

वाक्यों को द्रव्य-गुण के पदार्थ के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता है। अनेक ऐसे वाक्य हैं जिन्हें सम्बन्धात्मक कहा जाता है। जैसे, 'सीता हरि की बहन है' या 'तीन दो से अधिक संख्या है' भाई-बहिन या कम-अधिक संबंधों का नाम है, न कि गुण का। फिर यदि कोई वाक्य हो जिसमें 'है' या 'होना' धातु पाया जाय तो वहाँ उद्देश्य या द्रव्य का अस्तित्व शायद ही अभिव्यञ्जित होता है। वहाँ वास्तव में विधेय का ही अस्तित्व अधिक अभिव्यञ्जित होता है। जैसे, यदि हम कहें कि 'यह आम मीठा है।' अब जो वस्तु हमारे सामने है वह आम है या नहीं यह जटिल प्रत्यक्ष है। पर इसकी तुलना में 'मीठा' एक सरल संवेदना है जिसमें संदेह करना कठिन है। फिर यदि हम कहते हैं कि 'आम मीठा है' तो हम आम के अस्तित्व के विषय में किसी को नहीं बताना चाहते हैं, पर मीठेपन की ही ओर लोगों का ध्यान खींचना चाहते हैं। इस लिए यदि 'मैं हूँ' को पूर्ण वाक्य मान भी लिया जाय तो इससे इतना ही भर सिद्ध होता है कि 'हूँ है', अर्थात् 'अस्तित्व है या अस्तित्व'। इससे 'मैं' या स्थायी आत्मा की वास्तविकता कहाँ सिद्ध होती है ?

आगे चलकर रसेलने 'Theory of description' नामक प्रसिद्ध लेख में स्पष्ट किया है कि केवल व्यक्तिवाचक संज्ञा (Proper noun) के सम्बन्ध में ही वास्तविकता संभव है और शेष सभी पद वास्तव में सामान्य पद होते हैं जो केवल प्रत्यय-मात्र हैं। इसलिये 'I' या 'मैं' से इसकी वास्तविकता नहीं सिद्ध होती है क्योंकि यह व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं है।

अब देकार्त के cogito ergo sum से स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञेय (known or object) के पहले 'ज्ञाता' है और 'ज्ञाता के स्वरूप को समझने से हीं 'ज्ञेय' के स्वरूप पर प्रकाश पड़ सकता है। आगे चलकर काण्ट ने भी बताया है कि मानस से प्रकृति-नियम संचालित होता है, अर्थात् mind is the law-giver to things. इसी सत्यता को प्रत्ययवादियों (idealists) ने अपने 'वाद' का मुख्य स्तंभ बनाया है। अन्त में उनके अनुसार मानव मन के स्वरूप से ही समस्त वस्तुओं का स्वरूप जाना जा सकता है।

सामयिक अस्तित्ववाद (existentialism) का कहना है कि सत्यता विषयीगत (subjective) है। परन्तु हमें 'विषयी' की पूरी व्याख्या करनी है और इसके अनुसार पृथक-पृथक ज्ञाता-विशेषों को सत्य विषयी नहीं समझा जा सकता है। वही सत्य विषयी है जिसने अपनी छिपी शक्तियों का पूर्ण विकास किया है। अब जो कुछ भी अस्तित्ववाद की सत्यता हो, इसके मूल में देकार्त का cogito ergo sum छिपा हुआ है।

अतः, देकार्त का cogito ergo sum ह्यूम, काण्ट, हेगेल इत्यादि आधुनिक दार्शनिकों में ही स्थान नहीं रखता है, पर इसका महत्व समसामयिक भी है (१)।

सत्यता की कसौटी (Criterion) :—हमें अब संदेह-विधि के आधार पर एक असंदिग्ध सत्यता मिल गई है, अर्थात् 'मैं सोचता हूँ'। हम इस सरल सत्यता से धीरे-धीरे अन्य जटिल बातों की सत्यता प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु सबसे पहले हमें जानना चाहिये कि वह रचना जो हम इस सरल सत्यता के आधार पर करेंगे वह सही है या गलत। इसे जानने के लिये हमें सत्यता की कसौटी जान लेनी चाहिये। यह हम (cogito ergo sum) से ही प्राप्त कर सकते हैं। हमें ध्यानपूर्वक देखना चाहिये की यह cogito क्यों असंदिग्ध है। यह (cogito) इत्यादि इसलिये सत्य है कि यह स्पष्ट और परिस्पष्ट या परिस्फुट (distinct) है। (clear) या स्पष्ट वह है जिसका अर्थ या बोध हमें साफ-साफ दिख पड़े और परिस्पष्ट वह है जिसका बोध इतना निश्चित हो कि उसे किसी अन्य बातों से मिल जाने का धोखा न हो। इसलिये सभी बातें जो (cogito ergo sum) के समान स्पष्ट और परिस्पष्ट हों वे भी सत्यता की कसौटी के आधार पर हम फिर से जानने की कोशिश करेंगे कि हमारा किस प्रकार का ज्ञान सत्य माना जा सकता है। परन्तु इसके पहले कि हम इस सत्यता की कसौटी को काम में लायें, हमें इसके स्वरूप को समझना चाहिये।

अब कोई बात स्पष्ट 'मनोवैज्ञानिक' रूप से भी हो सकती है और तार्किक रूप से भी हो सकती है। जैसे, हम कह सकते हैं कि पागल को स्पष्ट मालूम देता है कि कोई नाम लेकर उसे पुकार रहा है या हमें स्पष्ट भ्रम होता है कि बालू की ढेर जलाशय है। इस प्रकार की स्पष्टता को मनोवैज्ञानिक स्पष्टता कहते हैं। तार्किक स्पष्टता वह है जिसके व्याघातक (Contradictory) के सत्य होने की कल्पना तक हम न कर सकें। जैसे, यदि हम दो और दो का अर्थ समझे तो हमें मानना ही पड़ेगा कि २ + २ = ४ और इसके व्याघातक के सत्य होने की कल्पना हम नहीं कर सकते हैं। देकार्त ने दोनों प्रकार की स्पष्टता की व्याख्या नहीं की है और इसलिये, लाईबनित्स तथा हेफडिंग ने देकार्त की स्पष्टता तथा परिस्पष्टता की कसौटी को सापेक्ष (relative) तथा

---

(१) देखें Heinemann, F. H. 'Existentialism and its Modern Predicament', अन्तिम अध्याय।

आत्मगत (subjective) रूप में लिया है। उनके अनुसार देकार्तीय स्पष्टता से बोध होता है कि वह बात जो किसी को स्पष्ट दिखे सत्य होगी। परन्तु कोई ऐसी बात नहीं है जो सभी को स्पष्ट दीखती है, इसलिये उन विचारकों के अनुसार देकार्त की कसौटी सही नहीं है। पर बात यह है कि यद्यपि देकार्त ने स्पष्टता की कसौटी की व्याख्या नहीं की है, तोभी जो कुछ उन्होंने इसके विषय में कहा है उससे बोध होता है कि स्पष्टता को उन्होंने तार्किक ही रूप में लिया है।

उन्होंने स्पष्टता के साथ परिस्पटता को भी जोड़ दिया है। और इसकी व्याख्या से साफ मालूम हो जाता है कि देकार्त का मत तार्किक स्पष्टता से था और यह उनके निम्नलिखित उद्धरण से साफ है—

"A clear perception I call that which is present and open to the attendlng mind; just as we say that those things are clearly seen by us which, being present to the regarding eye, move it sufficiently strongly and openly. But that perception is distinct which is not only clear but is so precise and so separated from all others that it plainly contains in itself nothing other than which is clear."

यह ठीक है कि देकार्त की व्याख्या पूर्णतया तार्किक नहीं है और 'स्पष्टता' को उन्होंने मनोवैज्ञानिक माध्यम से व्यक्त किया है। परन्तु चूँकि वे सत्यता की कसौटी को भी उसी अन्तर्सूझ के आधार पर स्थापित करना चाहते थे जिसके द्वारा उन्होंने Cogito ergo sum की स्थापना की थी, इसलिये उनकी व्याख्या पूर्णतया तार्किक नहीं हो पायी है। पर उनका उद्देश्य साफ है कि वे सत्यता की कसौटी को सापेक्ष तथा विषयीगत नहीं बनाना चाहते थे। वे इसे गाणतिक सूझ पर आधारित रखना चाहते थे जिसे तार्किक, न कि मनोवैज्ञानिक, प्रयास समझा जायगा।

हम आगे चलकर देखेंगे कि देकार्त ने स्पष्टता तथा परिस्पष्टता की कसौटी से ईश्वर के अस्तित्व और उसकी सत्यनिष्ठा का निष्कर्ष निकाला है और फिर ईश्वर की सत्यनिष्ठा से बाह्य जगत् की वास्तविकता सिद्ध की है। अतः, देकार्त की दार्शनिक विधि हमें स्पष्ट हो जाती है। यह विधि आगमनात्मक तथा निगमनात्मक दोनों हैं। आगमन-विधि वह है जिसमें नयी बात की खोज और उसकी स्थापना की जाय और निगमन (deduction) में किसी स्थापित सत्यता की गर्भित तथ्यता को निकाल कर परिस्फुटित किया जाय।

चूँकि सहजबुद्धि (intuition) के आधार पर देकार्त ने cogito ergo sum की नयी सत्यता स्थापित की, इसलिये उनकी विधि आगमनात्मक हुई और चूँकि क्रमशः इसी cogito ergo sum से उसके अन्तर्गत छिपी हुई सत्यता की कसौटी निकाली और उस कसौटी के आधार पर अन्य बातों की स्थापना की, इसलिये उनकी विधि निगमनात्मक भी कही जाती है। फिर भी देकार्त की आगमन-विधि पूर्णतया वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि देकार्तीय-विधि में इन्द्रिय-ज्ञान की चर्चा ही नहीं की गई है। यह ठीक है कि वैज्ञानिक आगमन में गणित का स्थान रहता है परन्तु गाणतिक विवरण को बिना इन्द्रिय-ज्ञान से सम्बद्ध किये हुए विज्ञान नहीं संभव होता है। अतः, देकार्त की विधि दार्शनिक है, न कि वैज्ञानिक। परन्तु यह वह दार्शनिक विधि है जो विज्ञान के गाणतिक अंग से प्रभावित कही जा सकती है।

ईश्वर का अस्तित्व (existence) :—हमें सत्यता की कसौटी मिल गयी है और इसलिये हम सब प्रकार की भावनाओं (ideas) (*) की जाँच कर सकते हैं। भावनायें तीन प्रकार की होती हैं, अर्थात् आत्मजात (innate), स्वरचित अथवा कल्पना-रचित और बाह्य जगत् से उत्पन्न। परन्तु इन सब प्रकार की भावनाओं में आत्मजात भावनायें प्रमुख हैं और सभी आत्मजात भावनाओं में एक ऐसी भावना होती है जो अति महत्वपूर्ण मालूम होती है। इसी अति महत्वपूर्ण आत्मजात भावना का सम्बन्ध एक ऐसी सत्ता से है जो शाश्वत, पूर्ण, सर्वज्ञानी, सर्वव्यापक है और सभी सत्यता और अच्छाई का धाम है। इस भावना की व्याख्या किस प्रकार की जाय? यदि पूर्ण सत्ता की भावना हमारे अन्दर हो तो इस भावना को किस शक्ति ने हमारे अन्दर उत्पन्न किया है? कम-से-कम कार्य के बराबर ही कारण को भी सबल होनी चाहिये। मैं इस भावना को अपने से नहीं रच सकता हूँ क्योंकि मैं अपूर्ण हूँ। अतः, इस पूर्ण सत्ता की भावना को पूर्ण तथा परम सत्ता ही ने मुझमें उत्पन्न किया है और इसलिये अवश्य ही पूर्ण और परम सत्ता जिसे हम ईश्वर कहते हैं वास्तविक सत्ता है।

ईश्वर के अस्तित्व के उपर्युक्त प्रमाण को कारणिक या कारण सम्बन्धी (causal) प्रमाण कहते हैं क्योंकि यह परम सत्ता की भावना के कारण-कार्य सिद्धान्त पर आधारित है। इस कारणिक प्रमाण के अतिरिक्त देकार्त ने विश्व-सम्बन्धी

---

(१) Idea और Concept के बीच प्रायः अन्तर किया जाता है। Concept विशेषतया जाति के प्रति भावना को कहते हैं। अतः, भावना प्रत्यय Concept से अधिक व्यापक है। यथासंभव 'भावना' को idea के लिये और 'प्रत्यय' को 'Concept' के लिये काम में लाया गया है। परन्तु इस भेद को ध्यान में रखना कठिन है।

(cosmological) प्रमाण भी दिया है। इस प्रमाण के अनुसार हमें जानना है कि किसने मेरी, मेरे पिता-माता तथा अन्य वस्तुओं की रचना की है। स्वयं मैं अपना सृष्टिकर्ता नहीं हो सकता हूँ यदि मैं अपनी सृष्टि स्वयं करता तो मैं अपने को पूर्ण बनाता क्योंकि मुझमें पूर्णता (perfection) की भावना है। फिर यदि मैं अपनी सृष्टि स्वयं करता तो इससे स्पष्ट होता है कि मैं अपनी सृष्टि से पूर्व होता, तभी तो मैं अपने को रचता ? अतः, यह अमान्य है कि मैंने अपनी सृष्टि की है। तो क्या मेरे माता-पिता ने मेरी सृष्टि की है ? यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वे मेरे जीवन की पूरी संरक्षा नहीं कर सकते, और फिर तो यह प्रश्न उठता है कि उन्हें किसने पैदा किया है। अतः, माता-पिता को अपना सृजनहार मान लेने से सृष्टिसम्बन्धी समस्या एक पग पीछे अवश्य टल जाती है, पर इससे इसका समाधान नहीं होता है। अतः, मेरी, मेरे माता-पिता तथा अन्य वस्तुओं की सृष्टि-सम्बन्धी समस्या का समाधान हम यदि अनवस्था दोष से बच कर करना चाहें तो मानना पड़ेगा कि एक स्वयंभू, पूर्ण ईश्वर है जिसने विश्व की सभी वस्तुओं की सृष्टि की है।

परन्तु देकार्त के 'कारणिक' तथा विश्व सम्बन्धी प्रमाण में कोई विशेषता नहीं है यदि इनके दिये गये प्रमाण में कोई विशेषता है तो वह तात्त्विक या तत्व-सम्बन्धी (ontological) प्रमाण है। इस तात्त्विक प्रमाण के अनुसार भावना और तदनुरूप अस्तित्व (Existence) में अवियोज्य सम्बन्ध है। इस प्रमाण के सार को इस प्रकार दिखाया जा सकता है।

हमारे अन्दर पूर्ण सत्ता की भावना है और फिर तो इसके अनुरूप पूर्ण सत्ता का अस्तित्व भी अवश्य होना चाहिये। यदि पूर्णसत्ता की भावना काल्पनिक रचना मात्र हो, अर्थात् उसके अनुरूप कोई वास्तविक सत्ता न हो तो उस काल्पनिक भावना को पूर्ण सत्ता की भावना नहीं कही जा सकती। अनुरूप वास्तविक सत्ता के अभाव का मतलब ही हो जाता है पूर्णता की कमी। पूर्णता और अभाव दोनों एकसाथ नहीं हो सकते। इस प्रकार पूर्ण सत्ता की भावना दो तरह की हो सकती है; (१) उस पूर्ण सत्ता की भावना जिसके अनुरूप वास्तव में पूर्ण सत्ता है, और (२) उस पूर्ण सत्ता की भावना जिसके अनुरूप वास्तव में कोई सत्ता है नहीं। देकार्त का कहना है कि वही पूर्ण सत्ता की भावना वस्तुतः 'पूर्ण सत्ता की भावना' है जिसके अनुरूप सत्ता का भाव भी है, अर्थात् जिसका अस्तित्व है। जिसके अनुरूप सत्ता का भाव नहीं है, या अस्तित्व नहीं है, अर्थात् जो काल्पनिक रचना मात्र है, वह पूर्ण सत्ता की

भावना' नहीं है, क्योंकि अवास्तविक सत्ता अपूर्ण होती है। पूर्ण सत्ता को अवास्तविक समझना, उसे अस्तित्वहीन मानना आत्मविरोध के सिवा और कुछ नहीं है। देकार्त ने ज्यामिति से उदाहरण देते हुए इसकी पुष्टि की है। यदि कोई त्रिभुज है तो मानना ही पड़ेगा कि इसके तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होगा। ऐसा होना अनिवार्य है। इसमें कोई आनाकानी नहीं हो सकती। किसी आधार को सत्य मानकर नियमानुकूल उसके व्युत्पन्न निष्कर्ष को असत्य करार नहीं दिया जा सकता। दूसरे शब्दों में यदि हम कोण, त्रिभुज और ज्यामिति की परिभाषा को स्वीकार कर लें तो हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होगा। ठीक उसी प्रकार 'पूर्ण सत्ता की भावना' अगर हम स्वीकार कर लेते हैं तो हमें अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि पूर्ण सत्ता वास्तविक है; उसका अस्तित्व है। इसलिए पूर्ण सत्ता का अस्तित्व इसकी भावना से अनिवार्य रूप से सिद्ध होता है।

देकार्त क तात्त्विक प्रमाण मध्ययुगी अन्सेलम की युक्ति से बहुत मिलता है। इसलिये आलोचकों ने देकार्त के तात्विक प्रमाण को अन्सेलम की नकल कहा है। अत:, हमें इन दोनों की युक्तियों को संक्षेप में दिखला देना चाहिये। अन्सेलम का प्रमाण इस प्रकार है : "यह सर्वमान्य है कि ईश्वर-भावना सभी प्रत्ययों में सर्वोच्च है। अब वह जो केवल विचार में ही सत्य हो उससे उच्चतर वह है जो विचार और यथार्थ दोनों में सत्य हो। अत:, ईश्वर सर्वोच्च होने के कारण विचार और यथार्थ दोनों में है। इसलिये ईश्वर यथार्थ में परम सत्ता है। अब देकार्त के अनुसार अन्सेलम की युक्ति ईश्वर की वास्तविकता को सर्वोच्च प्रत्यय पर आधारित कर देती है, अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व मानव भावना पर निर्भर हो जाता है। परन्तु देकार्त का कहना है कि इनकी युक्ति के अनुसार ईश्वर के भाव या अस्तित्व पर ईश्वर-भावना निर्भर करती है, अर्थात् ईश्वर इसलिये नहीं है कि हमें उसकी भावना है, पर हममें उसकी भावना इसलिये है कि वह वास्तविक सत्ता है। देकार्त की ईश्वर-सम्बन्धी युक्ति इस प्रकार है : "जिस किसी वस्तु के तत्व या सार (Essence) तथा रूप (Form) को हम स्पष्टतया तथा परिस्पष्टतया देखते हैं कि वह उस वस्तु में है तो हम उस वस्तु के प्रति उस तत्व तथा परिस्पष्ट रूप का विधान कर सकते हैं। अब हम स्पष्ट तथा परिस्पष्ट रूप से देखते हैं कि वास्तविकता ईश्वर

के रूप में ही निहित है। इसलिये उचित रीति से हम ईश्वर के अस्तित्व को मान ले सकते हैं।"(१)

देकार्त की ईश्वरसम्बन्धी तात्विक युक्ति की प्रारम्भ से ही आलोचना होती आयी है। काण्ट ने इस युक्ति की आलोचना करते समय बताया है कि प्रत्यय और अस्तित्व में बड़ा भेद है और केवल प्रत्यय के आधार पर किसी वस्तु की वास्तविकता सिद्ध नहीं की जा सकती है। मैं सोच सकता हूँ कि इस समय मेरी जेब में रु० १०० हैं पर रु० १०० के विचार कर सकने की क्षमता से सिद्ध नहीं होता है की वास्तव में मेरी जेब में रु० १०० हैं। यदि विचार-मात्र से वास्तविकता हो जाती तो भिखारी महलों में रहते और लंगड़े हिमालय की चोटी पर पहुँच जाते। हमारा विचार कितना संगत और उच्च क्यों न हो, इसके अनुरूप वास्तविकता का रहना सिद्ध नहीं होता है। अतः, पूर्ण सत्ता की वास्तविकता सिद्ध नहीं होती है। काण्ट की यह आलोचना यथा-स्थान विस्तारपूर्वक देखी जायगी। काण्टीय आलोचना के विरुद्ध कुछ लोगों ने देकार्त के मत की पुष्टि की है। उनका कहना है कि काण्ट की यह आलोचना कि विचारमात्र से वास्तविकता सिद्ध नहीं होती, साधारण वस्तुओं में लागू होती है। यदि कोई कुर्सी, मेज, किताब इत्यादि के अस्तित्व को उनकी भावना से प्राप्त करना चाहे तो इन प्रत्यालोचकों का कहना है कि इन वस्तुओं के प्रसंग में काण्ट की आपत्ति सही है। परन्तु काण्ट की आपत्ति पूर्ण सत्ता के सम्बन्ध में ठीक नहीं है, क्योंकि यदि पूर्ण सत्ता की भावना केवल कल्पना-मात्र हो जाय तो विचार और परम सत्ता के बीच ऐसी खाई हो जाती है कि विचार के द्वारा सत्ता को जानना असंभव हो जायगा। अतः, आलो-चकों का कहना है कि पूर्ण सत्ता की भावना और उसकी वास्तविकता अवि-योज्य रीति से लिपटी हैं और यहाँ भावना से वास्तविकता सिद्ध मानी जा सकती है।

हम काण्ट के दर्शन के प्रसंग में देखेंगे कि प्रत्यय से प्रात्ययी (Con-ceptual) सत्ता सिद्ध हो सकती है और इसलिये पूर्ण सत्ता की भावना

---

(1) whatever we clearly and distinctly perceive to belong to the true and the unalterable nature of anything, to its essence, its from, that may be predicated of it. Now we find on investigating God, that existence belongs to his true and unalterable nature, and therefore, we may legitimately predicate existence of God."

से उसकी भावनामात्र सिद्ध हो सकती है। देकार्त ने ज्यामितिक तर्क की उपमा दी है, परन्तु ज्यामितिक तर्क वास्तविकता सिद्ध नहीं करता है। यदि हम वास्तव में किसी भी यथार्थ त्रिभुज को लें तो हम पायेंगे कि इसके सभी कोण मिलकर ठीक दो समकोण के बराबर नहीं होते हैं। ज्यामितिक तर्क की सत्यता परिभाषात्मक (definitional) होती है। यह मानना कि प्रत्यय से ही वास्तविकता टपकती है, प्रत्ययवादियों का भ्रान्तिपूर्ण सिद्धांत है। अतः हेगेल का कहना है कि युक्तिपूर्ण ही वास्तविक है और वास्तविक युक्तिपूर्ण है (१)। इस कथनानुसार यदि कोई धूर्त अपनी कथा को युक्तिपूर्ण बना ले तो उसे सत्य मान लेना चाहिये। परन्तु हम जानते हैं कि युक्तिसंगत होने पर भी जासूसी कथा वास्तविक नहीं मानी जाती है।

काण्ट की आपत्ति समसामयिक अस्तित्ववादियों (existentialists) के मत से भी पुष्ट होती है। अस्तित्ववाद के जन्मदाता किर्कगोर्ड (Kirkegaard) माने जाते हैं और उन्होंने हेगेल के दर्शन की समालोचना करते समय कहा था कि अस्तित्व सबसे पूर्व तथा परम सत्ता है। विचार अस्तित्व को सिद्ध न कर स्वयं विचार ही अस्तित्व से सिद्ध होता है। यही बात समसामयिक तार्किक अनुभववादी (logical empiricist) भी मानते हैं। अतः, देकार्त की तात्विक युक्ति वर्तमान-काल में भी किसी-न-किसी रूप में जीवित है और इसलिए इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है।

यदि ईश्वर है तो धोखा नहीं दे सकता है। ऐसा नहीं हो सकता है कि मानव जिस बात को स्पष्ट तथा परिस्पष्ट जानें वह मिथ्या हो। यदि ऐसा बात हो तो मानव का सृजनहार ईश्वर धोखेबाज ठहरेगा, परन्तु ईश्वर पूर्ण होने के कारण सत्यनिष्ठ (Veracious) है। अतः, हम पाते हैं कि ईश्वर की सत्यनिष्ठा पर स्पष्टता तथा परिस्पष्टता की ज्ञान-कसौटी आधारित है और इस ज्ञान-कसौटी से ही सब प्रकार के ज्ञान की स्थापना होती है। इसलिए देकार्त का दर्शन ईश्वर की सत्यनिष्ठा पर आधारित है।

इसलिए कहा गया है कि देकार्तीय दर्शन ईश्वर-केन्द्रित (Theocentric) है। परन्तु फिर भी देकार्त का ईश्वर-केन्द्रित दर्शन, मध्ययुगी दर्शन से भिन्न है जो यथार्थ में ईश्वर-केन्द्रित था। मध्ययुग में ईश्वर धर्मविश्वास का पात्र था, परन्तु देकार्त का ईश्वर तत्त्वमीमाँसा की सत्ता है।

---

(1) The rational is real and the real is rational.

देकार्तीय ईश्वर की न पूजा होती है और न इसका कोई पुजारी है। देकार्त की विचार-परम्परा के अनुसार विश्व बौद्धिक रचना है जिसे मानव अपनी बुद्धि से जान सकता है। अतः, देकार्त ने ईश्वर की सत्यनिष्ठा से मानव ज्ञान-क्षमता का बोध कराया है (१)।

यहाँ पर आलोचकों का कहना है कि देकार्त की युक्ति में चक्रानुमान (Arguing in a circle) पाया जाता है क्योंकि ज्ञान-कसौटी के आधार पर पूर्ण ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया गया है और फिर पूर्ण ईश्वर के आधार पर ज्ञान-कसौटी की सत्यता सिद्ध की गयी है। परन्तु इस आलोचना का प्रत्युत्तर करते हुए देकार्त ने बताया है कि यहाँ कोई चक्रानुमान नहीं है। ईश्वर का अस्तित्व तत्त्वमीमांसा की भेंट है और ज्ञान-कसौटी ज्ञान-मीमांसा की वस्तु है। हमारे ज्ञान की वस्तु हमारे ज्ञान से पहले पायी जाती है और ज्ञान-वस्तु मानव-ज्ञान से उत्पन्न नहीं होती है। परन्तु किसी भी वस्तु को जानने के लिए मानव को अपने ज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। अतः, ज्ञान प्राप्ति के दृष्टिकोण से ज्ञान-कसौटी पहले आती है; और जब ज्ञान-कसौटी सिद्ध हो जाती तब ज्ञान-वस्तु को स्थिर किया जाता है। इसी तर्क के अनुसार ज्ञान-कसौटी पहले आयी है और तब इसके द्वारा पूर्ण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। ज्ञान से विश्व-तत्त्व सिद्ध नहीं होता है, पर परम तत्त्व से ही मानव ज्ञान और सभी वस्तुओं की सत्यता सिद्ध होती है। अतः, ज्ञान-कसौटी का भी आधार तात्त्विक सत्ता है। इस प्रकार पूर्ण ईश्वर की सत्ता ही अन्तिम ज्ञान-कसौटी का आधार है। इसलिए ईश्वर-सत्ता-संबन्धी ज्ञान की प्राप्ति में ज्ञान-कसौटी पहले आती है और तब इस ज्ञान-कसौटी की तात्त्विक सत्ता सिद्ध करने के लिए पूर्ण ईश्वर की मदद ली जाती है। अतः, यहाँ किसी प्रकार का चक्रानुमान नहीं है।

देकार्त की उपर्युक्त युक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि आप बुद्धिवादी अवश्य थे, पर आप प्रत्ययवादी नहीं थे। आपके अनुसार वस्तु का अस्तित्व मानव ज्ञान से स्वतन्त्र है। ईश्वर और अन्य तात्विक सत्तायें मानव ज्ञान से परे तथा स्वतन्त्र हैं। इसलिये ज्ञानमीमांसा तत्वमीमांसा पर निर्भर करती है और यह वस्तुवाद (realism) का एक मौलिक सिद्धांत है परन्तु प्रत्ययवाद के अनुसार तत्वमीमांसा ज्ञान-मीमांसा पर आधारित होता है।

---

(1) Ultimately the veracity of God means that the world is rational which the human intellect can penetrate.

यद्यपि देकार्तीय ईश्वर मध्ययुगी धर्म-विश्वास का ईश्वर है, फिर भी इसका प्रत्यय स्पष्ट नहीं है। जब देकार्त कहते हैं कि सभी वस्तुएँ ईश्वर पर निर्भर करती हैं तो यहाँ ईश्वर परम सत्ता (absolute) के रूप में आता है। फिर जब देकार्त बताते हैं कि ईश्वर पूर्ण तथा सत्यनिष्ठ है तो इसमें ईसाई धर्म के देवता की झलक आ जाती है। अतः, ईश्वर-सम्बन्धी अनिश्चित तथा अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग से देकार्त के दर्शन में गड़बड़ी आ गयी है।)

बाह्य जगत् सम्बन्धी विचार :—अभी तक हमलोगों ने देखा है कि हमें केवल अपनी आत्मा और ईश्वर ही का निश्चित ज्ञान हो सकता है। पर इनके अतिरिक्त हम कुर्सी, मेज, पेड़-पौधे इत्यादि वस्तुओं को भी जानते हैं। इन वस्तुओं को हम बाह्य जगत् की वस्तु समझते हैं। तो क्या देश-काल, रूप-रंग, गरम, ठंढा इत्यादि बाह्य वस्तुओं के यथार्थ गुण हैं? फिर इनकी वास्तविकता का क्या प्रमाण है? गरम, ठंढा, रूप-रंग इत्यादि इन्द्रिय-जन्य संवेदनायें (Sensations) हैं और हमलोगों ने देकार्त की संदेह-विधि के प्रसंग में देखा है कि इन्द्रियाँ हमें वंचना में डाल देती हैं और इसलिये इन्द्रियों पर भरोसा रखकर हम उन्हें वास्तविक गुण नहीं समझ सकते हैं। तो क्या बाह्य जगत-सम्बन्धी सभी वस्तुएँ भ्रमात्मक हैं? नहीं, हमें केवल जानना है कि जगत् की कौन-कौन बातें स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हैं और कौन बातें अस्पष्ट हैं। जो बातें स्पष्ट तथा परिस्पष्ट होंगी वे ही बातें बाह्य जगत् के सम्बन्ध में सत्य समझी जा सकती हैं। जगत् के सम्बन्ध में हमें केवल एक बात सामान्य रूप से (In general) स्पष्ट तथा परिस्पष्ट मालूम देती है और वह यह है कि एक बाह्य जगत् है जिसमें अनेक वस्तुएँ पायी जाती हैं और जिनसे हमारे रूप-रंग, सर्दी-गर्मी इत्यादि की संवेदनायें उत्पन्न होती हैं। अतः, बाह्य जगत् की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। मान लिया जाय कि बाह्य जगत् की स्वतन्त्र सत्ता न हो तो हमें मानना पड़ेगा कि बाह्य जगत् में पायी जानेवाली सभी वस्तुएँ और उनके गुण या तो मानव आत्मा से या ईश्वर से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु यदि वस्तुएँ और उनके गुण आत्मा से या ईश्वर में हों और हमें स्पष्ट तथा परिस्पष्ट मालूम दे कि ये बाह्य जगत् में हैं तो यह वंचना हो जायगी और तब हमारा सृजनहार ईश्वर, जिसने हमारा स्वरूप ऐसा बना दिया है कि स्पष्ट तथा परिस्पष्ट ज्ञान में भी धोखा हो जाय, बंचक या धोखेबाज हो जायगा। परन्तु हमलोगों ने देखा है कि पूर्ण ईश्वर सत्यनिष्ठ है और इसलिये उसकी सृष्टि में धोखे की गुंजाइश नहीं है। इसलिये ईश्वर की सत्यनिष्ठा

पर भरोसा रखते हुए हम कह सकते हैं कि हमारे स्पष्ट तथा परिस्पष्ट ज्ञान के अनुरूप बाह्य जगत् स्वतन्त्र रूप में सत्य है।

यहाँ हम देखते हैं कि देकार्त ने केवल यही सिद्ध किया है कि बाह्य जगत् की अपनी स्वतन्त्र तथा वास्तविक सत्ता है, परन्तु इतने से ही बाह्य जगत् का ज्ञान पूरा नहीं होता है क्योंकि वैज्ञानिक ज्ञान में हमें यह भी जानना चाहिये कि अमुक वस्तु और उसका गुण हम वास्तविक रीति से जानते हैं या नहीं। इस सम्बन्ध में देकार्त का विचार साफ नहीं है, परन्तु इसकी आलोचना बाद में की जायगी। दूसरी बात यह है कि बाह्य जगत् की स्वतंत्र सत्ता का प्रमाण बनावटी दीखता है। यदि साक्षात् रीति से बाह्य जगत् की सत्ता प्रमाणित नहीं हो सकती, तो 'ईश्वर' भी इसे हमारे लिये सिद्ध नहीं कर सकता है। देकार्तीय दर्शन के अनुसार 'ईश्वर' और 'जगत्' में किसी प्रकार का आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है और इसलिये ईश्वर की सत्यनिष्ठा पर आधारित बाह्य जगत् की स्वतन्त्र सत्ता का प्रमाण भी बाह्य है और इसलिये इस प्रमाण में Deus ex machina (१) का दोष कहा गया है।

हमलोगों ने पहले ही देखा है कि देकार्त वस्तुवादी (Realist) थे और वे मानते थे कि कुर्सी, मेज इत्यादि वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता है और वे इन्हें पदार्थ (Substance) मानते थे। इनके अनुसार पदार्थ वह है जिसकी अपनी निजी सत्ता हो और जो अपनी सत्ता के लिए किसी अन्य वस्तुओं पर निर्भर न हो (२)। इस अर्थ में सांसारिक वस्तुओं को वास्तव में 'पदार्थ' नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ये वस्तुएँ एक दूसरे पर निर्भर करती हैं। अतः, केवल ईश्वर ही एक मात्र पदार्थ हो सकता है। इस अर्थ में ईश्वर ही एकमात्र पदार्थ (absolute substance) है, परन्तु साथ ही साथ देकार्त ने आत्मा तथा जगत्, मन तथा शरीर को भी गौण अर्थ में दो स्वतन्त्र पदार्थ माना है। आत्मिक तथा भौतिक पदार्थ परम नहीं हैं क्योंकि दोनों को ईश्वर पर निर्भर रहना पड़ता है। हमलोगों ने पहले ही देखा है कि आत्मा का सारगुण जो स्पष्ट तथा परिस्पष्ट रीति से मालूम होता है, 'चेतना' (consciousness) है। पर बाह्य

(१) यह वह दोष है जिसमें दो वस्तुओं में बाह्य लगाव के आधार पर सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय। Deus का अर्थ है 'दो' ex का माने हैं 'बाह्य' या 'बाहर से' और machina का अर्थ है 'साधन' या machinery। अतः, यह हुआ द्विमध्य बाह्य-कारण दोष।

(२) A substance is that which exists by itself and the existence of which does not need the existence of anything else.

जगत् का क्या सारगुण है ? देकार्त के अनुसार भौतिक जगत् का सारगुण जो स्पष्ट तथा परिस्पष्ट है, 'विस्तार' (extension) कहा जा सकता है। चेतना तथा विस्तार की अनेक उपावस्थाएँ (modifications) पायी जाती हैं। जैसे, रूप या आकार तथा गति विस्तार का उपगुण या प्रकार (modes) हैं। उपगुण या प्रकार बिना पदार्थ तथा सारगुण (attributes) के संभव नहीं हो सकता है, पर पदार्थ तथा सारगुण बिना उपगुण के संभव हो सकते हैं। देकार्त के इन सब मतों की गहरी छाप स्पिनोजा पर पड़ी है जहाँ इन सब परिभाषाओं को उग्ररूप में लिया गया है।

परन्तु भौतिक जगत् के विस्तार के अतिरिक्त हम इसमें रंग, घ्राण, ताप इत्यादि अन्य गुण भी पाते हैं, तो हम इन्हें किस श्रेणी में रख सकते हैं ? यहाँ पर देकार्त के गुणों को प्राथमिक (primary) तथा अप्राथमिक या गौण (secondary) दो विभागों में बाँटा है। प्राथमिक गुण वह है जिसे हम स्पष्ट तथा परिस्पष्ट रूप से देखते हैं, अर्थात् जिसे हम गाणतिक रूप दे सकते हैं। इस अर्थ में विस्तार, आकार, गति, काल तथा संख्या (number) प्राथमिक गुण हैं। गौण गुण अस्पष्ट हैं और रंग, घ्राण, ताप, ठंढ, इत्यादि को इसके अन्तर्गत गिना जाता है। प्राथमिक गुण ही वस्तुओं में पाये जाते हैं, पर गौण गुण आत्मनिष्ठ या विषयीगत (subjective) होते हैं।

विस्तार को ही भौतिक पदार्थ का एक मात्र सारगुण मान लेने से देकार्त के प्रकृतिदर्शन में कई विशेषतायें आ जाती हैं। जहाँ दिक् (space) होगा वहाँ विस्तार का होना भी अनिवार्य माना जायगा क्योंकि विस्तार सारगुण है। अतः, देकार्त के अनुसार कहीं भी शून्यता (Vacuum) नहीं हो सकती है। चूँकि भौतिक पदार्थ का सारगुण विस्तार है और विस्तार का असंख्य विभाजन हो सकता है। अतः, देकार्त के अनुसार अछेद्य तथा अभेद्य अणु की संभावना नहीं हो सकती है। फिर चूँकि विस्तार निष्क्रिय (passive) गुण है इसलिये इसमें अपनी गति नहीं उत्पन्न हो सकती है। यदि इसमें गति होगी भी तो वह यान्त्रिक धक्के से ही उत्पन्न हो सकती है। परन्तु निष्क्रिय विस्तारमय भौतिक जगत में यान्त्रिक धक्का उत्पन्न कैसे हुआ ? यहाँ भी देकार्त ने बनावटी व्याख्या की मदद ली है। उनके अनुसार ईश्वर ने सृष्टि के समय ही विश्व में यान्त्रिक गति उत्पन्न की है और तब से विश्व में गति जारी है।

देकार्तीय भौतिकशास्त्र-विचार अधिकांश अब अमान्य है, पर गति के सम्बन्ध में देकार्त का विचार वर्त्तमानकालिक सापेक्षता सिद्धान्त (The

theory of relativity) की पूर्वछाया मालूम देता है। देकार्त के अनुसार गति सापेक्ष है। चलते हुए जहाज पर स्थिर यात्री के लिये जहाज स्थावर है, पर नदी के तट पर बैठे हुए व्यक्ति के दृष्टिकोण से यह गतिशील है।

देकार्त के अनुसार जगत् भौतिक है जिसमें केवल यान्त्रिक गति ही हो सकती है। इसलिये वाह्य जगत् की सभी वस्तुएं यान्त्रिकीय नियमों से ही स्पष्ट की जा सकती हैं। पशुओं को भी जटिल यन्त्र समझना चाहिये और उनकी प्रक्रियाएं आत्म संचालनवाद (automaton theory) के आधार पर स्पष्ट की जा सकती है। देकार्त के इस मत के प्रभाव में आकर पशुविच्छेदन (animal vivisection) में विशेष प्रगति हुई और प्रति-क्षप-प्रक्रिया (reflex acts) की अच्छी जानकारी हुई। पशुओं के प्रति यन्त्रवाद के सिद्धांत को मानने के कारण इसमें व्यवहारवाद की पूर्वछाया देखी जाती है।

मन तथा शरीर, आत्मा तथा भौतिक पदार्थ का द्वैतवाद:—देकार्त ने सन्देह-विधि के आधार पर पाया कि आत्मा का मुख्य गुण चेतना है और चेतना के स्वरूप को जानने के लिए किसी अन्य प्रकार के पदार्थ-ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती है। उसी प्रकार से भौतिक पदार्थ का सारगुण विस्तार है और विस्तार की सत्ता चेतना की सत्ता से परे तथा स्वतन्त्र है। अतः, मन तथा शरीर, आत्मा तथा भौतिक पदार्थ दो प्रकार की, एक दूसरे से परे तथा स्वतन्त्र सत्तायें हैं। इसलिए देकार्त के दर्शन को द्वैतवाद (dualism) कहा जाता है।

इस द्वैतवाद के अनुसार मानव शरीर भौतिक पदार्थ है जिसकी व्याख्या यान्त्रिकीय (mechanical) नियमों के आधार पर की जा सकती है। परन्तु मानव में आत्मा भी है जो शरीर के यान्त्रिकीय नियमों से संचालित नहीं होती है। अब यदि शरीर तथा आत्मा का स्वरूप एक दूसरे के विपरीत हो तो मानव प्रक्रियाओं की व्याख्या किस प्रकार से की जा सकती है? मानव, शरीरधारी आत्मा है या आत्मामय शरीर है। मन तथा शरीर के सम्बन्ध में क्रिया-प्रतिक्रियावाद अथवा अन्योन्य-क्रियावाद (interaction-ism) या उनके बीच समानान्तरवाद का (parallelism) सिद्धांत लागू हो सकता है। मन तथा शरीर के आपसी सम्बन्ध में इनके अतिरिक्त अन्य सिद्धांत भी हो सकते हैं, परन्तु देकार्त मन तथा शरीर के आपसी सम्बन्ध के प्रति

कभी अन्योन्यक्रियावाद और कभी समानान्तरवाद की ओर झुके हुए दीखते हैं। जब वे शारीरिक प्रक्रियाओं की व्याख्या यान्त्रिकीय नियमों के आधार पर करते हैं और चेतन की व्याख्या आत्मा के स्वरूप ही पर आधारित करते हैं तो इसमें समानान्तरवाद दीखता है। समानान्तरवाद के अनुसार मन तथा शरीर दोनों की अपनी प्रक्रियायें एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं और शरीर की व्याख्या शारीरिक नियमों से और मानसिक प्रक्रियाओं की व्याख्या आत्मिक नियमों के आधार पर होती है। अब यह ठीक है कि शारीरिक प्रतिक्षेपों (reflexes) की व्याख्या बिना चेतना की मदद से की जा सकती है। जैसे नाक में नस के पड़ने पर हम चाहें या न चाहें, छींक आयगी ही। छींकने के प्रतिक्षेप में चेतना का कोई हाथ नहीं दीखता है। उसी प्रकार स्पष्ट तथा परिस्पष्ट चेतना की व्याख्या के लिए शारीरिक प्रक्रियाओं की अवहेलना की जा सकती है। समसामयिक मनोविज्ञान तथा दर्शन में भी कुछ ऐसे विचारक हैं जो कहते हैं कि शुद्ध विचार में भाषा तक का कोई स्थान नहीं है। परन्तु मानव में प्रतिक्षेप तथा शुद्ध विचार सीमान्त उदाहरण (extreme case) हैं और वास्तव में इन सीमान्तों के बीच अनेक ऐसी घटनायें हैं जिन्हें हम मन तथा शरीर के समानान्तरवाद के आधार पर स्पष्ट नहीं कर सकते हैं, क्योंकि इन घटनाओं के होने में मन तथा शरीर दोनों का सहयोग मालूम देता है। स्वयं देकार्त ने बताया है कि गौण या अप्राथमिक गुण, जिनमें ठंढा, गरम, रंग इत्यादि गिने जाते हैं, मन तथा शरीर के सहयोग से ही स्पष्ट किये जा सकते हैं। अतः. गौण की व्याख्या में देकार्त ने अन्योन्य-क्रियावाद अथवा क्रिया-प्रतिक्रियावाद की मदद ली है। चूँकि गौण गुण की व्याख्या से मन तथा शरीर के सम्बन्ध और देकार्त की ज्ञानमीमांसा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, इसलिए इसकी भी चर्चा कर देनी चाहिए।

(१) सर्वप्रथम उद्दीपक (exciting) वस्तु का प्रभाव निरीक्षक की इन्द्रियों पर पड़ता है।

(२) इन प्रभाव के फलस्वरूप इन्द्रियों की नसतन्तु की प्राणशक्तियाँ*

---

* यहां animal spirits का अनुवाद करना कठिन है क्योंकि यह वह शारीरिक शक्ति है जो न तो पूरी भौतिक है और न जीव शक्ति (vital impulse) है। परन्तु इन दोनों के बीच की शक्ति है। अतः, यह अर्द्ध भौतिक तथा अर्द्धजीवित शक्ति है। यहाँ भी देकार्त की विडम्बना व्यंजित होती है।

(animal spirits) उद्दीप्त होकर पिनियल ग्रान्थि† (pineal gland) में पहुँचती हैं और वहाँ अपनी छाप (seal) छोड़ देती है।

(३) इसी पिनियल ग्रन्थि की छाप आत्मिक चेतना का संयोग (occasion) या उद्भावक कारण (stimulating cause) होती है।

इसी प्रकार से जब आत्मा को शारीरिक व्यापार पैदा करना होता है तब पिनियल ग्रन्थि में स्थित प्राण शक्तियों को यह उद्भावित करती है और वहाँ से उद्दीप्त होकर प्राणशक्तियाँ स्नायु (muscle) और पिण्डों (glands) में पहुँचकर शारीरिक व्यापार उत्पन्न करती हैं।

आत्मा तथा शरीर के आपसी सम्बन्ध की व्याख्या पूर्णतया असंतोषजनक है। यदि आत्मा प्राणशक्तियों को, जो सूक्ष्म होते हुए भी शारीरिक ही हैं, उद्दीप्त कर सकती है तो शरीर को ही प्रभावित करने में इसकी क्षमता को क्यों नहीं मान लिया जाय ? उसी प्रकार यदि पिनियल ग्रन्थि पर प्राण-शक्तियों की छाप से आत्मा प्रभावित हो सकती है तो अन्य शारीरिक प्रक्रियाओं से भी यह प्रभावित हो सकती हैं। यहाँ पर कहना कि पिनियल ग्रन्थि अविभाजित है और इसलिए यह आत्मा का वास-स्थान है और इसलिए आत्मा, शरीर के अन्य भागों में नहीं व्याप्त हो सकती है, केवल मनगढ़न्त है। आत्मा अशारीरिक सत्ता है और इसे किसी भी प्रकार के भौतिक स्थान की आवश्यकता नहीं है। अतः, आत्मा तथा शरीर का आपसी सम्बन्ध देकार्त के द्वारा स्पष्ट नहीं हो सका है। देकार्त ने आत्मा तथा शरीर के घनिष्ठ सम्बन्ध में अन्योन्यक्रियावाद से बचने के लिए घुड़सवार और घोड़े की उपमा दी है। घुड़सवार की ऐंड़ मारने से घोड़ा दौड़ता है। परन्तु घोड़े की दौड़ की व्याख्या घोड़े की शारीरिक शक्ति से की जायगी क्योंकि घोड़ा अपनी शक्ति से, न कि घुड़सवार की शक्ति से दौड़ता है। यहाँ पर घोड़े की दौड़ का प्रारम्भिक कारण घुड़सवार की ऐंड़ है, पर ऐंड़ घोड़े की दौड़ को प्रारम्भ करती है, न कि दौड़-शक्ति का यह कोई भाग बनती है। उसी प्रकार से आत्मा तथा शरीर की प्रक्रियाएँ एक दूसरे में प्रक्रिया उत्पन्न करने का अवसरमात्र (occasion) है न कि उनका कोई वास्तविक कारण है।

---

† मस्तिष्क के सभी भाग बायें दाहिने वर्ग में बांटे जा सकते हैं, परन्तु पिनियल ग्रन्थि मस्तिष्क के बीच ऐसा भाग है जिसमें विभाजन नहीं है। अतः, देकार्त ने इसे अविभाजित तथा अभेदित आत्मा का बास-स्थान माना था। परन्तु देकार्त की यह कल्पना केवल मनगढ़न्त है।

परन्तु घुड़सवार और घोड़े के बीच की उपमा सही नहीं है, क्योंकि इन दोनों के स्वरूप में आत्मा तथा शरीर के बीचवाला भेद नहीं है। घुड़सवार तथा घोड़े दोनों पशु और शरीरधारी जीव हैं; परन्तु आत्मा तथा शरीर में विपरीत को छोड़कर कोई भी बात सामान्य नहीं है। यदि प्राणशक्तियों का संचालन आत्मिक चेतना का संयोगात्मक (occasional) कारण हो तो शरीर तथा मन के बीच अन्योन्यक्रिया का होना, असाक्षात् रूप से हो, मान लिया जाता है और यदि उनके बीच अन्योन्यक्रिया है तो उन्हें दो सर्वथा विपरीत पदार्थ मानना युक्तिहीन हो जाता है।

हमने देखा है कि देकार्त को रंग, ताप इत्यादि गौण गुणों को स्पष्ट करने के लिए प्राणशक्तियों की कार्यवाही के प्रसंग में आत्मा पर शरीर के प्रभाव को मानना पड़ा है। परन्तु आत्मा पर शरीर के प्रभाव को और भी अधिक स्पष्टता के साथ, उन्हें रागात्मक वृत्तियों (passions) की व्याख्या में मानना पड़ा है। भय, क्रोधादि को चेतन प्रक्रिया मानना ही पड़ता है और फिर देकार्त ने बताया है कि ये प्रक्रियाएँ मन के ऊपर प्रभाव डालने से उत्पन्न होती हैं। देकार्त के अनुसार प्राणशक्तियों के संचालन से रागात्मक वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। यह सिद्धान्त समसामयिक जेम्स-लैंगा के सिद्धान्त की पूर्वछाया है। अतः; रागात्मक वृत्तियों की देकार्तीय व्याख्या मनोविज्ञान में महत्त्व रख सकती है, पर इसके आधार पर मन तथा शरीर को दो स्वतंत्र सत्ता मान लेने में भारी आपत्ति उठ खड़ी होती है।

सत्यता तथा भ्रम :—स्पष्ट तथा परिस्पष्ट भावना की सत्यता ईश्वर की सत्यनिष्ठा पर निर्भर है, पर यह भी सर्वमान्य है कि मानव ज्ञान प्रायः दोषपूर्ण हो जाया करता है तो क्या ईश्वर मानव भ्रम के लिए दोषी ठहराया जा सकता है ?

इस प्रसंग में देकार्त का कहना है कि वस्तुबोध (perception) तथा भावना को सत्य या असत्य नहीं कहा जा सकता है। ये केवल स्पष्ट या अस्पष्ट कहे जा सकते हैं। सत्यता या असत्यता का प्रश्न निर्णय (Judgment) पर निर्भर करता है और निर्णय मानव समझ (intellect) तथा संकल्प (will) के योग से बनता है।

देकार्त का यह सिद्धान्त समसामयिक रसेल इत्यादि विचारकों की परिछाया है जिसके अनुसार इन्द्रिय प्रदत्त (Sense data) में गलती की

गुंजाइश नहीं है, पर निर्णय तथा तार्किक वाक्य (Proposition) में ही सत्यता-असत्यता पायी जाती है।

निर्णय में हमें वस्तुबोध तथा भावना समझ से प्राप्त होती है, पर संकल्प के आधार पर ही इसका हम विधान (affirmation) या निषेध (denial) करते हैं। यदि भावना स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो तो हमारा विधान या निषेध सत्य होता है और यदि भावना अस्पष्ट हो और हम तब उसका विधान या निषेध करें तो भ्रम या असत्य होने की गुंजाइश हो जाती है। चूँकि हमें कुछ ही भावनाओं का स्पष्ट तथा परिस्पष्ट ज्ञान हो सकता है इसलिए सही ज्ञान अति सीमित है। परन्तु मानव इस सीमित ज्ञान से संतुष्ट नहीं होता है और अस्पष्ट भावनाओं के सम्बन्ध में भी निर्णय करने लगता है, इसलिए भ्रम हो जाता है। अब हमें गौण गुण तथा रागात्मक वृत्तियों का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता है और इन स्थलों पर हमें अपने निर्णय को स्थगित रखना चाहिये। फिर यदि हम यहाँ पर किसी निर्णय पर आवें तो इन निर्णयों का लक्ष्य ज्ञान-प्राप्ति नहीं है, पर ये हमारे हित तथा अहित का निर्देशन-मात्र करते हैं।

कान्ट ने भी मानव ज्ञान को सीमित बताया है। हमारे ज्ञान की सीमा है और उस सीमा का अतिक्रमण करने पर हम भ्रम में पड़ जाते हैं। जिस क्षण हम प्रज्ञा परिमिति से बाहर होकर गूढ़ तात्त्विक वस्तुओं की विवेचना आरम्भ करते हैं उसी क्षण हमारे पाँव विभिन्न भ्रमों के पंक में सरक जाते हैं। परन्तु काण्ट ने हमारी इस असमर्थता का दोष ईश्वर के मत्थे नहीं मढ़ा है, जैसा कि देकार्त ने किया है। देकार्त के अनुसार हमारी पहुँच एक खास सीमा तक हो सकती है और हमारे इस सीमित ज्ञान का उत्तरदायित्व ईश्वर पर है, क्योंकि ईश्वर ने हमें ऐसी सबल क्षमता नहीं दी है जिससे गौण गुणों और रागात्मक वृत्तियों की स्पष्ट भावना प्राप्त हो सके। इस प्रकार हमारी इस कमी का भागी कम से कम ईश्वर ही ठहरता है।

अब इस आपत्ति का समाधान करते हुए देकार्त ने बताया है कि ईश्वर पर ऐसा दोष टालना समीचीन नहीं। यदि मानव के पास समझ सीमित परन्तु संकल्प असीमित हो तो भी संकल्प के उचित या अनुचित व्यवहार का भार मानव पर है ईश्वर पर नहीं। हम उस संकल्प को उचित रीति से काम में ला सकते हैं। असीमित संकल्प का सम्यक् व्यवहार हमारी बूते की बात है। हमें याद रखना चाहिए कि मानव ईश्वर की रचना है और किसी भी

रचना को असीमित तथा पूर्ण नहीं बनाया जा सकता है। फिर मानव की अपूर्णता का सम्बन्ध विश्व के सामंजस्य से है। यदि विश्व-सामंजस्य मानव की अपूर्णता से बनी रहती है तो विश्व के रचयिता ईश्वर को हम मानव अपूर्णता के लिये दोषी नहीं ठहरा सकते हैं। फिर यदि संकल्प को ऐसा बनाया जाता कि वह केवल स्पष्ट तथा परिस्पष्ट भावनाओं ही तक सीमित रहे तो मानव यन्त्रवत् हो जाता जिसमें इच्छा-स्वातन्त्र्य ही लुप्त हो जायगा। अतः; आध्यात्मिकता के विकास के लिये संकल्प की असीमता अनिवार्य है और यदि इससे मानव-ज्ञान में दोष आ जाय तो इसके लिए स्वयं मानव उत्तरदायी है न कि ईश्वर।

देकार्त वस्तुवादी (realist) अवश्य थे पर आप ज्ञान में प्रतिकृति अथवा प्रतिबिम्बवाद (copy theory) के समर्थक थे। इनके अनुसार हमारे मन में वस्तुओं की जो भावनायें होती हैं वे इन्द्रिय, प्राण-शक्ति तथा मस्तिष्क के माध्यम से उत्पन्न होती है और वस्तुओं का ज्ञान असाक्षात् रूप से (indirectly) ही उत्पन्न होता है। अतः, ये भावनायें वस्तुओं की नकल हैं। पर प्रश्न उठता है कि जब भावनायें कई प्रकार के माध्यम से छनकर आती हैं तो हम इन्हें किस प्रकार वस्तुओं की विश्वसनीय नकल या बिम्ब समझ सकते हैं ? फिर यदि हमारी सारी भावनायें नकल मात्र हैं तो हम कैसे समझें कि ये नकल सही या गलत हैं क्योंकि यहाँ वास्तविक वस्तुओं का ज्ञान जिसके ही आधार पर नकल की सही पहचान हो सकती है हमें प्राप्त ही नहीं होता है। इन सब बातों की व्याख्या बर्कले के प्रसंग में की जायगी, पर देकार्त का यह कहना कि ईश्वर की सत्यनिष्ठा हमें आश्वासन देती है कि हमारी भावनाओं के अनुकूल वास्तव में वस्तुएँ हैं, ठीक नहीं है। जो बात युक्तिसगत नहीं है उसे ईश्वर की सत्यनिष्ठा के बाह्य अधिकरण से सिद्ध नहीं की जा सकती है।

आधुनिक दर्शन में देकार्त का महत्त्व :—कुछ विद्वान् बेकन को और कुछ विद्वान् देकार्त को आधुनिक दर्शन का जन्मदाता समझते हैं। परन्तु हमलोगों ने देखा है कि बेकन ने आधुनिक दर्शन की भूमिका लिखी है और इसलिए उन्हें इसका जन्मदाता मानना उचित न होगा। पर देकार्त ने स्वतन्त्र खोज की है और उन्होंने जो समस्याएँ उठायी हैं वे आधुनिक तथा वर्त्तमानकालिक विचारधारा में अति महत्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं। कई स्थलों पर हमलोगों देकार्त की देन और उसकी महत्त्वपूर्णता का उल्लेख किया है, परन्तु बुद्धिवाद, द्वैतवाद

विज्ञानवाद इत्यादि देकार्त की मुख्य देन हैं और यही कारण है कि अरस्तू और काण्ट के बीच के युग में देकार्तीय दर्शन को क्रान्तिमय कहा गया है। आधुनिक दर्शन में जितनी मुख्य समस्याएँ हैं प्रायः वे सब देकार्त की परम्परा का अनुसरण करती हैं और इसलिए देकार्त को आधुनिक दर्शन का विधान-कर्त्ता (legislator) भी समझा गया है। अब हम देकार्त की उन देनों का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे जिनके कारण ठीक ही में आप विख्यात हैं।

विधि :—देकार्त उस युग में हुए थे जिसमें धार्मिक संस्था की प्रभुता विशेष थी और उसे छोड़कर बुद्धि ही के आधार पर सत्यता की स्थापना करने का प्रयास तो उनकी निर्भीकता तथा स्वतन्त्रता का ठोस प्रमाण है। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे विचारक स्वतन्त्र होने लगे और अंधविश्वास तथा निरर्थक पुरानी लीकों को छोड़कर नयी दिशा में प्रगति करने लग गये। विचार-स्वातंत्र्य के पक्ष को स्वीकार करने के कारण देकार्त की विधि ने दार्शनिकों के लिए मैगनाकार्टा का अधिकार प्राप्त कर दिया है।

परन्तु यथार्थ में देकार्त का महत्त्व विज्ञानवाद (Scientism)* को अपनाने में है। विज्ञानवाद वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार विज्ञानों की पद्धति तथा गवेषणायें किसी भी ज्ञान की एकमात्र पद्धति तथा सत्यता की कसौटी है। चूँकि देकार्त के समय में, और खासकर उनके लिए गणित ही विज्ञान का विशेष अंग था इसलिए उन्होंने दर्शन में गणित की परम्परा को चलाने की कोशिश की है और इस परम्परा को प्रायः सभी आधुनिक दार्शनिकों ने अपनाया है। अब गणित की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जिनका स्थान स्पिनोजा, काण्ट इत्यादि के दर्शन में मिलेगा। गणित विज्ञानों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और इसलिए आगे चलकर गणितवाद वैज्ञानिकवाद में परिणत हो गया। लौक, ह्यूम, लाइबनित्स तथा काण्ट में वैज्ञानिकवाद की अच्छी झलक मिलती है। विज्ञानवाद की विशेषता और इसकी कमी अब सम-सामयिक विचारों में स्पष्ट होने लगी है। परन्तु जो कुछ भी विज्ञानवाद के विषय में कहा जाय इसकी परम्परा देकार्त से ही प्रारम्भ होती है और वे इस परम्परा के जन्मदाता समझे जा सकते हैं।

---

१ बौद्ध दर्शन का 'विज्ञानवाद' विषयीगत या आत्मगत प्रत्ययवाद के लिये काम में लाया गया है, परन्तु इस प्रसंग में इस पद की अपनी दूसरी व्याख्या है जिसे बता दिया गया है। इसलिए 'वैज्ञानिकवाद' सही शब्द मालूम देता है।

बुद्धिवाद :—हमलोगों ने पहले ही देखा है कि बुद्धिवाद को सामान्य तथा विशेष अर्थ में काम लाया जाता है और इन दोनों अर्थों में देकार्त आधुनिक दर्शन में बुद्धिवाद के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। बुद्धिवाद विशेष अर्थ में बताता है कि सर्वव्यापक तथा अनिवार्य ज्ञान आत्मजात प्रत्ययों के आधार पर प्राप्त होता है जिसका आदर्श गणित शास्त्र में मिलता है। इस आत्मजात प्रत्यय की समस्या को महत्त्वपूर्ण समझकर लौक ने इस मत का खण्डन किया और लाइब्नित्स ने इसका मण्डन किया है। फिर गणितशास्त्र के विचार आत्मजात भावनाओं पर आधारित है यह काण्ट ने भी स्वीकार किया है और इसके आधार पर उन्होंने अतिदर्शनवाद (Transcendentalism) की स्थापना की है। परन्तु गाणतिक युक्ति को अनिवार्य मानना एक बात है और उसे आत्मजात प्रत्ययों पर आधारित समझना दूसरी बात है। समसामयिक तार्किक अनुभववादी रसेल आदि गाणतिक तर्कशास्त्र के आधार पर गणित की अनिवार्यता को मानते हैं, परन्तु इसे आत्मजात प्रत्ययों पर आधारित नहीं मानते हैं। अब इस प्रसंग में जो भी सत्यता हो, कम सेकम मानना पड़ेगा कि देकार्त ने विचार में एक ऐसा मोड़ लाया है जिस ओर दार्शनिक गवेषणाएँ अभी भी झुकी हुई हैं।

देकार्त ने स्पष्ट रूप में कुछ ही प्रत्ययों को आत्मजात माना था और शेष को या तो स्वरचित या बाह्य रचित (adventitious) कहा था। फिर बाह्य रचित भावना वह थी जो बाह्य वस्तु के द्वारा उत्पन्न हो। पर इन सब बातों को स्वीकार करने पर भी उन्हें मानना पड़ा कि गौण गुण (Secondary qualities) निरीक्षक में हैं, न कि वस्तुओं में। बाहर के उद्दीपक का काम यही है कि वे शारीरिक प्राणशक्तियों को उद्भावित करें। परन्तु-प्राण-शक्तियों के द्वारा पिनियल ग्रन्थि की छाप केवल प्रसंगमात्र या संयोगात्मक (occasional) है जिसके रहने से चेतना में गौण गुण का प्रादुर्भाव होता है। इस रीति से देखने पर मालूम होता है कि अन्त में सभी भावनायें आत्मजात हैं। इस बात को लाइबनित्स ने अपने दर्शन में विशेष स्थान दिया है और बताया है कि सभी प्रत्यय आत्मजात हैं। इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि देकार्त के इस सिद्धान्त के दूसरे पक्ष को बर्कले ने अपनाया है अर्थात् उन्होंने बताया है कि वस्तुओं का ज्ञान हमें नहीं हो सकता है और यह भी बताना कठिन है कि वस्तुओं की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है या नहीं। पर यह ठीक है कि जिसे हम वस्तु कहते हैं, वास्तव में वे प्रत्यय मात्र हैं। अतः

देकार्त के 'आत्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त' (theory of innate ideas) में बर्कले के विषयगत प्रत्ययवाद की पुष्टि हुई है। प्रत्ययवाद के विकास में रसेल ने भी देकार्त के इस महत्त्व को माना है (*)।

द्वैतवाद:—देकार्त को उग्र द्वैतवादी कहा गया है क्योंकि वास्तव में उन्होंने सब जगह द्वैतवाद को ग्रहण किया है और जहाँ-जहाँ उन्होंने द्वैतवाद को आश्रय दिया है वहाँ-वहाँ वह महत्त्वपूर्ण समझा गया है।

(क) पहली बात यह है कि उन्होंने मन और शरीर, आत्मा तथा भौतिक पदार्थ का द्वैतवाद माना है। इनके आपसी सम्बन्ध के समाधान में अन्योन्यक्रियावाद, समानान्तरवाद तथा संयोग या प्रसंगवाद (occasion-alism) की झलक पायी जाती है। देकार्त का मत यहाँ पर अनिश्चित है पर इनके किये गये संकेतों को उनके बाद के विचारकों ने पल्लवित तथा पुष्पित किया है। संयोगवाद को आर्नल्ड ज्यूलिंक्स ने (Arnold Geul-incx), समानान्तरवाद को स्पिनोजा ने तथा समानान्तर के संशोधित रूप जिसे पूर्वस्थापित सामंजस्यवाद (pre-established harmony) कहते हैं, लाइबनित्स ने अपनाया है। इसके बाद भी अब भी अब तक मन तथा शरीर के द्वैतवाद की समस्या को सुलझाने के लिए सत्रह सिद्धान्त बताये गये हैं और फिर भी इसका कोई समाधान नहीं दीखता है। पर कम से कम मानना पड़ेगा कि देकार्त ने दार्शनिकों के लिए ऐसी समस्या रख दी है जो उनकी बुद्धि और चातुर्य को पैनी किये रहती है। यही कारण है कि देकार्त का प्रभाव अभी भी जीता जागता है।

(ख) हमलोगों ने देखा है कि देकार्त स्वतन्त्र बुद्धिवादी थे और इसके आधार पर उन्होंने वैज्ञानिकवाद को अपनाया था। उन्हें आभास भी हुआ होगा कि विज्ञान और धर्म में संघर्ष हो सकता है। इस संघर्ष के समाधान के लिये उन्होंने असाक्षात् रूप से एक सूझ बतायी है। उनके विचार के संकेतों से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने धर्म का सम्बन्ध चेतना से रखा और विज्ञान का सम्बन्ध यन्त्रवत् वाह्य जगत् से किया है। उन्होंने अपने द्वैतवाद के आधार पर यह बताया है कि चेतना तथा बाह्य भौतिक जगत् एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं इसलिए इनसे सम्बन्ध रखनेवाले धर्म और विज्ञान भी एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं और दोनों में किसी भी प्रकार का झगड़ा नहीं हो सकता है क्योंकि दोनों के अपने-अपने अलग क्षेत्र हैं जिनमें वे सत्य हैं। अभी भी बहुत

*History of western Philosophy—P. 586.

विचारक हैं जो समझते हैं कि धर्म तथा विज्ञान में किसी प्रकार का झगड़ा नहीं हो सकता है क्योंकि धर्म का विषय दैवी या अतिप्राकृतिक (supernatural) क्षेत्र है और विज्ञान का क्षेत्र प्राकृतिक (natural) घटना है। अब देकार्त की यह विचारधारा मान्य है या नहीं यह कहना कठिन है परन्तु इसका तात्कालिक परिणाम अच्छा हुआ क्योंकि विज्ञान-विस्तार के लिये सम्पूर्ण भौतिक विश्व वैज्ञानिकों के हाथ में आ गया। फिर पशुओं को यन्त्र मान लेने से कुछ पशुओं के प्रति क्रूरता अवश्य बढ़ी, पर पशु-विच्छेदन के आधार पर दैहिक शास्त्र की अच्छी उन्नति हुई और साम्प्रतिक व्यवहारवाद (behaviourism) की पुष्टि में देकार्तीय विचार का पूरा हाथ माना जाता है।

फिर यदि चेतना और उसके प्रत्ययों को आत्मजात मानने पर प्रत्ययवाद की प्रगति हुई, तो दूसरी ओर बाह्य जगत् को यन्त्रवत् मान लेने पर यान्त्रिकीय भौतिकवाद में भी अच्छी प्रगति आ गयी। अतः, अनुदेकार्तीय प्रत्ययवाद तथा भौतिकवाद की प्रगतिशीलता तथा विकास का श्रेय देकार्तीय क्रांति को दिया जायगा।

(ग) देकार्त की ज्ञान-मीमांसा में भी द्वैतवाद है क्योंकि ज्ञान में एक ओर बाह्य वस्तुयें हैं और दूसरी ओर मानसिक प्रत्यय हैं। प्रत्यय वस्तु नहीं हैं, पर वे वस्तुओं की नकल या उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रत्ययों के प्रति अनुकरण (Copy theory) या प्रतिनिधिवाद (Representational theory) लौक ने भी स्वीकृत किया था और इनकी गहरी आलोचना बर्कले ने की थी। समसामयिक वस्तुवाद (Realism) में भी अनुकरणवाद तथा प्रतिनिधिवाद की आलोचना पायी जाती है। पर यदि इन विचारधाराओं का महत्व है तो इस समस्या को प्रकाश में लाने का श्रेय देकार्त को मिलना चाहिए।

(घ) फिर वस्तुओं के गुणों को प्राथमिक (Primary) तथा अप्राथमिक या गौण (Secondary) विभागों में बाँटने में भी देकार्त का द्वैतवाद व्यंजित होता है। गुणों का द्वैतवाद लौक ने स्वीकार किया हैं और इसके खंडन करने पर बर्कले ने आत्मनिष्ठ या विषयीगत (subjective) प्रत्ययवाद की नींव डाली है। उसी प्रकार देकार्त ने मानसिक शक्तियों में समझ तथा संकल्प (will) का द्वैतवाद रखा है जिसे काण्ट ने बदलकर ज्ञानात्मक, इच्छात्मक तथा भावात्मक (Affective) प्रक्रियाओं में बाँटा
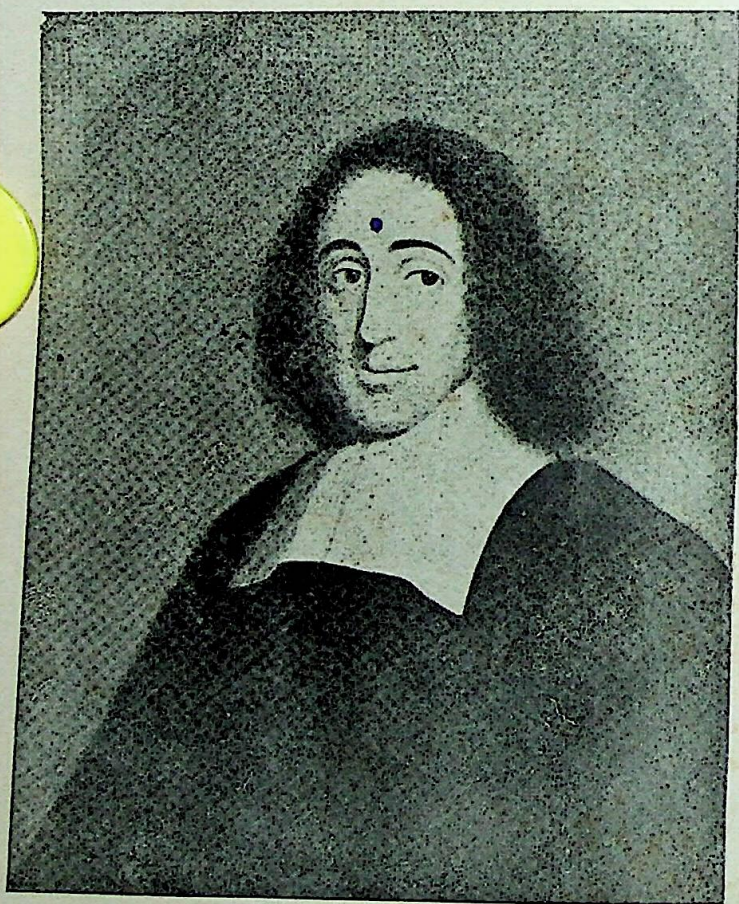
BENEDICT DE SPINOZA (1632 to 1677)

है, अतः, देकार्त का द्वैतवाद बहुत स्थलों में प्रभावशाली रहा है, इसलिए उन्हें आधुनिक दर्शन का जन्मदाता समझा जा सकता है ।

क्रमबद्धता या सम्बद्धत्ता (System) का महत्त्व :— इसमें संदेह नहीं कि देकार्त का दर्शन क्रमवद्ध है । सबसे पहले सन्देह विधि के आधार पर उन्होंने आत्मा के अस्तित्व को सिद्धकर इससे ज्ञान-कसौटी निकाली । फिर ज्ञान-कसौटी के आधार पर ईश्वर और उसकी सत्यनिष्ठा का सिद्धांत स्थापित किया, और अन्त में बाह्य जगत् की सत्ता को ईश्वर की सत्यनिष्ठा से स्पष्ट किया है । अब दर्शन को ईश्वर-केन्द्रित बनाने की परिपाटी में स्पिनोजा, लाइबनित्स तथा बर्कले ने देकार्त का अनुसरण किया है । कुछ वर्त्तमान-कालिक विचारकों में जिनमें ह्वाईटहेड, बर्ग्सों तथा अलेक्जैंडर का नाम लिया जा सकता है, यह परिपाटी लुप्त नहीं हुई है ।

पर समसामयिक दृष्टिकोण से रसेल प्रभृति तार्किक, अनुभववादी तथा विश्लेपणवादी का कहना है कि दर्शन में क्रमबद्धता आनी ही नहीं चाहिए । इनके अनुसार दर्शन का काम ज्ञान-प्रसार या ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न करना नहीं है, क्योंकि ज्ञान-वृद्धि केवल विज्ञानों ही के द्वारा हो सकती है । दर्शन का इतना ही काम है कि यह ज्ञान की परिशुद्धता (clarification) में योग-दान दे । चूँकि ज्ञान-परिशुद्धता तर्कशास्त्र के नियमों से ही प्राप्त होती है, इसलिए ये विचारक तत्त्वमीमांसा की अवहेलना कर दर्शन को तर्कशास्त्र ही तक सीमित कर देते हैं । परन्तु दर्शन से तत्त्वमीमांसा को हटाकर दर्शन को अन्दर से खोखला नहीं किया जा सकता है । अब तार्किक अनुभववाद तथा विश्लेषणवाद में जो भी सत्यता हो, कम-से-कम आधुनिक दार्शनिक क्रमबद्ध विचारक थे और इस क्षेत्र में भी देकार्त ने इन लोगों का मार्ग-दर्शन किया है ।

अतः, देकार्त ने अपने विचारों से आधुनिक दर्शन में तथा सामान्य रूप से पाश्चात्य दर्शन में नई रोशनी लायी है । उनके सभी विचार किसी भी समय में सर्वमान्य नहीं हुए और न कभी किसीके हो सकते हैं, पर यह निर्विवाद है कि आधुनिक दर्शन तथा पाश्चात्य दर्शन में उनकी क्रान्ति मानव के विचार-इतिहास में एक विशेष स्थान रखती है ।

बेनेडिक्ट स्पिनोजा (सन् १६३२—१६७७)

पाश्चात्य दार्शनिकों में देखा गया है कि उनका दर्शन केवल बौद्धिक व्यायाम होता है क्योंकि वे अपने दर्शन को अपने जीवन में व्यवहार में नहीं लाते हैं । परन्तु

प्राचीन भारत में ऋषियों के जीवन में दर्शन तथा व्यवहार में मेल हुआ करता था। अब पाश्चात्य अस्तित्ववादी विचारकों में दर्शन तथा व्यवहार में मेल देखा जाता है, पर इस समय में पाश्चात्य देशों में प्राचीन भारत का आदर्श भी आदरणीय हो चला है। सो शायद पाश्चात्य धर्म, मनोविज्ञान तथा दर्शन में विचार तथा व्यवहार का मेल इसी भारतीय आदर्श के प्रभाव से होना संभव है। परन्तु आधुनिक दार्शनिकों में विचार तथा व्यवहार का सामंजस्य स्पिनोजा में पाया जाता है। स्पिनोजा यहूदी थे और यहूदियों को पूर्वीय जाति का माना जाता है। अतः, स्पिनोजा के दर्शन में पूर्वीय तथा पाश्चात्य आदर्श का सम्मिश्रण समझा जा सकता है। फिर प्राच्य दर्शन में सर्वेश्वरवाद (Pantheism) पाया जाता है जिसे स्पिनोजा ने अपने दर्शन में पूर्णतया अपनाया है। इसलिए स्वेंग्लर ने कहा है स्पिनोजीय दर्शन उनकी जातीयता का परिणाम है अर्थात् उसमें प्राच्य विचारों की प्रतिध्वनि गूँजती है।

बारूख स्पिनोजा का जन्म ऐम्स्टर्डाम में सन् १६३२ के २४ नवम्बर को हुआ था। आप की शिक्षा-दीक्षा ऊँचे ढंग से हुई थी। सर्वेश्वरवाद का पालन करने से जो ईसाई धर्म-दर्शन के विरुद्ध था आप यहूदी धर्म-संघ से भी सन् १९५६ में निकाल दिये गये थे। इसका कारण यह था कि यहूदियों की आजादी ईसाई-धर्मियों की इच्छा पर निर्भर करती थी और उनलोगों को खुश रखने के ही लिये यहूदियों ने अपने महान विचारक स्पिनोजा का बहिष्कार किया था। स्पिनोजा ने अपने बहिष्कार को ठंढे दिल से स्वीकार कर लिया और मरण पर्यन्त दार्शनिक ध्यान में निमग्न रहे। इस श्मशानी, वानप्रस्थी के दर्शन-तप की ख्याति धीरे-धीरे बढ़ गयी और अनेक तात्कालिक दार्शनिक इनके दर्शन के लिये आते थे। उनमें लाइबनित्स का भी नाम आता है। उन दोनों के पत्र-विनिमय से दोनों के दर्शन का अच्छा पता लगता पर लाइबनित्स ने इनकी सब बातों को एकदम छिपा दिया है। आप की ख्याति इतनी फैल गयी कि सन् १६७३ में हाईडेल्बर्ग के विश्वविद्यालय ने इन्हें विचारों की पूर्ण स्वतन्त्रता का आश्वासन देकर इन्हें दर्शन के अध्यापक के पद पर नियुक्त किया। परन्तु दर्शन के कठोर तपस्वी तथा विचार के स्वतन्त्र पक्षी को नौकरी तथा सामाजिक मान-मर्यादा के लुभानेवाले पिंजरे

Pantheism दो शब्दों के योग से बना है, अर्थात् Pan-theos. Pan का अर्थ है 'सब' और theos का अर्थ है 'ईश्वर'। इसलिए Pantheism वह वाद है जिसके अनुसार सभी वास्तविकता ईश्वरमय है।

में रहना स्वीकार न हुआ। आप क्षयरोगी थे और सन् १६७७ की २१ फरवरी को आपने शरीर त्याग किया ताकि आपकी अमर आत्मा उस परम सत्ता में मिल जाय जिसकी आपने जीवन भर सेवा की थी। आप वैज्ञानिक काच बनाकर अपनी जीविका चलाते थे, इसलिए चतुर आलोचकों ने कहा है कि तब से अब तक विचारक स्पिनोजा के दार्शनिक काच (Lens) से ही दुनिया देखते हैं (१)।

स्पिनोजा और देकार्त :—प्राय: स्पिनोजा को युक्तिसंगत देकार्ती कहते हैं। इसका पहला कारण यह है कि उन्होंने देकार्त के दर्शन का अच्छा अध्ययन किया था और सन् १६६३ में देकार्त के दर्शन की व्याख्यात्मक पुस्तक लिखी थी। फिर स्पिनोजा ने देकार्त के लिखित प्रश्नों के आधार पर अपने दर्शन की स्थापना की है और इसमें सन्देह नहीं कि देकार्त के मौलिक सिद्धान्तों के दोषों तथा त्रुटियों को हटाकर इन्होंने सर्वेश्वरवाद की रचना की है। यही कारण है कि लाइबनित्स ने कहा है कि स्पिनोजा ने देकार्त के रोपे हुए बीज को अंकुरित किया है। परन्तु इस मत का खण्डन करते हुए पोलॉक ने बताया है कि स्पिनोजा का दर्शन नवप्लेटोवाद तथा मैमोनाइड्स के दर्शन से ओत-प्रोत है न कि देकार्त के दर्शन से। पर केयर्डने स्पिनोजा को देकार्ती ही माना है (*)। परन्तु वास्तव में स्पिनोजा देकार्ती नहीं थे क्योंकि उन्होंने देकार्त के सभी मौलिक सिद्धान्तों की आलोचना कर एक स्वतन्त्र दर्शन की रचना की है†। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

लियोन रौथ जिन्होंने स्पिनोजा का विशेष अध्ययन किया है अपने विद्वतापूर्ण लेख में (‡) बताया है कि देकार्त की तीन मौलिक आधारशिलायें

---

(१) Spinoza lived by grinding lenses and ever since philosophers see the world through the lenses which he has manufactured.

★ Caird ने स्पिनोजा के दर्शन के प्रति लिखा है : "In the Spinozistic philosophy there are few differences from Descartes which cannot be traced to the necessary development of Cartesian principles." फिर इसी लोक को अपनाते हुए रसेल ने सन् 1946 में History of Western Philosophy' में लिखा है कि स्पिनोजा का दर्शन देकार्त के दर्शन का संशोधित रूप है।

† देखें Stuart Hampshire, 'Spinoza'—A Pelican book, pp. 21-23

‡ Mind 1923.

हैं, अर्थात् (१) स्पष्ट तथा परिस्पष्ट, पर पृथक-पृथक (Discrete) भावनाओं का सिद्धान्त (२) सृष्टिकर्त्ता देवता का सिद्धान्त, क्योंकि ईश्वर अपने संकल्प के ही आधार पर विश्व की रचना तथा इसका पालन करते हैं, और (३) संकल्पात्मक (Voluntaristic) तत्त्वमीमांसा का सिद्धान्त, क्योंकि देकार्त के अनुसार मानव और ईश्वर दोनों में बुद्धि की अपेक्षा संल्कप की ही प्रधानता दिखाई देती है। स्पिनोजा ने देकार्त के इन तीनों मौलिक सिद्धान्त के विपरीत युक्ति पेश कर एक दूसरी ही विपक्षी दर्शन-परिपाटी की नींव डाली है।

देकार्त ने बताया है कि प्रत्येक व्यक्ति में प्राकृतिक ज्योति है जिसके द्वारा हमें स्पष्ट तथा परिस्पष्ट भावनाओं की अन्तर्सूझ या सहजज्ञान (intuition) होता है परन्तु ये भावनायें असम्बद्ध तथा पृथक रहती हैं। पर यदि भावनाओं में किसी प्रकार की आन्तरिक व्यवस्था न हो तो इन्हें किस प्रकार से क्रमबद्ध ज्ञान में सम्बद्ध किया जा सकता है ? फिर बिना भावनाओं की सम्बद्धता से हम कैसे कह सकते हैं कि विश्व युक्तिपूर्ण सत्ता है; और यदि विश्व युक्तिपूर्ण न हो तो इसे कैसे बुद्धिगम्य कहा जाय ? देकार्त ने इस कमी को पूरा करने के लिये ईश्वर की सत्यनिष्ठा की मदद ली है। परन्तु ईश्वर विश्व से परे सत्ता है और इसलिये ईश्वर विश्व की युक्तिपूर्णता को सिद्ध नहीं ठहरा सकता है। अतः, देकार्त के दर्शन में वस्तुओं और भावनाओं की अनेकता रह जाती है और एकता का लक्ष्य तिरस्कृत हो जाता है परन्तु हम देखेंगे कि स्पिनोजा के दर्शन में एकता या अद्वैतवाद का मुख्य और प्रथम स्थान है। अतः, देकार्त और स्पिनोजा के मौलिक सिद्धान्त एक दूसरे के विपरीत हैं।

फिर देकार्त के दर्शन में समझ या बुद्धि को द्वितीय स्थान है और संकल्प (will) को प्रथम स्थान हैं। विज्ञान तथा दर्शन की सत्यता इसलिये स्पष्ट तथा परिस्पष्ट है कि ईश्वर ने अपनी इच्छानुसार इस प्रकार की व्यवस्था स्थापित की है (१)। इसलिए यदि ईश्वर चाहे तो पूरी ज्ञान-कसौटी ही

---

१ इस प्रसंग में देकार्त की निम्नलिखित उक्ति है "To one who pays attention to God's immensity, it is clear that nothing at all can exist which does not depend on him. This is true, not only of everything that subsists, but of all order, of every law, and of every reason of truth and goodness."

बदल जा सकती है। परन्तु स्पिनोजा के अनुसार सत्यता किसी भी मनमानी इच्छा पर निर्भर नहीं रह सकती है। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर से सभी सत्यता इसलिए निकलती है कि सत्यता शाश्वत है, ईश्वर सत्यता की रचना इसलिए करता है कि वह शाश्वत है, न कि सत्यता इसलिए शाश्वत है कि वह ईश्वर की असीम इच्छा से उत्पन्न होती है। अतः, स्पिनोजा में बुद्धि का पहला स्थान है और संकल्प का स्थान गौण है। यहाँ भी देकार्त और स्पिनोजा के सिद्धान्तों में मौलिक मतभेद है।

अन्त में देकार्त के अनुसार विश्व-सृष्टि ईश्वर की मनमानी इच्छा से उत्पन्न होती है, पर स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर स्वयं बुद्धिमय है और इसलिये सम्पूर्ण विश्व की रचना बौद्धिक अनिवार्यता (Intellectual necessity) के साथ होती हुई दिखाई देती है। अतः, स्पिनोजा की प्रसिद्ध उपमा है कि सभी वस्तुएँ ईश्वर से उसी अनिवार्यता से होती हुई दिखायी देती है जिस अनीवार्यता के साथ किसी त्रिभुज के तीन कोणों को मिलाकर दो समकोण के बराबर होना सिद्ध होता है। अतः, स्पिनोजा के दर्शन में संकल्प का स्थान ही नहीं है और देकार्त का बुद्धिवाद यहाँ विश्व का शुद्ध बुद्धिगम्यता (rationality) में परिणत हो जाता है।

स्पिनोजा के दर्शन की विचित्रता :—भिन्न-भिन्न आलोचकों ने स्पिनोजा के दर्शन का भिन्न-भिन्न मूल्यांकन किया है। पोलौक ने स्पिनोजा को पूर्वीय परम्परा का प्रतीक माना है, पर लाइब्रनित्स, केयर्ड तथा रसेल इन्हें पाश्चात्य विचारक ही मानते हैं। पुनः, धर्म-मीमांसा के दृष्टिकोण से बहुधा इन्हें लोग अनिश्वरवादी कहते, और फिर कोई इन्हें ईश्वरमदान्ध (God-intoxicated) रहस्यवादी पुकारते हैं। स्पिनोजा के दर्शन के मूल्यांकन की विभिन्नता इसलिये देखी जाती है कि वास्तव में इसमें पूर्वीय तथा पाश्चात्य विचारधाराओं का बेजोड़ सम्मिश्रण है और चूँकि आलोचकों में विश्व-दर्शन की सम्पूर्णता की दृष्टि न रही, इसलिए उन्होंने इसके दर्शन की आंशिक विशेषता पर ही ध्यान दिया है। पूर्वीय परम्परा के समान आप दर्शन को केवल बौद्धिक व्यायाम ही नहीं समझते थे, पर इसे जीवन की साधना मानते थे। फिर स्पिनोजा के दर्शन का उद्देश्य था कि इसके आधार पर वे नैतिक तथा धार्मिक निःश्रेयस् की प्राप्ति कर लें। परन्तु स्पिनोजा में पूर्वीय परम्परा की उद्देश्य-पूर्ति देकार्तीय युक्तियों के आधार पर की है। इसलिए इनकी विचारधारा में पाश्चात्य का भी पूरा प्रभाव है। अतः, कहा जा सकता है कि पाश्चात्य तथा पूर्वीय

परम्परा पर आधारित भावी विश्व-दर्शन की पूर्व छाया स्पिनोजा के दर्शन में पायी जाती है ।

अपितु, धार्मिक मीमांसा में पाश्चात्य विचारक ईश्वरवाद (Theism) को अपनाते आये हैं; और पूर्वीय और विशेषकर भारतीय परम्परा में सर्वेश्वर-वाद (Pantheism) को प्रधानता दी गयी है । अतः, पूर्वीय नवप्लेटोवाद तथा मैमोनाइड्स की विचारधारा से प्रभावित रहने के कारण स्पिनोजीय दर्शन सर्वेश्वरवादी था जिसे पाश्चात्य ईश्वरवाद से मेल न खाने पर अनीश्वरवाद समझा गया था । पर सर्वेश्वरवादी भक्त, भगवान के साथ अनन्य सम्बन्ध रखता है — सभी वस्तुओं जो ईश्वरमय समझता है,—पतंग के समान ईश्वर-रूपी दीपशिखा पर ईश्वरीय प्रेम से व्याकुल होकर अपनी आहुति चढ़ा देता है । ऐसे ईश्वरोन्मत्त व्यक्ति को अनीश्वरवादी कहना असंगत मालूम देता है । यही कारण है कि बाद में लोगों ने स्पिनोजा को ईश्वरमदान्ध भी कहा है ।

स्पिनोजा की दर्शन-विधि :—हमलोगों ने देखा है कि देकार्त ने गणित की परम्परा को अपने विचारों की पार्श्वभूमि या अंचल में रखा है, पर साक्षात् रूप से इसे काम में नहीं लाया है । परन्तु इसे साक्षात् रूप में लाने का संकेत उनके पत्र-विनिमय में मिलता है[1] । देकार्त ने स्वयं ज्यामितिक विधि को अच्छा समझा था, परन्तु अपने दर्शन को उन्होंने ज्यामितिक रूप कभी नहीं दिया । परन्तु स्पिनोजा ने सत्यता के प्राप्त करने तथा सत्यता को समझाने के लिये ज्यामितिक युक्तियों को पूर्णतया प्रर्याप्त समझा है ।

प्रश्न उठता है कि स्पिनोजा ने क्यों ज्यामितिक क्रम को संतोषजनक समझा है ? पहली बात यह है कि यदि किसी बात को ज्यामितिक क्रम से समझा दिया

---

१ "In order that it may be profitable for each and all to read your meditations, containing as they do so much subtlety and in our opinion, so much truth......it would be well worth the doing if, hard upon your solution of the difficulties, you advanced as premises certain definitions, postulates, and axioms, and thence drew conclusions, conducting the whole proof by the geometrical method in the use of which you are so highly expert. Thus would you cause reader to have everything in his mind, as its were, at a single glance, and to be penetrated throughout with a sense of the Divine being."

जाय तो इसे स्पष्ट होना समझा जाता है। यही कारण है कि ईब्रानी भाषा की वैयाकरणी गुत्थियों को सुलझाने के लिए भी स्पिनोजा ने ज्यामितिक रीति ही को अपनाया था। पर शायद दूसरा मुख्य कारण यह है कि ज्यामितिक युक्तियों में पक्षपातरहित ज्ञान सम्भव हो सकता है। यदि हम चाहें भी कि समानान्तर रेखाँयें मिल जायँ या कर्ण रेखा त्रिभुज के अन्य दो रेखाओं के योगफल से बड़ी हो जाय तो संभव नहीं हो सकता है। अब मानव में प्रबल प्रवृत्ति रहती है जिसके अनुसार वह चाहता है कि विश्व की सभी बातें उसी ही के कल्याण के लिए सिद्ध हो जायँ और वह अपनी इच्छाओं को विश्व में आरोप कर देता है, जिससे अनेक दोप चले आते हैं। इसलिये दार्शनिक सुलझाव तथा सुझाव के लिए पक्षपात रहित होना अत्यावश्यक है। यही कारण है कि गणित तथा ज्यामितिक युक्तियों की मदद स्पिनोजा ने सत्यता-प्राप्ति के लिए की है ताकि इस पुनीत कार्य में दार्शनिकमानव दुर्बलताओं से मदान्ध न हो जाय। अतः, स्पिनोजा की लेखनी में कहीं भी पक्षपात तथा व्यक्तिगत बातों की बू नहीं फटकने पायी है।

चूँकि स्पिनोजा ने ज्यामितिक युक्तियों को दार्शनिक विधि माना है, इसलिए अपनी प्रसिद्ध रचना Ethica (अर्थात् नीति-शास्त्र) में ज्यामिति के समान परिभाषा (definition), स्वयंसिद्धियाँ (axioms) तथा प्रस्तावना (proposition), उपसिद्धियाँ (corollaries) तथा टिप्पणियाँ (scholia) दी हैं। इस पुस्तक में २७ परिभाषाओं, २० स्वयंसिद्धियों तथा ८ मन्तव्यों (Postulates) का उल्लेख है।* दर्शन की सभी बातें ज्यामितिक स्वयंसिद्धियों, प्रस्तावनाओं इत्यादि से व्यक्त नहीं हो सकती हैं। इसलिए स्पिनोजा ने परिशिष्टों (appendices) तथा विस्तारपूर्वक टिप्पणियों में उनका स्पष्टीकरण किया है।

---

* अब स्पिनोजा के ज्यामितिक विधि को दिखाने के लिए यहाँ एक छोटा-सा उदाहरण देना अभीष्ठ मालूम देता है :

Proof IV The idea of God, from which an infinite number of things follow in infinite ways can only be one.

Proof :..Infinite intellect comprehends nothing save the attributes of God and his modifications (Part I, Prop. xxx.) Now God is one (Part I, Prop. XIV, coroll). Therefore the idea of God where from an infinite number of things follow in infinite ways, can only be one. *Q. E. D.*

(The Ethics-Part II Prop. IV)

ज्यामितिक विधियों की त्रुटियाँ :—ज्यामितिक विधि किसी भी विषय का पूर्ण अध्ययन नहीं करती है। यदि हम किसी एक त्रिभुज को लें तो इसमें रंग, घ्राण इत्यादि रहते हैं, पर ज्यामितिक विधि के अनुसार त्रिभुज की ये सब बातें बेकार हैं। इसके लिए रूप, आकार तथा त्रिभुज का क्षेत्रफल ही विशेष स्थान रखता है। अतः, ज्यामितिक विधि में वस्तुओं के कुछ अंश का अध्ययन किया जाता है और इसके अन्य गुणों को छोड़ दिया जाता है। अतः, ज्यामितिक विधि किसी भी वस्तु का अध्ययन आंशिक ही रूप में कर सकती है। परन्तु दार्शनिक अध्ययन में सभी वस्तुओं को उनके सम्पूर्णत्व में ध्यान रखा जाता है। इसलिए ज्यामितिक विधि के अपनाने से स्पिनोजा के दर्शन में आंशिकता आ गयी है।

फिर सभी प्रकार की वस्तुओं का अध्ययन भी ज्यामितिक विधि से संभव नहीं है। मानव व्यवहार की व्याख्या में हमें उसके लक्ष्यात्मक teleological तथा स्वतन्त्र प्रक्रियाओं की अवहेलना करना अनुचित है। पर ज्यामितिक जगत् में गति, लक्ष्य तथा स्वतन्त्रता का नाम निशान नहीं आता है। भला त्रिभुज का अपना क्या लक्ष्य है? फिर कौन ऐसा त्रिभुज है जो दिनोंदिन पेड़-पौधों की भाँति बढ़ता-घटता है? जब स्पिनोजा ने ज्यामितिक विधि के आधार पर मानव व्यवहार, रागात्मक वृत्तियों इत्यादि का अध्ययन प्रारम्भ किया तो इन्होंने इन सबों को रेखा, धरातल तथा त्रिभुज के समान स्थूल तथा स्थावर रूप दे दिया है। अतः, उन्होंने मानव व्यवहार की व्याख्या में कहा है कि मानव में इच्छा-स्वातंत्र्य भ्रम है और उनके सभी व्यवहार यान्त्रिकीय रूप से अनिवार्य हैं। इसलिए ज्यामितिक विधि से मानव व्यवहार की व्याख्या नहीं हो सकती है।

बात यह है कि दर्शन सभी विज्ञानों की विधि और उनके महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों का अध्ययन तथा मूल्यांकन करता है। इसलिए किसी एक ही विज्ञान की विधि को काम में लाने से दर्शन में संकीर्णता का आ जाना अनिवार्य हो जाता है। दर्शन का काम है कि वैज्ञानिक विधियों का स्पष्टीकरण तथा मूल्यांकन करे और जब यह स्वयं किसी विज्ञान की विधि को अपना लेता है तो यह किस प्रकार से वैज्ञानिक विधियों का मूल्यांकन कर सकता है? किसी भी विज्ञान को अपना लेने पर दर्शन में हठधर्मीपन (dogmatism) चला आता है। यहाँ स्पिनोजा से पूछा जा सकता है कि दर्शन में क्यों २७ ही परिभाषायें तथा २० स्वयंसिद्धियाँ होंगी? क्यों नहीं ३० परिभाषायें तथा २५ स्वयंसिद्धियाँ होंगी? तो इन प्रश्नों का उत्तर देना स्पिनोजा के लिए कठिन बात होगी।

स्पिनोजा के दर्शन पर ज्यामितिक विधि का प्रभाव :—ज्यामितिक विधि तथा ज्यामितिक उपमा को काम में लाने पर स्पिनोजा का दर्शन सर्वेश्वर-वाद हो गया है। ज्यामितिक में केवल एक ही सत्ता देश (Space) की है और यूक्लीडी ज्यामिति (Euclidean Geometry) की सभी वस्तुएँ इसी देश के संशोधन रूप हैं। जैसे, वर्ग या त्रिभुज वह देश का हिस्सा है जिसे सीधी रेखाओं से घेर लिया गया है। ठीक इसी प्रकार से स्पिनोजा के लिए परम पदार्थ एक सत्ता है जिसके विशिष्ट तथा रूपान्तरित रूप में सभी वस्तुएँ हैं। यह परम पदार्थ ईश्वर है। इसलिए सभी वस्तुओं का मूलतत्त्व ईश्वर ही है।

फिर यदि वर्ग या त्रिभुज की घेरनेवाली सीधी रेखाओं को हटा दिया जाय तो त्रिभुज या वर्ग तो लोप हो जायगा परन्तु उनका मूलतत्त्व जो देश है सो पूर्णतया संरक्षित रह जायगा। अतः, यदि कोई ज्यामिति के मूलतत्त्व देश को प्राप्त करना चाहे तो उसे सभी रूपों तथा आकारों को मिटाना होगा। इसी प्रकार यदि परम पदार्थ ईश्वर सभी वस्तुओं का मूलतत्त्व हो तो सभी वस्तुओं के तिरोहित होने पर ही शुद्ध परम पदार्थ ईश्वर की सत्ता प्राप्त हो सकती है। रूप, आकार इत्यादि को मूलतत्व का विशेषीकरण या गुणी-करण (Specialisation or qualifications or determinat-ions) कहते हैं। इसलिये मूलत्त्व को शुद्ध रूप में समझने के लिए सभी गुणों को हटाना होगा। यही कारण है कि स्पिनोजा ने परम पदार्थ ईश्वर को निर्गुण, निराकार तथा शुद्ध सत् कहा है और बताया है कि ईश्वर में श्रेष्ठतम गुणों को भी आरोप करने से उसे सीमित बना देना होता है। यदि हम कहें कि ईश्वर परम दयालु है तो हमें यह भी कहना पड़ेगा कि वह पापियों का नाश नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने से उसकी दयालुता में धब्बा आ जाता है*। इसलिए स्पिनोजा की विख्यात उक्ति है कि Every deter-

---

* श्री गुलाब राय ने इस प्रसंग में कबीर की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं जिन्हें यहाँ दे देना समीचीन मालूम होता है।

एक कहौं तो है नहीं दोय कहौं तो गारि।
है जैसा तैसा रहे, कहै कबीर विचारि॥
+ + +
भारी कहूँ तो बहु डरूँ हलका कहूँ तो झीठ।
मैं क्या जानू पीव को नैना कछु न दीठ॥
(पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास—पृ० १२९)

mination is negation. 'Determination' का अर्थ है कि किसी रूप या आकार को निश्चित कर देना। हम किसी भूमि को निश्चित करने के लिए चौहद्दी बना देते, तथा त्रिभुज या वर्ग को निश्चित रूप देने के लिए उसे सीधी रेखाओं से घेर देते हैं। पर यदि कोई निश्चित वर्ग की चौड़ाई-लम्बाई २ फीट हो तो यह स्पष्ट है कि इसकी लम्बाई ३ फीट नहीं हो सकती है। उसी प्रकार से किसी भी वस्तु को निश्चित रूप से बताने के लिए उसके गुणों को बताना पड़ता है। जैसे राम ६ फीट लम्बा, गोरा, घुँघराले बाल-वाला लड़का है जिसके पिता का नाम ————————इत्यादि। अब निश्चयी-करण के लिए विशेषीकरण किया जाता है। पर जितना ही विशेषीकरण होगा उतना किसी एक व्यक्ति तथा वस्तु का बोध होगा और उसे अन्य वस्तुओं के समझने की संभावना कम होती जायगी। पर ऐसा करने से वस्तु अति-सीमित हो जाती है क्योंकि उनमें अन्य वस्तुओं के होने की संभावना का अभाव हो जाता है। इसी से स्पिनोजा के अनुसार विशेषों अथवा गुणों के द्वारा निश्चयीकरण या सरूपीकरण में अभाव आ जाता है। यही कारण है कि स्पिनोजा और शंकर से अद्वैतवाद में सरूपी, साकारी ईश्वर को न मानकर निराकार तथा निर्गुण ईश्वर को परम सत्ता माना गया है। अब इस निर्विकार ईश्वर को परम सत्ता मान लेने में ज्यामितिक उपमा का विशेष स्थान है।

पुनः, हमलोगों ने देखा है कि ज्यामिति में गति तथा लक्ष्य नहीं दिखता है और इसलिए स्पिनोजा के दर्शन में किसी भी वस्तु में स्वतन्त्रता नहीं है और मानव में भी इच्छा स्वातन्त्र्य को नहीं स्वीकार किया गया है। यही नहीं, स्पिनोजीय परम सत्ता में गति तथा काल (time) का अभाव है और इसी से अलेक्जैंडर ने स्पिनोजा की आलोचना की है कि इसमें (time has not been taken seriously)। स्पिनोजीय सत्ता स्थावर है और इससे इसकी अपनी एक और विशेषता झलकती है। ज्यामिति में कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं पाया जाता, क्योंकि कारण-कार्य का सम्बन्ध वहीं पाया जाता है जहाँ कालान्तर हो अर्थात् पूर्वापर (successive) सम्बन्ध हो। परन्तु ज्यामिति में त्रिभुज के होने और उसके कोणों को मिलाकर दो समकोण के बराबर रहने में कोई कालान्तर नहीं देखने में आता है। फिर कारण, कार्य के होते ही लोप हो जाता है या यों कहिये कि कारण कार्य-रूप में परिणत हो जाता है। जैसे, जब वर्षा अच्छी होती है तो फसल अच्छी होती है। पर फसल और वर्षा दोनों एक साथ नहीं होती हुई कही जा सकती हैं। एक के बाद दूसरा आता है। परन्तु ज्यामिति में त्रिभुज और उसकी कर्णरेखा को अन्य दो भुजाओं के योगफल से कम होने में सहभाव (Co-existence) का सम्बन्ध

देखा जाता है और त्रिभुज तथा उसके स्वरूप से खींचे गये निष्कर्ष तथा उपसिद्धियों में रूपान्तर (transformation) नहीं देखने में आता है। ऐसी अवस्था में त्रिभुज को अपनी उपसिद्धियों तथा निष्कर्षों का मूल हेतु या आधार-कारण (ground या reason) कहते हैं। आधार-कारण और उसकी उपसिद्धियों के बीच तार्किक अनिवार्यता का सम्बन्ध पाया जाता है। यदि हम त्रिभुज के स्वरूप को समझ लें तो हमें मानना ही पड़ेगा कि इसके तीनों कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते हैं। फिर कारण-कार्य के होने में काल को स्थान देना होता है, परन्तु आधार-कारण तथा उसके फल (Consequence) में कालिक सम्बन्ध है ही नहीं। इसलिए इस प्रकार के सम्बन्ध को अकालिक (atemporal) या शाश्वत (eternal) कहा जाता है। इसलिए स्पिनोजा के दर्शन में परम सत्ता और उससे सम्बद्ध सभी वस्तुओं में शाश्वत सम्बन्ध के होने की बात बतायी जाती है। इसलिये स्पिनोजा का कहना है कि परम सत्ता और सभी वस्तुओं को शाश्वत रूप (Sub specie aeternitatis) में देखना चाहिए। अतः, ईश्वर और विश्व दोनों अनादि हैं और उनके बीच का सम्बन्ध उसी प्रकार है जिस प्रकार का सम्बन्ध दूध और उसकी सफेदी में, चीनी और उसके मिठास में पाया जाता है।

यदि ईश्वर और विश्व में अनादि सम्बन्ध है तो यह कहना कि ईश्वर ने विश्व की सृष्टि किसी समय में की है, असत्य हो जायगा। ईश्वर विश्व का मूल-हेतु या आधार-कारण उसी प्रकार से है जिस रीति से मिट्टी सभी मूर्त्तिकामय वस्तुओं का आधार-कारण है। ईश्वर का न कोई लक्ष्य है और न उसकी किसी प्रकार की इच्छा है। अतः, ईश्वर व्यक्तित्वरहित (impersonal) सत्ता है।

अतः, ज्यामितिक विधि के अनुसरण करने से काल की अवहेलना तथा सभी प्रकार के उद्देश्य का तिरस्कार सिद्ध हो जाता है। फिर मानव और ईश्वर में इच्छा-स्वातंत्र्य भी स्पिनोजीय विचार में लुप्त हो जाता है और अन्ततः में सर्वेश्वरवाद स्थापित हो जाता है।

द्रव्य, गुण तथा आकार का सिद्धान्त (The doctrine of Substance, attributes and modes) :—इस प्रसंग में एथिका नामक पुस्तक की २७ परिभाषाओं में ५ का उल्लेख किया जा सकता है।

द्रव्य :—वह है जो अपने में ही निहित है और जिसकी भावना अपने से ही हो सकती, अर्थात् जिसकी भावना करने में अन्य किसी भावना की आवश्यकता नहीं होती है (iii)।

गुण :—(Attribute) वह है जिसे बुद्धि द्रव्य का सारगुण समझती है (iv)।

ईश्वर—निरपेक्ष (Absolute), अनन्त सत्ता है,अर्थात् द्रव्य में असंख्य गुण हैं और प्रत्येक गुण शाश्वत तथा असीम या अनन्त सारतत्त्व की अभिव्यक्ति करता है (vi)।

शाश्वत—स्वयं सत्ता है, अर्थात् किसी शाश्वत सत्ता के स्वरूप से ही इसकी कल्पना की जाती है (viii)।

स्वयंभू—आत्मरचित (Self-caused) वह है जिसका सारगुण ही सत्ता है या जिसका स्वरूप बिना उसके अस्तित्व को स्वीकार किये हुए नहीं विचारा जा सकता है (i)।

✓द्रव्य—(Substance) :—अब द्रव्य वह है जो आत्मनिहित हो और जिसकी भावना करने में भी किसी अन्य भावना की आवश्यकता न हो, अर्थात् जो आत्म-निर्भर हो और जिसे किसी अन्य वस्तु पर निर्भर न रहना पड़े(१)। देकार्त ने भी द्रव्य की परिभाषा इसी प्रकार दी थी। पर यदि द्रव्य वह है जिसे किसी अन्य वस्तुओं पर निर्भर न रहना पड़े, तो द्रव्य एक ही हो सकता है क्योंकि यदि एक से अधिक द्रव्य होगा तो वे एक दूसरे को सीमित कर देंगे और उनमें पारस्परिक निर्भरता आ जायगी। यदि यह युक्ति सत्य हो तो ईश्वर को छोड़कर आत्मा तथा भौतिक पदार्थ को द्रव्य नहीं कहा जा सकता है। इसलिए स्पिनोजा ने चेतना तथा विस्तार को द्रव्य का गुण माना है, न कि इन्हें स्वयं द्रव्य माना है। अब द्रव्य आत्म-निहित है और इसकी भावना भी अन्य सभी भावनाओं से परे तथा स्वतन्त्र है। द्रव्य को इस प्रकार से मान लेने पर सिद्ध हो जाता है कि यह अनुपम तथा बेजोड़ है क्योंकि किसी भी अन्य वस्तु के विषय सोचने पर हमें उन प्रत्ययों तथा भावनाओं की आव-

(१) A Substance is that which is in itself and conceived through itself, that is, the existence of which does not involve the existence of anything else.

श्यकता पड़ जाती है जो एक को छोड़कर अनेक वस्तुओं में लागू होती है। जैसे, यदि हम कहें कि यह पुस्तक 'लाल' है, तो यह 'लाल' गुण इस पुस्तक को छोड़कर अन्य वस्तुओं में भी लागू होता है। जैसे हम फूल, कपड़े तथा कलम को भी लाल पाते हैं। स्पिनोजीय द्रव्य मे हमें, ऐसी भावना को काम में लानी है जो इसी में लागू हो और अन्य किसी भी वस्तु में लागू न हो। पर मानव विचार इस प्रकार के किसी गुण की भावना नहीं कर सकता है (१)। अतः, स्पिनोजा इस निष्कर्ष पर आते हैं कि द्रव्य में कोई ऐसा गुण या धर्म नहीं हो सकता है जो इसे सरूपी या सगुणी बना सकता है, क्योंकि प्रत्येक सगुणीकरण में द्रव्य सीमित तथा अभावात्मक (negative) हो जाता है। यदि हम कहें कि ईश्वर पूर्ण है तो यह अपूर्ण नहीं हो सकता है। अतः, स्पिनोजा की उक्ति कि every determination is negation, द्रव्य को निर्गुण तथा निराकार समझने में सहायक होती है।

द्रव्य को शुद्ध अभावात्मक प्रत्यय अर्थात् शून्य से बचाने की कोशिश स्पिनोजा ने की है। उन्होने द्रव्य को ईश्वर कहा है और बताया है कि ईश्वर में असीम तथा असंख्य गुण हैं और प्रत्येक गुण उसकी असीमता को बतलाता है। यहाँ द्रव्य तथा ईश्वर को निर्गुणी न कहकर सगुणी कहा है, पर बताया है कि ईश्वर का गुण उसे सीमित (determined) न करके उसकी असीमता का बोध कराता है। वास्तव में इस कथन से समस्या का केवल शाब्दिक समाधान हो पाता है, क्योंकि मानव किसी ऐसे गुण की कल्पना नहीं कर सकता जो किसी वस्तु को सीमित न करके उसे असीमित ठहराये। अतः, मानव दृष्टिकोण से स्पिनोजा का ईश्वर या द्रव्य गुणातीत ही हो सकता है।

ईश्वर एक, असीम, शाश्वत तथा स्वयंभू सत्ता है। अब 'एक' का गुण संख्यात्मक नहीं है क्योंकि 'एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि'। 'एक' का अर्थ है एकत्व (unity), न कि एकाई की भावना है। असीम का अर्थ है कि ईश्वर में गुण हैं और प्रत्येक उसकी असीमता का प्रदर्शन कराता है। अब स्वयंभू का अर्थ है कि जो अपने से ही उत्पन्न हुआ है अर्थात् जिसकी सत्ता

---

(१) प्रायः, लोग समझते हैं कि This table का this इसी टेबुल का बोध कराता है, परन्तु यह भी प्रत्यय है जो टेबुल को छोड़कर अन्य वस्तुओं में लागू हो सकता है। 'the' तथा 'this, की व्याख्या के लिये देखें F. H. Bradley, 'Principles of Logic' Vol, 1--pp. 63-69 (Impression of 1928)

को बिना माने हुए सोचा ही नहीं जा सके (१)। फिर चूँकि ईश्वर अनादि अजन्मा तथा स्वयंभू 'न भूतः न भवितः न भूयः, है और इसलिये सभी कालों से परे, शाश्वत है (२)।

चूँकि ईश्वर अनादि, अनन्त, शाश्वत तथा अद्वैत सत्ता है इसलिये सभी वस्तुएँ ईश्वर पर आधारित हैं। वास्तव में देखा जाय तो ईश्वर ही एक निरपेक्ष, परम द्रव्य है और उसको छोड़कर कोई दूसरी सत्ता है नहीं। अतः, सभी वस्तुएँ ईश्वर ही हैं। इसलिए प्रकृति की भी कोई स्वतन्त्र सत्ता है नहीं। जिस प्रकार से वर्ग-त्रिभुज का तत्त्व, दिक् है; उसी प्रकार से सभी वस्तुओं का आधार-कारण या मूल हेतु ईश्वर है। अतः; स्पिनोजा ईश्वर में प्रकृति को नहीं, वरन् प्रकृति में ईश्वर ही को पाते हैं। इसलिए स्पिनोजा को ईश्वर-मदमस्त कहा जा सकता है। चूँकि उन्होंने प्रकृति को ईश्वरमय समझा, तथा प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की इसलिए उनके इस सिद्धान्त को अविश्ववाद (acosmism) कहा जाता है।

चूँकि ईश्वर ही प्रकृति है इसलिए प्रकृति के सम्बन्ध में ईश्वर को दो प्रकार से पुकारा जा सकता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि स्पिनोजा के अनुसार विशिष्ट वस्तु का अपना कोई अस्तित्व नहीं है, परन्तु सभी वस्तुओं का योगफल ईश्वर ही है। जैसे यदि हम आलेख (graph) पत्र को लें तो इसमें असंख्य छोटे-छोटे वर्ग रहते हैं, परन्तु इन सब वर्गों की सत्ता तो वही देश है जो आलेख पत्र में हैं। उसी प्रकार से वस्तुओं की अपनी सत्ता है नहीं और यदि इनकी कोई सत्ता है तो वह एकमात्र द्रव्य है जो इनका मूल हेतु है। इस दृष्टिकोण से ईश्वर को Natura Naturata या प्राकृतीकृता प्रकृति कहा जा सकता है। फिर यदि ईश्वर को सक्रिय अन्तर्यामी, अन्तर्व्यापी (immanent) कारण समझें जिससे कि विश्व का प्रतिक्षण पालन होता है

1„By the cause of itself I mean something of which the essence involves existence, of which the nature is conceivable only as being in existence."

2"By Eternity, I mean existence itself, so for as it is conceived necessarily and follow solely from the definition of that which is eternal."

इन दोनों परिभाषाओं में देकार्त के ईश्वर सम्बन्धी तात्विक प्रमाण की झलक मिलती है यहाँ भी सत्ता को विचार के द्वारा स्थापित करने की चेष्टा की गयी है।

तो इस रूप में स्पिनोजा ने ईश्वर को (Natura Naturans) या प्रकृति रचयिता कहा है। अतः, विश्व को या तो निष्क्रिय या स्थावर रूप में देखा जा सकता है या सक्रिय विकासात्मक रूप में देखा जा सकता है। दोनों ही दशाओं में विश्व है नहीं और इसके स्थान पर ईश्वर ही की सत्ता है। अतः, 'लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल'। जिस प्रकार से गोस्वामीतुलसीदासजी ने जगत् को सीयाराममय माना है उसी रीति से स्पिनोजा ने विश्व को ईश्वरमय माना है। परन्तु गोस्वामी के 'राम' साकार ईश्वर हैं और स्पिनोजा के ईश्वर निराकार हैं। यदि स्पिनोजा के ईश्वर निर्गुण, निराकार हैं तो इनका कहना है कि ईश्वर में असंख्य गुण हैं, किस प्रकार युक्तिसंगत हो सकता है ? अतः, हमें अब स्पिनोजा के गुण-सम्बन्धी सिद्धान्त को व्याख्या करनी चाहिए।

गुण (attributes) :—जिस प्रकार से देकार्त के दिये गये द्रव्य-विचार से स्पिनोजा ने शुद्ध अद्वैतवाद की स्थापना की, उसी रीति से देकार्तीय जड़ तथा चेतन, आत्मा तथा भौतिक पदार्थ, चेतना तथा विस्तार के द्वैतवाद की आलोचना कर स्पिनोजा ने गुण-सिद्धान्त की स्थापना की है। देकार्त ने मन तथा शरीर की ऐसी समस्या खड़ी की थी जिसका समाधान वे स्वयं नहीं कर सके और स्पिनोजा ने स्पष्टतया देखा कि यदि मन तथा शरीर दो स्वतन्त्र द्रव्य हों तो उनके बीच किसी प्रकार का संतोषजनक सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता है। परन्तु मन तथा शरीर मानव में घनिष्ठ रूप से देखे जाते हैं और इसलिये उन्हें द्रव्य न समझकर गुण समझना चाहिए। अब आम या टेबुल में अनेक गुण बिना परस्परविरोधी होते हुए पाये जाते हैं। किसी भी आम में रंग, आकार, गन्ध, स्पर्श इत्यादि पाये जाते हैं, परन्तु ये सब गुण एक साथ ही पाये जाते हैं। अतः स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य में अनेक गुणों का सहभाव (Co-existence) है और यदि चेतना तथा विस्तार द्रव्य के गुण हैं तो इनमें भी सहभाव ही होगा। अतः, स्पिनोजा के दर्शन में मन तथा शरीर, चेतना तथा विस्तार द्रव्य से गुण में परिणत हो गये हैं और अन्योन्य क्रियावाद के स्थान पर उनमें सहचारवाद या समानान्तरवाद (parallelism) हो गया है।

पर यहाँ पर प्रश्न उठता है कि स्पिनोजा ने कहा कि सगुणीकरण से द्रव्य की कमी या उसकी परिमितता टपकती है तो द्रव्य में गुण कहाँ से संभव हैं ? इस आपत्ति को दूर करने के लिए स्पिनोजा ने गुण

की परिभाषा इस प्रकार की है। गुण वह है जिसे बुद्धि द्रव्य का सार-गुण ग्रहण करती हैं (*)। फिर उन्होंने यह भी बताया है कि द्रव्य में अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गुण द्रव्य की असीमता की अभिव्यक्ति करता है, परन्तु मानव बुद्धि असंख्य गुणों में केवल दो, अर्थात्, विस्तार तथा विचार को ही समझ सकती है। इस गुण-सम्बन्धी उक्ति में अनेक प्रश्न छिपे हुए हैं और यहाँ पर दो-चार ही की व्याख्या की जायगी।

हमलोगों ने देखा है कि स्पिनोजा के अनुसार every determination is negation और इस उक्ति की संरक्षा करते हुए उन्होंने द्रव्य में अनन्त गुणों का होना बताया है। इन दो विरोधी मतों के बीच मेल रखते हुए हम स्पिनोजा के गुण-सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं।

यह ठीक है कि सगुणीकरण से परिच्छेदन या सीमायन (limitation) होता है। जब हम कहते हैं कि कोई धनवान हैं तो वे दरिद्र नहीं कहे जा सकते हैं। परन्तु यदि द्रव्य में अनन्त गुण हों तो उसमें सभी प्रकार के गुण आ जाते हैं। अतः, द्रव्य अनन्त गुणी होने के कारण धनवान भी और दरिद्र भी, सुखी तथा असुखी भी इत्यादि हो जाता है और उसमें गुणों से परिच्छेदन नहीं आने पाता है। यहाँ पर आपत्ति यही की जा सकती है कि यदि द्रव्य में अनन्त गुण हैं तो उनमें व्याघातक गुण के एक साथ होने की सम्भावना रह जाती है। स्पिनोजा ने इस विषय पर अपने मत को स्पष्ट नहीं किया है, पर वर्तमानकालिक ब्रैडले तथा ब्रोसंकेट प्रत्ययवादियों ने बताया है कि परम सत्ता सभी गुणों की सामंजस्यपूर्ण समष्टि है और उसकी उन्होंने व्याख्या भी की है। अब वास्तव में किसी द्रव्य में सभी गुण आश्रित हो सकते हैं या नहीं, विवादग्रस्त हैं। पर स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम कहें कि द्रव्य सभी गुणों का धाम है तो किसी भी गुण का यहीं अभाव नहीं हो सकता है। अतः, यदि द्रव्य में कुछ ही गुणों का होना माना जाय तो सगुणीकरण से द्रव्य सीमायित (limited) हो जा सकता है, पर यदि इसमें अनन्त गुण का होना मान लिया जाय तो यहाँ सीमायन अथवा परिच्छेदन की अपूर्णता नहीं हो पाती है। अतः, स्पिनोजा ने द्रव्य को अनन्त गुणाश्रयी बताकर every determination is negation की त्रुटियों से बचाने की चेष्टा की है।

---

*"By attribute I mean that which the intellect apprehends as constituting the essence of substance.

फिर स्पिनोजा ने बताया है कि प्रत्येक गुण द्रव्य की असीमता का प्रदर्शन करता है। अब अन्य साधारण गुण किसी वस्तु को सीमित कर देता है, पर यहाँ कहा गया है कि गुण द्रव्य को असीमित कर देता है। हमलोगों ने पहले ही देखा है कि यह शाब्दिक समाधान है क्योंकि गुण का अपना धर्म ही है कि वह वस्तुओं को परिच्छेदित करके उसे सीमित कर दे। पर यहाँ भी गुणों के असीमायन कार्य के सिद्धान्त से स्पिनोजा ने every determination is negation की कठिनाई से बचने की कोशिश की है।

फिर उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त स्पिनोजा ने एक तीसरी लकड़ी भी लगायी है। उन्होंने बताया है कि ईश्वर के अनन्त गुण में से मानव बुद्धि केवल विस्तार तथा विचार के दो ही गुणों को ग्रहण कर सकती, और इन दो गुणों में सहचार या समानान्तर सम्बन्ध दिखायी देता है। गुणों के बीच यदि सहचार हो तो उनमें न अन्तर्द्वन्द्व होगा और न एक दूसरे का खंडन करेगा। अतः, ईश्वर के अनन्त गुण में सहचार रहने पर उनमें किसी प्रकार की विरोधिता नहीं देखने में आयेगी। अपितु, गुणों के सहचार-सम्बन्ध में एक और विशेषता है जिसका उल्लेख स्पिनोजा के समानान्तरवाद के सम्बन्ध में की जायगी। यहाँ अब स्पिनोजा के गुण-सिद्धांत की दो चार बातों का समालोचनात्मक अध्ययन भी कर लेना चाहिये।

स्पिनोजा ने जो गुण की परिभाषा दी है वह अनेकार्थक है। प्रश्न उठता है कि ये गुण वास्तव में द्रव्य के गुण हैं या जिसे मानव बुद्धि समझती है कि ये द्रव्य के सारगुण हैं। यदि हम 'बुद्धि' पर जोर दें तो हमें कहना पड़ेगा कि वास्तव में द्रव्य में क्या सारगुण है, यह हम नहीं जानते हैं, पर जो बुद्धि को आभासित होता है वहीं हम सारगुण समझते हैं। इस अर्थ में गुण मानवाश्रयी हो जाते हैं और उनकी स्वतन्त्र सत्ता में संदिग्धता चली आती है। परन्तु स्पिनोजा के दर्शन में आत्मनिष्ठता (subjectivism) का कोई स्थान नहीं है और इसलिए हमें समझना चाहिए कि स्पिनोजा के अनुसार गुण वास्तव में द्रव्यनिष्ठ है।

फिर स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य में अनन्त गुण हैं और मानव बुद्धि उनमें से केवल दो ही के जानने में समर्थ होती है। अब यदि बुद्धि दो ही को जान सकती है तो यह कैसे मालूम हुआ कि ईश्वर में अनन्त गुण हैं ? फिर यदि बुद्धि जो विचार (thought) है विस्तार (extension) को जो विचार

है नहीं, कैसे जान सकती है ? और यदि विचार के द्वारा विस्तार को जाना जा सकता है तो ईश्वर के अन्य गुणों को क्यों नहीं जाना जा सकता है ? ये सब प्रश्न ऐसे हैं कि इनका उत्तर देना कठिन है। वास्तव में ईश्वर के 'अनन्त गुण' का सिद्धांत किसी युक्ति पर आधारित है नहीं, परन्तु यह सगुणीकरण से अभावीकरण के दोष से बचने के लिए हमारे सामने रखा गया है और इसलिए उपर्युक्त आपत्तियों का वास्तविक समाधान नहीं हो सकता है। अतः, हमें अब देखना है कि स्पिनोजा के समानान्तरवाद की असली व्याख्या क्या है और इससे किस प्रकार से सगुणीकरण के अभावीकरण की समस्या हल हो सकती है।

स्पिनोजा का सहचार या समानान्तरवाद (parallelism) :—स्पिनोजा के अनुसार विस्तार तथा विचार का सहचार पाया जाता है, अर्थात् जहाँ विचार किसी एक रूप में पाया जायगा तो विस्तार भी तदनुरूप पाया जायगा, जैसे वृत्त विस्तार का उदाहरण है और इसके अनुरूप वृत्त-प्रत्यय देखने में आता है। फिर यदि 'शरीर' विस्तार का उदाहरण हो, तो उसका प्रत्यय अर्थात् 'मन' विचार के अनुरूप सत्ता होगा। अतः, विस्तार के प्रत्येक रूप के अनुकूल विचार का भी रूप पाया जायगा।

उपर्युक्त कथन से आभासित होता है कि विचार तथा विस्तार की दो स्वतन्त्र पटरियाँ हैं। परन्तु वास्तव में स्पिनोजा विस्तार तथा विचार को एक ही वास्तविकता के दो अवियोज्य पट (aspects) या पक्ष मानते हैं। जिस प्रकार से किसी चश्मे के एक ही काच के बहिर्गोल (convex) तथा अन्तर्गोल (concave) दो पक्ष हैं और जिस प्रकार से एक ही व्यक्ति को रावण तथा दशानन के दो नामों से पुकारा जाता है, उसी प्रकार से विस्तार तथा विचार एक ही सत्ता को व्यक्त करते हैं। फिर विस्तार ईश्वर की असीमता को उसी खूबी से व्यक्त करता है जिस प्रकार से विचार व्यक्त करता है। अतः, एक ही सत्ता ईश्वर को हम महाविस्तार समझते और फिर उसे महाबुद्धि कहते हैं। अतः, भौतिक विश्व तथा बुद्धिगम्य विश्व में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। अब यदि ईश्वर में अनन्त गुण हों तो वे भी इसी एक सत्ता की पूर्णता को व्यक्त करते हैं और इस प्रकार से ईश्वर अपने अनन्त गुण के कारण सीमित नहीं होता है।

स्पिनोजा के समानान्तरवाद से मन तथा शरीर के सम्बन्ध पर नया प्रकाश पड़ता है। शरार और मन में सहचार है और मन को शरीर का प्रत्यय कहा जा सकता है। परन्तु मन में केवल चेतना ही नहीं है, परन्तु आत्म-चेतना भी है और इसे स्पिनोजा ने शरीर के प्रत्यय का प्रत्यय (idea of the idea of body) कहा है। परन्तु यदि चेतना शरीर के अनुरूप हो तो वास्तव में शरीर में आत्म-चेतना के अनुरूप कुछ भी नहीं दीखता है। यहाँ पर बोसण्केट ने बताया है कि मन मस्तिष्क की सामूहिक तथा सम्बद्ध कार्यवाही का ही दूसरा नाम है। इससे अलेक्जैण्डर ने प्राकृतिवाद (Naturalism) में परिणत कर दिया है। उन्होंने कहा है कि मन मस्तिष्क ही है। अतः, मन तथा शरीर को एक ही मान लेने से इसमें प्राकृतिवाद तथा प्रत्ययवाद दोनों चला आता है। जो मस्तिष्क को मन की अभिव्यक्ति समझते हैं वे बोसण्केट के समान इससे प्रत्ययवाद का निष्कर्ष निकालते हैं, और जो मन को मस्तिष्क ही मानते हैं वे स्पिनोजा के सहचारवाद से भौतिकवाद तथा प्राकृतिवाद का निष्कर्ष स्थापित कर लेते हैं।

प्रकार (modes) का सिद्धान्तः—विश्व की विशिष्ट वस्तुओं को प्रकार कहा जा सकता है। परन्तु विशिष्ट वस्तुएँ सीमित हैं और ईश्वर अथवा परम द्रव्य असीमित हैं। अतः, प्रश्न उठता है कि असीमित ईश्वर से सीमित विशिष्ट वस्तुओं की व्याख्या किस प्रकार हो सकती है। अतः हमें स्पिनोजा के प्रकार-सिद्धान्त की व्याख्या करनी चाहिए।

द्रव्य या ईश्वर के रूपान्तर (affections or modifications) को प्रकार कहा जा सकता है, या प्रकार वह है जो अन्य वस्तुओं में है अथवा अन्य वस्तुओं के द्वारा सोचा जा सके(*)। अब प्रकार की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसका सम्बन्ध द्रव्य से उसी रीति से है जिस रीति से तरंगों का सम्बन्ध समुद्र से है। बिना तरंगों के समुद्र हो सकता है, परन्तु बिना समुद्र के तरंगें संभव नहीं हो सकती हैं। यदि तरंगों की क्षणभंगुरता पर हम ध्यान दें तो सभी 'प्रकार' क्षणिक हैं और उनका अस्तित्व कोई स्थान नहीं रखता है। परन्तु तरंगें भी समुद्र के अंग हैं और इसलिए उनमें भी वास्तवि-

*'By mode, I understand affections of substance, or that which is in another, through which is also conceived"

कता है, चाहे उनकी वास्तविकता कुछ ही क्षणों की क्यों न हो। प्रकार के प्रति ये दोनों मत हो सकते हैं। हम यदि विश्व का सभी विशिष्ट वस्तुओं को क्षणिक 'प्रकार' मान लें तो विश्व भ्रम हो जाता है और यदि प्रकारों को द्रव्य का ही अंश मान लें तो विश्व की अपनी वास्तविकता रह जाती है। हमें प्रकार के प्रसंग में विश्व के प्रति किसी निर्णय को अपनाना है और इसलिए इसकी अन्य बातों पर भी हमें ध्यान देना है।

प्रकार दो तरह के हैं अर्थात सीमित (finite) और असीमित (infinite) प्रकार। ऐसा मालूम देता है कि स्पिनोजा की तत्व-मीमांसा में सोपान क्रम (hierarchy) है। सबसे पहले द्रव्य और उसके बाद गुण का स्थान आता है। तब असीमित प्रकार का और अन्त में सीमित प्रकार का स्थान आता है। असीमित प्रकार वह है जो द्रव्य के गुणों का अनिवार्य रूपान्तर हो या गुण के अनिवार्य रूपान्तर का रूपान्तरित रूप हो (*)। अतः, विचार का असीमित प्रकार असीमित बुद्धि (intellect) है तथा विस्तार का असीमित प्रकार गति-विश्राम (motion and rest) है। इसलिए असीमित प्रकार से शायद स्पिनोजा का अर्थ है कि सभी विशिष्ट तथा सीमित प्रकारों का सामान्य धर्म है। जैसे हम कहते हैं कि विशिष्ट मानव आज हैं और कल नहीं, परन्तु मानव शाश्वत है। ठीक उसी रीति से विश्व की विशिष्ट वस्तुयें क्षणिक हैं, परन्तु विश्व स्वयं शाश्वत है। इस अर्थ में असीमित बुद्धि वह शुद्ध चेतना है जिसमें सभी विशिष्ट मानव विचार पाये जाते हैं। अब मानव विचार में विकार या परिवर्तन रहता है, परन्तु असीमित रूप में शुद्ध चेतना में कोई विकार नहीं आता है। इस अर्थ में स्पिनोजीय शुद्ध चेतना वेदान्त के ब्रह्म-चित्, कान्ट की 'परा प्रत्यक्ष की संश्लिष्ट एकता' (synthetic unity of apperception) तथा अलेक्जेण्डर के असीमित ईश्वर के प्रत्यय में प्रतिध्वनित हो सकती है(**)। फिर विस्तार के असीम प्रकार को गति-विश्राम कहा गया है, अर्थात् वाह्य

---

*"Every mode which exists both necessarily and as infinite, must necessarily follow, *either* from the absolute nature of some attribute of God or from an attribute modified by a modification which exists necessarily and as infinite"

** समसामयिक शामुएल अलेक्जैण्डर स्पिनोजा से बहुत प्रभावित हुए थे और उन्होंने स्पिनोज़ा के सम्बन्ध में कई लेख लिखा है। उन्होंने अपने मित्रों से कहा था कि मैं समसामयिक स्पिनोजा हूँ और वाईट हेड लाइबनित्स हैं।

भौतिक जगत यद्यपि क्षणिक वस्तुओं का धाम है, फिर भी यह सभी वस्तुओं के सामान्य धर्म के रूप में या इसके योगफल के रूप में शाश्वत है। यदि हम विशिष्ट वस्तुओं को लें तो इसकी तह में अणु हैं और अणुओं की तह में केवल यह असीम विस्तार का रूप है जिसे गति-विश्राम कहा जा सकता है। अतः, विस्तार को स्पिनोजा ने वैसा निष्क्रिय नहीं समझा है जैसा देकार्त ने इसे समझा था क्योंकि देकार्त के अनुसार भौतिक जगत में गति ईश्वर की बाह्य देन है। अब स्पिनोजा के 'गति-विश्राम' का अर्थ यान्त्रिक नियमों से लगाया गया है। अतः, स्पिनोजा के अनुसार भौतिक जगत् का शाश्वत रूप इसके यान्त्रिक नियम हैं, परन्तु ये वस्तुएँ जिनमें यह लागू होता है वे केवल सीमित प्रकार हैं जिनकी अपनी कोई सत्ता नहीं है। फिर चूँकि गति-विश्राम या यान्त्रिक नियमों की सत्ता असीम प्रकार की सत्ता है, बल्कि असीम द्रव्य की। इसलिये यान्त्रिक नियम बिना काल को सत्य माने संभव नहीं हो सकते हैं। अतः स्पिनोजा के अनुसार काल की सत्यता इसी भौतिक जगत के लिए है, परन्तु परम द्रव्य में इसकी सत्यता संभव नहीं है। इसलिए विस्तार के असीम प्रकार के सिद्धान्त में यान्त्रिक भौतिकवाद तथा वेदान्त की व्यावहारिक सत्ता की झलक आ जाती है क्योंकि वेदान्तीय व्यावहारिक जगत् में भी काल को सत्य माना जाता है।

स्पिनोजा का शून्यवादः— हमलोगों ने देखा है कि स्पिनोजा के अनुसार असीमित तथा सीमित प्रकारों के दो वर्ग हैं। सीमित प्रकार के अन्तर्गत विश्व की विशिष्ट वस्तुएं आती हैं। इनके विषय मे स्पिनोजा का कहना है कि इनकी अपनी सत्ता है नहीं। पर फिर कहा है कि यदि इन्हें शाश्वत दृष्टिकोण से देखा जाय तो इनके अन्दर भी सत् है। अतः, यदि वस्तुओं को कालिक या सामयिक (temporal) समझा जाय तो ये केवल सीमित प्रकार हैं और इनकी अपनी कोई सत्ता नहीं है, और यदि इन्हें अकालिक तथा शाश्वत रूप में देखा जायगा तो इनमें सत् है। यदि हम इस मत को लें तो वास्तव में वस्तुओं कि यथार्थता इनकी कालिकता पर निर्भर करती है और इसलिए जब विशिष्ट वस्तुओं के कालिक रूप को असत्य ठहराया जाता हैं तो वास्तव में वस्तुओं का तिरोभाव होता है और स्पिनोजा का दर्शन शून्यवाद हो जाता है। पर हमें देखना है कि सीमित प्रकार कैसे शाश्वत रूप में होकर समझा जा सकता है।

स्पिनोजा बराबर ज्यामिति उपमा को काम में लाते हैं। जैसे, यदि हम एक आलेख पत्र (graph) ले लें, तो इसके अन्दर के छोटे-छोटे वर्ग सीमित

प्रकार कहे जा सकते हैं। परन्तु प्रत्येक छोटा वर्ग, जैसे 'क' इसलए 'क' है कि वह अपने चारों ओर के आठ अन्य वर्गों से घिरा है फिर इन आठ वर्गों में से सब को लिया जाय वे भी इसलिए वर्ग हैं कि वे अन्य वर्गों से घिरे हैं और इस राति से वर्गों का वर्गपन शृंखलाओं में आबद्ध है। इसलिए स्पिनोजा का कहना है कि विशिष्ट वस्तुपन ईश्वर से नहीं, परन्तु वस्तुओं की शृंखला से आबद्ध है और वस्तुओं का इस दृष्टिकोण से उनमें सत्ता नहीं है। परन्तु फिर भी उन वर्गों की आधारभूमि में आलेख का दिक् है और जितने भर उनमें दिक् है उतने भर उनमें वह सत् का रूप है जो दिक् में है। यदि सभी वर्गों की घेर को हटा दिया जाय तो वर्ग अन्तर्हित हो जायेंगे और उनकी शुद्ध सत्ता 'देश' शेष रह जायगी। अतः, यदि वस्तुओं का नाम-रूप तथा अन्य धर्म हटा दिये जायें तो उनका शुद्ध सत् (being or existence) रह जायगा। चूँकि शुद्ध सत् अनादि है, इसलिए यदि वस्तुओं को सत् रूप में देखा जाय तो वे शाश्वत सत् में विलीन हो जाते हैं। अतः सीमित प्रकार या विशिष्ट वस्तुओं को हम जिस रीति से समझें उनकी वास्तविकता नष्ट हो जाती है। यदि विशिष्ट वस्तुएँ विशिष्ट रूप में हों तो स्पिनोजा के अनुसार वे द्रव्य या ईश्वर से सिद्ध नहीं होती हैं और यदि उन्हें शाश्वत रूप में लें तो उनकी विशिष्टता या सभी धर्म लोप हो जाते हैं और वस्तुओं का वस्तुपन ही नष्ट हो जाता है। अतः पारमार्थिक दृष्टिकोण में वस्तुयें तिरोहित हो जाती हैं और उनकी जगह पर शुद्ध सत् रह जाता, जो शून्य के बराबर ही समझा जा सकता है। यदि हम कोई चीज लें और कहें कि इसमें न कोई रंग-रूप, नाम, आकार इत्यादि है तो यह नहीं ही के बराबर कही जायगी।

पर यहाँ पर आपत्ति की जा सकती है कि असीमित प्रकार की वास्तविकता मानी गयी है और इसलिए स्पिनोजा का दर्शन शून्यवादी नहीं है। पर असीमित प्रकार चाहे वह शुद्ध चेतना की हो या गति विश्राम की हो अवास्तविक है। ऐसी शुद्ध चेतना जिससे सभी विचारों, कल्पनाओं तथा भावनाओं का सामान्य धर्म ही तार्किक सत्यता हो सकती है, पर मनोवैज्ञानिक सत्यता नहीं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किसी भी चेतना में विशिष्ट विचार, चाहे वह टेबुल का हो या घर का हो या शरीर का हो इत्यादि, अवश्य होगा। शुद्ध चेतना को तार्किक सत्ता के अतिरिक्त वास्तविक मानने का दोष हेगेल तथा हेगेलवादियों का है। उसी रीति से गति-विश्राम को विश्व का आधार यान्त्रिक नियम समझा

गया है । परन्तु यदि वस्तुएँ या घटनाएं जिनमें यह लागू हो सकता है सत्य नहीं हैं, तो ये नियम भी असत्य हो जाते हैं । फिर ये यान्त्रिक नियम तभी सत्य हैं जब काल की सत्यता मान ली जाय । परन्तु स्पिनोजा के अनुसार परम द्रव्य या ईश्वर अकालिक तथा अनादि है और इसलिए ये नियम भी पारमार्थिक दृष्टिकोण से असत्य हैं । अतः, असीम प्रकार भी अन्त में तिरोहित हो जाता है । परन्तु जिसे हम जगत कहते हैं वह या तो असीम या असीमित प्रकार है । और यदि यह सत् नहीं हो तो सम्पूर्ण जगत मिथ्या हो जाता है । इसलिए स्पिनोजावाद को शून्यवाद कहा गया है ।

स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद (pantheism) :—अब देखा जाय तो सीमित प्रकार या विशिष्ट वस्तुयें असीमित प्रकार में विलीन हो जाती है और अन्त में असीमित प्रकार द्रव्य या ईश्वर की सत्ता में अन्तर्हित हो जाते हैं । इसलिए ईश्वर की ही शुद्ध सत्ता रह जाती है । अतः स्पिनोजा के दर्शन में ईश्वर को छोड़कर सभी मिथ्या हो जाता है । इसी से हेगेल ने स्पिनोजा की आलोचना करते हुए कहा था कि स्पिनोजीय ईश्वर सिंह का वह मान्द है जिसमें सभी वस्तुयें तिरोहित हो जाती हैं और उससे कोई भी वस्तु यथार्थ रूप में होकर नहीं निकलती नजर आती है (*) । चूंकि स्पिनोजा के अनुसार सभी वस्तुओं में केवल एक ईश्वर ही की सत्ता सत्य है इसलिए उन्हें सर्वेश्वरवादी कहा गया है । अब सर्वेश्वरवादी को दर्शन तथा ईश्वर शास्त्र (theology) के दो दृष्टिकोण से देखा जाता है । जब यह कहा जाता है कि विश्व और मानव की सभी अनुभूतियों का एक मूल तत्त्व है जिसे ईश्वर के नाम से पुकारा जाता है तो इस सर्वेश्वरवाद को अद्वैतवाद (monism) कहा जाता है । अब फिर यदि इस ईश्वर को मानव पूजा का एकमात्र लक्ष्य समझा जाता है तो यह धार्मिक सिद्धान्त हो जाता है । अब स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद को हम जिस दृष्टिकोण से समझें, यह असन्तोषजनक ठहरता है ।

अब दर्शन का मुख्य उद्देश्य है कि सभी मानव अनुभूतियों को शृंखलाबद्ध तथा क्रमबद्ध करके एक सूत्र में बांध दिया जाय । चूंकि स्पिनोजा ने सभी अनुभूतियों को एक ही ईश्वर की सत्ता से स्पष्ट करने की कोशिश की है, इसलिए कहा जा सकता है कि एकता का दार्शनिक उद्देश्य स्पिनोजीय सर्वेश्वरवाद में प्राप्त

'spinoza's Absolute is a lion's den to which all footprints point, but from which none returns",

हो जाता है। परन्तु एकता शून्यवाद की भी हो सकती है और एकता अनेक वस्तुओं की सामंजस्यपूर्ण क्रमबद्धता से भी हो सकती है। शून्यात्मक एकता वह है जिसमें विशिष्ट वस्तुओं का लोप या तिरोभाव हो जाता है इसलिए इसे झूठी या मिथ्यापूर्ण एकता कहा जाता है। चूँकि स्पिनोजीय सर्वेश्वरवाद में उस एकात्मक सत्ता की स्थापना की गयी है जिससे विशिष्ट वस्तुओं की सत्यता तिरोहित हो जाती है इसलिए इसे असन्तोषजनक शून्यात्मक एकता कहा जा सकता है। इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा गया है कि स्पिनोजा में सम्पूर्ण एकता न होकर केवल आंशिक एकता है। इसमें लम्बरूपी (vertical) एकता है, पर क्षैतिज (horizontal) एकता नहीं है (*)। हमलोगों ने देखा है कि स्पिनोजा के दर्शन में सीमित, असीमित प्रकार के बाद द्रव्य की सत्ता है और इसे हम शुण्डाकार (Pyramid) रूप में दिखा सकते हैं। अब व्यावहारिक जीवन की वस्तुएँ आधार में या क्षितिज की दिशा में हैं और जैसे-जैसे हम उर्ध्वगामी होते हैं वैसे-वैसे व्यावहारिक वस्तुओं की क्षीणता हो जाती है और द्रव्य तक पहुँचकर ये तिरोहित हो जाती हैं इसलिए इस में क्षतिज या व्यावहारिक विशिष्ट वस्तुओं की अवहेलना की गयी है। अतः, स्पिनोजा का विचार-पक्षी धरती की गन्दगी तथा हवा के झोंकों से बचने के लिए सुदूर व्योम में विचरना चाहता है जहाँ की हवा क्षीण तथा निर्मल है पर जहाँ उसका दम भी घुटने लगता है। इस उत्तुंग व्योम की निर्मलता से क्या लाभ जब दम ही घुटने लगे ?

फिर स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद को धर्म-विज्ञान के दृष्टिकोण से भी संतोषजनक नहीं कहा जा सकता है। यह ठीक है कि ईश्वर और मानव पुजारी में आंशिक तादात्म्य (identity) रहना चाहिए क्योंकि यदि ईश्वर, पुजारी के सोच विचार तथा आकांक्षाओं से एकदम परे हो तो पुजारी के क्रन्दन को ईश्वर समझ न पायेगा और ईश्वर-वन्दना निरर्थक हो जायगी। इसलिए ईश्वर को विश्वातीत तथा मानवातीत (Transcendent) पूर्णतया नहीं होना चाहिये। परन्तु यदि ईश्वर पूर्णतया विश्वव्यापी (immanent) हो जाय तो भी वन्दना को स्थान नहीं रह जाता है क्योंकि यहाँ मानव ईश्वर की सत्ता में वैसे ही विलीन हो जाता है जैसे पानी की बूँदें सागर में विलीन हो जाती हैं। इस

---

* "Hence the abstract monism reaches vertical consistency at the cost of horizontal reality".

हालत में पुजारी का ईश्वर से पूर्णतया आत्मसात् (identification) हो जाता है। वह वेदी जिस पर फूल चढ़ाया जाय, वह फूल जो देवता की सेवा में अर्पित किया जाय, वह भक्त जो हाथ जोड़कर खड़ा होता है और वह देवता जिसकी पूजा होती है सब एक ही हो जाते हैं। तब कौन किसकी पूजा करे? या तो सभी पूज्य हो जाते, या सभी पुजारी हो जाते हैं, परन्तु पूज्य और पुजारी की दो स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह पाती है। अब स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद में जहाँ तक विश्व, मानव तथा विशिष्ट वस्तुओं की सत्यता है वह एकमात्र द्रव्य या ईश्वर की सत्ता है और सभी ईश्वर में लय हो जाते हैं और इस हालत में ईश्वर तथा मानव में इतनी भी दूरी नहीं रहती कि पूजा कि संभावना हो। अतः, स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद में धर्म तथा पूजा का स्थान नहीं रहता है। यही कारण है कि ब्रैडले तथा वेदान्त में सगुण ब्रह्म कि सत्यता व्यावहारिक जगत् तक ही सीमित मानी गई हैं और पारमर्थिक दृष्टिकोण से न तो पूज्य ईश्वर और न उनकी पूजा का स्थान सुरक्षित रहता है। इस दृष्टिकोण से स्पिनोजीय सर्वेश्वरवाद धर्म को प्रश्रय न दे सकने के कारण असंतोषजनक समझा गया है।

यदि सब कुछ ईश्वर ही है तो जो कुछ होता है उसे 'ईश की मौज' कहा जा सकता है। स्वयं स्पिनोजा का कहना है कि विश्व की तथा मानव की सभी क्रियायें उसी रीति से ईश्वर से निकलती हैं जिस रीति से त्रिभुज के सभी कोणों को मिलकर दो समकोण के बराबर होना त्रिभुज के स्वरूप से संभव होता है। ऐसी दशा में मानव अपनी प्रतिक्रियाओं के लिए उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता है। वह ईश्वर के हाथ में 'नट की कठपुतली' हो जाता है। स्पिनो-जा ने बार-बार बतलाया है कि मानव में अपनी इच्छा की स्वतन्त्रता भ्रम है। जिस प्रकार से मदिरा से मत्त होकर व्यक्ति आयँ-बायँ करता है और उसे आभा-सित होता है कि वह स्वतंत्र इच्छा से बकवास करता है, ठीक उसी रीति से मानव को मालूम देता है कि वह अपनी क्रियाओं को अपनी स्वतंत्र इच्छानुसार सम्पा-दित करता है। पर मानव को अपनी इच्छा की स्वतंत्रता कितनी ही सत्य क्यों न मालूम लगे उसकी क्रियायें नियतिवाद (determinism) की उसी कठोरता से संचालित होती हैं जिस कठोरता से पत्थर तथा यन्त्र की क्रियाएँ संचा-लित होती हैं। अब यदि हम मान लें कि मानव में इच्छा स्वतंत्र है नहीं, तो वह अपने काम की अच्छाई या बुराई के लिये उत्तरदायी न होगा और जब व्यक्ति अपने काम की अच्छाई बुराई का उत्तरदायी न हो तो उसमें नैतिक निर्णय की

गुंजाइश नहीं रह पाती है । अत: स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद में नैतिकता (morality) का स्थान नहीं रहता है। इसलिए भी स्पिनोजीय सर्वेश्वरवाद को असंतोषजनक समझा जाता है। परन्तु स्पिनोजा का परम उद्देश्य यही था कि उसके चिंतन से मानव चरित्र सुधारा जाय और मानव को चिरशान्ति मिल जाय। अत:, हमें देखना है कि जब स्पिनोजा इच्छा-स्वातंत्र्य को अस्वीकार करते हैं तो वे किस प्रकार अपने आचार दर्शन कि व्याख्या करते हैं।

स्पिनोजा का आचार-दर्शन (Ethics) :—स्पिनोजा के अनुसार व्यक्तियों को जीवन में अशांति इसलिए रहती, कि उन्हें अस्थायी वस्तुओं पर ममता हो जाती है। जब वे वस्तुएं जिनमें मन लगा रहता है नष्ट हो जाती है तो मानव शोकातुर हो जाता है। यदि हमारा मन शाश्वत तथा स्थायी वस्तुओं पर टिका रहेगा तो न हम उन्हें कभी खोवेंगे और न हमें शोक विह्वलता होगी। अत: हमारा उद्देश्य होना चाहिए कि हम शाश्वत सत्ता की खोज करें और उसे प्राप्त करें। इसलिए हमें चाहिये कि सच्चे ज्ञान मार्ग को जानें जिसके आधार पर शाश्वत सत्ता पर हमारा मन टिक जाय। अत: स्पिनोजा, सुकरात तथा भारतीय परम्परा की उस परिपाटी की पुष्टि करते हैं जिसके अनुसार सच्चे ज्ञान से ही सत्य नैतिकता प्राप्त हो सकती है। अब अपनी तत्त्वमीमांसा के आधार पर वे नैतिकता को कोई स्थान नहीं देते हैं, पर जब वे व्यावहारिक क्षेत्र में उतर आते हैं तो वे अपनी तत्त्वमीमाँसा की कठोरता को ढीली कर देते हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि यही बात काण्ट में भी पायी जाती है। उन्होंने भी शुद्ध या सैद्धान्तिक बुद्धि (Pure Reason) के कठोर निष्कर्षों को व्यावहारिक बुद्धि (Practical reason) की व्याख्या में शिथिल कर दिया है। आचार-दर्शन में स्पिनोजा ने स्वीकार किया है कि मानव को कोरा सीमित प्रकार नहीं समझा जा सकता और उसमें भी ईश्वरीय अंश है जिससे वह परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। फिर उन्होने मानव में इतनी स्वतन्त्रता भी स्वीकार की है जिससे वह अपनी गिरी हुई दशा से ऊपर उठ सकता है। अत:; हमें जानना चाहिए कि स्पिनोजा के अनुसार वह कौन सच्चा ज्ञान-मार्ग है जिसके आधार पर मानव ऊपर उठ सकता है।

ज्ञान-मार्ग की सीढ़ियाँ :—मानव मन का तत्त्व है कि उसमें भावनायें या प्रत्यय हों। इसलिए स्पिनोजा बुद्धि को मुख्य स्थान देकर संकल्प (will) की उपेक्षा करते हैं। परन्तु मानव में सभी प्रकार के ज्ञान पर्याप्त नहीं कहे जा

सकते हैं। ज्ञान की भी सीढ़ियाँ हैं। सबसे निम्नकोटि का ज्ञान कल्पना (imagination), मध्यकोटि का ज्ञान युक्तिपूर्ण विचार तथा उत्तमकोटि का ज्ञान सहज बुद्धि अथवा प्रतिभान (intuition) कहा जा सकता है। कल्पना वह ज्ञान-मार्ग है जिसके अनुसार सभी वस्तुयें अपनी विशिष्टता तथा पृथकता में दिखायी देती हैं। यदि हम आलेख के वर्ग की उपमा फिर से याद करें तो हम कह सकते हैं कि प्रत्येक वस्तु को अपनी विशिष्टता में देखने पर काल्पनिक ज्ञान होता है। परन्तु वस्तुएँ वास्तव में एक दूसरे से अलग तो हैं नहीं। जिस प्रकार से प्रत्येक वर्ग का वर्गपन अन्य वर्गों से निर्धारित होता है उसी रीति से प्रत्येक वस्तु का अपना वस्तुपन अन्य वस्तुओं के शृंखलाक्रम से निर्धारित होता है। अब युक्तिपूर्ण अथवा अनुमान-सम्बन्धी ज्ञान के आधार पर हम कारण-कार्य की शृंखला को जानने की कोशिश करते हैं। इस यौक्तिक ज्ञान (rational knowledge) में कुछ हद तक वस्तुओं की पृथकता दूर हो जाती है क्योंकि बुद्धि उन नियमों की स्थापना करती है जिसमें अनेक घटनायें सूत्रवद्ध हो जाती हैं। बुद्धि वस्तुओं की एकता को सामान्य प्रत्ययों (communes notiones) के आधार पर प्राप्त करती हैं। सामान्य प्रत्यय वे हैं जो एक प्रकार की वस्तुओं के सामान्य धर्म को बताते हैं जैसे, मानव की विवेकशीलता को व्यक्तियों का सामान्य धर्म कहा जा सकता हैं।

परन्तु बुद्धि से भी सच्चा ज्ञान नहीं मिलता है क्योंकि यौक्तिक ज्ञान वस्तुओं की एकता को सम्पूर्णतया नहीं स्थापित कर पाता है। उदाहरणार्थ विज्ञानों में अनेक नियमों की स्थापना की जाती है जिसके आधार पर हमारी अनुभूतियों में अच्छी सुव्यवस्था आ जाती है। अब यद्यपि इन नियमों के आधार पर हमारी अनुभूतियाँ सुसंगठित हो जाती हैं, तथापि स्वयं इन नियमों को सुव्यवस्थित होने की आवश्यकता पड़ जाती है। अतः वैज्ञानिक नियमों के बीच एकत्त्व स्थापित करने के लिए यौक्ति ज्ञान के उच्चतर स्तर की आवश्यकता हो जाती है जिसके आधार पर पूर्ण एकता प्राप्त की जा सके। यही बात काण्ट में भी देखी जाती है जिन्होंने वैज्ञानिक ज्ञान से भी ऊपर आदर्श एकता को प्राप्त करने के लिए प्रज्ञा के तीन प्रत्ययों की बात कही हैं। फिर युक्तिपूर्ण ज्ञान असाक्षात् (indirect or discursive) हुआ करता है, जैसे हम कहते हैं कि 'अ' बराबर है 'स' के, क्योंकि 'अ' तथा 'स' दोनों में से प्रत्येक बराबर है 'ब' के। 'ब' के माध्यम से 'अ' तथा 'स' की बराबरी

सिद्ध होती है। परन्तु सच्चा ज्ञान अमाध्यमिक तथा साक्षात् होना चाहिए। इस प्रकार का ज्ञान सहज बुद्धि द्वारा प्राप्त होता है।

सहजबौद्धिक ज्ञान वह है जिसमें ईश्वर के सार गुण और वस्तुओं के तत्त्व के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है (*)। यह वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान है जिसके अनुसार एक ही क्षण में सब वस्तुएँ ईश्वर की सत्ता से सम्बद्ध दीखती हैं। यौक्तिक ज्ञान में हम आंशिकता से पूर्णता (wholeness) की ओर प्रगति करते हैं। पर सहज बौद्धिक ज्ञान में पूर्णता से अंश की ओर प्रस्थान किया जाता है। जो बातें वर्षों के परिश्रम के बाद बुद्धिग्राह्य होती है, वह सहजबुद्धि एक क्षण में जान लेती है। उदाहरणार्थ कहा जाता है कि अद्भुत अञ्जन लगाने पर योगी दूर देशान्तरों की बात झट जान लेते हैं जिन्हें साधारण व्यक्ति तार या बेतार द्वारा जानते हैं। सहजबुद्धि सभी वस्तुओं को ईश्वर से होती हुई देखती है और चूँकि ईश्वर सर्वकालीन सत्ता है, इसलिए इसमें भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य सभी काल तिरोहित हो जाते हैं। इसलिए सहजबुद्धि सभी वस्तुओं को शाश्वत रूप में पाती है (Sub specie aeternitatis)। सहज-बौद्धिक तथा यौक्तिक ज्ञान में निम्नलिखित अन्तर है :—

(क) यौक्तिक (intellectual) ज्ञान सामान्य धर्मों में निहित होता है। परन्तु सामान्य धर्म विशिष्ट धर्मों की अवहेलना से सम्भव होता है और इससे वस्तुओं की वास्तविकता, जो इनकी विशिष्टता पर निर्भर करती, युक्तियों के आधार पर नहीं जानी जाती है। परन्तु सहजबुद्धि किसी भी वस्तु को उसकी सम्पूर्ण विशिष्टता के साथ जानती है। जैसे, यदि हम किसी गुलाब के सम्पूर्ण सौन्दर्य को एक ही क्षण में ले आना चाहें तो उस फूल की सम्पूर्ण विशिष्टता को सामंजस्यपूर्ण रूप से देखना होगा। अब सहजबुद्धि वस्तुओं को सत्ता की सम्पूर्णता में देखती है और इसलिए इस प्रकार का ज्ञान वास्तविक वस्तुओं का होता है।

(ख) फिर यौक्तिक ज्ञान असाक्षात् तथा माध्यमिक होता है जिसका उदाहरण ज्यामितिक सिद्धियों में देखा जाता है। परन्तु सहजबुद्धि सभी वस्तुओं को तत्क्षण, साक्षात् रीति से ग्रहण कर लेती है।

"Intuitive knowledge is that kind of knowing which proceeds from an adequate idea of the formal essence of attributes of God to the adequate knowledge of the essence of things.

(ग) यौक्तिक ज्ञान वस्तुओं की पृथकता को दूर कर उन्हें नियमबद्ध कर लेता है। पर इसका सूत्रीकरण अधूरा होता हैं। सभी वस्तुओं का पारमार्थिक सूत्रीकरण सहजबुद्धि के ही आधार पर संभव होता हैं।

स्पिनोजा के अनुसार सहजबुद्धि के ही आधार पर व्यक्तियों को परमानन्द प्राप्त हो सकता है। यह वाद स्पिनोजा के 'बन्धन तथा मुक्ति' (bondage and freedom) के प्रसंग में स्पष्ट होती हैं और अब हम इस प्रसंग की व्याख्या करेंगे।

मानव-बन्धन :—स्पिनोजा के अनुसार सभी वस्तुओं में अपनी प्रेरणा शक्ति (conatus) है जिसके अनुसार वे अपनी स्थिति में जारी रहती हैं। इस प्रेरणा शक्ति को विस्तार तथा चेतना दोनों दृष्टिकोणों से स्पष्ट किया जा सकता है। जीवों के अन्दर की इस प्रेरणा शक्ति को प्राणशक्ति (vitality) कहा जा सकता है। अतः, मानव में भी प्राणशक्ति है जिसके कारण मानव अपनी जीवित स्थिति में कायम रहता है। यह प्राणशक्ति या तो वाह्य कारणों से या आन्तरिक गतियों से नियंत्रित हो सकती है (*)। यदि प्राणशक्ति वाह्य कारणों से नियन्त्रित हो तो इससे निष्क्रिय भाव (†) (affection or passion) कहते हैं। इसी निष्क्रिय

---

*"By pleasure I mean a passive state by which the mind passes to a greater, by pain a passive state by which it passes to a lesser perfection." By 'perfection' is meant the enhancement of bodily or mental power in the struggle of self-preservation.

†चूँकि स्पिनोजा तो देकार्तीय मन के द्विविभाजन को ही मानते हैं इसलिए निष्क्रिय भाव तथा गत्यात्मक संवेग (emotions) को एक ही शब्द passion में व्यक्त करते हैं। Passion का शाब्दिक अर्थ है उस स्थिति से जिसमें व्यक्ति निष्क्रिय हो और अन्य वस्तुएँ उन पर अपना प्रभाव डालें। परन्तु यद्यपि भाव (feeling or affection) के लिए यह व्याख्या लागू हो सकती है, पर desire लालसा या चाहना के लिए यह व्याख्या ठीक नहीं बैठती है। पर अंग्रेजी के इस शब्द का अब अर्थ होता है रागात्मक वृत्तियाँ।

यहाँ देकार्तीय व्याख्या अभिलक्षित होती है क्योंकि देकार्त के अनुसार passion वह confused idea है जो animal spirits से उत्पन्न होकर चेतना में विडम्बना या धक्का पहुंचाये।

फिर चूँकि सुख या असुख प्रेरणाशक्ति conatus की सन्तुष्टि-असन्तुष्टि से उत्पन्न होती कही जाती है, इसलिए स्पिनोजा का यह मत वर्त्तमानकालिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से भी पुष्ट होता है।

भाव के अन्तर्गत सुख, असुख, तथा कामना आती है। परन्तु यदि प्राणशक्ति आन्तरिक कारणों से ही नियन्त्रित हो तो इसे स्वतंत्र क्रिया कहा जा सकता है। यदि भाव से आत्म-प्रेरण-शक्ति (self-preservation) में बल मिल जाय तो इसे सुख-भाव (pleasure) कहते हैं, और यदि इस आत्म-प्रेरण-शक्ति में भाव से क्षीणता आ जाय तो इसे दुःख या असुख भाव कहते हैं। यदि चूंकि भाव वाह्य कारणों से होता है जिस पर जीवों का कोइ अधिकार नहीं रहता है, इसलिए इसे हम उनका बन्धन या दासता कह सकते हैं। भावों की मेखला से मुक्त होने का दूसरा नाम है छुटकारा तथा मुक्ति* ।

मानव-मुक्ति तथा स्वतंत्रता—स्पिनोजा इच्छा-स्वातंत्र्य को न तो ईश्वर में और न मानव में स्वीकार करते हैं। इसलिए इनके अनुसार सभी घटनाएँ नियति-नियमों में जकड़ी हुई हैं। इस दशा में उसी क्रिया को स्वतंत्र कहा जाता है जो किसी वस्तु के अपने स्वरूप से ही संचालित हो। यदि मानव व्यवहार आत्म-स्फुरित भावना से ही संचालित हो तो इसे स्वतंत्र व्यवहार कहा जाता है। अतः आत्म-नियन्त्रित (self-determined) व्यवहार को हो स्वतंत्र व्यवहार कहा जा सकता है। आत्म-स्फुरित भावना वह है जो मानव की आत्म-सत्ता के तत्त्व से निर्देशित हो (*) और इसका अर्थ है कि उसी भावना को आत्म-सत्ता के तत्त्व से निर्धारित होना समझा जायगा जो स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो। चूंकि स्पष्ट तथा परिस्पष्ट भावना बुद्धि से ही प्राप्त हो सकती है, इसलिए बौद्धिक जीवन ही स्वतंत्र जीवन है। परन्तु 'बौद्धिक प्रेम' बतलाता है कि सभी घटनाएँ एकात्मक सत्ता ईश्वर से ही संचालित होती हैं, इसलिए जो व्यक्ति वस्तुओं या घटनाओं को ईश्वरीय समझ कर उनके अनुसार स्पष्ट तथा परिस्पष्ट भावना से काम करता है, वही स्वतंत्र तथा मुक्त व्यक्ति है।

यदि व्यक्ति रागात्मक बृत्तियों तथा भाव के वश में होकर कोई काम करता है तो वह बाह्य वस्तुओं के प्रभाव में होकर काम करता है। और यदि कोई बाह्य कारणों से नियन्त्रित हो तो वह अपनी सत्ता के अनुसार काम नहीं करता हैं। ऐसे व्यक्तियों की गति उस तिनके के समान है जो नदी की लहरों में वायु-विताडित होकर इधर-उधर बहता रहता है। ऐसे व्यक्ति अपने भावों के

---

*यहाँ पाठक देखेंगे कि स्पिनोजा के Passion में जिस प्रकार से Passion में गतिशील 'चाहना' चला आता है, उसी रीति से Freedom का यहाँ अर्थ छुटकारा भी हो सकता है और स्वतंत्रता भी।

दास हैं। अत:, स्वतंत्र होने के लिए व्यक्ति को बाह्य संचालित न होकर आत्म-नियन्त्रित होना चाहिए। मानव का सारगुण उसकी बुद्धि में है। अत: उसे अपने तत्व से संचालित होने के लिए बुद्धिगम्य स्पष्ट तथा परिस्पष्ट भावनाओं के अनुसार काम करना चाहिए। इसलिए यदि कोई भाव हो और हम उसे समझ ले तो वह भाव नहीं रह पाता है क्योंकि समझ लेने पर भाव वौद्धिक भावना वन जाता है*। पर भाव शरीर के अन्दर की उन प्रक्रियाओं से उत्पन्न होता है जो शरीर के वाहर की वस्तुओं से उत्पन्न होती हैं और इसलिए किसी भी भाव को समझने के लिए कारण-कार्य की सम्पूर्ण शृंखला को जानना पड़ता है। पर कोरी युक्ति से यह संभव नहीं हो सकता है। इसलिए हमें अपनी सहजबुद्धि के आधार पर किसी भी घटना को सम्पूर्ण विश्व के दृष्टिकोण से देखना पड़ता है। सार्वभौमिक दृष्टिकोण से देखने पर ज्ञात होता है कि सभी घटनाएँ ईश्वर से नियन्त्रित होती हैं। ऐसा समझकर कि सभी घटनाएँ ईश्वर-लीला या 'मालिक की मौज है' बुद्धिमान व्यक्ति न किसी से ईर्ष्या रखता है और न द्वेष, क्योंकि दुर्जन और सज्जन, सभी व्यक्तियों के व्यवहार ईश्वर से ही संचालित होते हैं। तो क्या बुरे-भले का कोई भेद नहीं है ? नहीं, बुरे-भले का भेद है। अच्छा व्यक्ति वह हैं जो ईश्वर की पूर्णता में भागी होता है, ईश्वरीय बातों को जानकर ईश्वर की सेवा में जीवन-यापन करता है। पर मूर्ख व्यक्ति वह है जो ईश्वरीय कार्य में अनजाने ही साधन होता और इसी साधन रूप में ईश्वरीय प्रेम से वंचित होकर नष्ट हो जाता है।

ज्ञान-मार्ग के दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि कल्पना के पीछे दौड़ने वाला व्यक्ति वस्तुओं की पृथकता से आकृष्ट होकर उन पर अपने मन को टिकाये रहता है और उसे क्षणभंगुर वस्तुओं से अमर शान्ति नहीं मिल सकती है। परन्तु यौक्तिक ज्ञान को पारकर जो व्यक्ति सहजबौद्धिक ज्ञान की अमर ज्योति में प्रवेश करता है, वह सभी घटनाओं को ईश्वर से होती हुई देखता है। वह स्वयं किसी भाव का दास नहीं बनता क्योंकि उसका व्यवहार बुद्धि से

---

* A free action is nothtng but the essence of a thing itself ..its power of doing those things which follow necessarily from its nature. But the essence of reason is nothing but our mind in so for as it clearly and distinctly understands"

** We stifle passions by understanding them. फिर कहा हैं; "Error is extinguished, and its power over the mind ceases when we know it as error."

नियन्त्रित होता है। भावों से ऐसा मुक्त व्यक्ति सभी घटनाओं को ईश्वरीय लीला समझकर ईश्वर के प्रति प्रेम से विह्वल हो उठता है। सभी घटनाओं को ईश्वरमय समझकर वह उनका सहर्ष स्वागत करता है। जीवन की कटु अनुभूति उसे त्रस्त नहीं करती और सुखद अनुभूतियाँ उसे अपने भुलावे में नहीं डाल सकती हैं 'हर्ष-विषाद बिखेरे' ऐसे व्यक्ति न किसी की झूठी प्रशंसा के मुहताज रहते हैं, न उन्हें किसी का भय होता है। जीवन के सभी प्रलोभनों से निर्लिप्त होकर मानव के उच्चतम ज्ञान से ही उत्प्रेरित होकर वे सभी कामों को तटस्थ रूप से सम्पादित करते हैं(*)। इस प्रकार के जीवन के (attitude) को स्पिनोजा ने ईश्वर का बौद्धिक प्रेम (Amor intellectualis dei) कहा है। यह मानव में वह इश्वरीय प्रेम है जिसमें स्वयं ईश्वर अपने को प्रेम करता है। इस प्रकार के प्रेमसे आत्मा की सम्पूर्ण संतुष्टि होती और यह सभी अधम भावों को कुचलने में अमोघ अस्त्र का काम करता है।

चूँकि ईश्वर और प्रकृति एक ही हैं, इसलिए ईश्वर के बौद्धिक प्रेम का अर्थ है कि ईश्वर तथा प्रकृति की नियतिवादी सत्ता में अपने को लीन कर दिया जाय। अत: मनोवैज्ञानिकीय नैतिक (Psychological-ethical) दृष्टिकोण से ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम का अर्थ है कि भावों को बुद्धि से जीत-कर तटस्थ हो जाना चाहिये। तात्त्विक दृष्टिकोण से इसका अर्थ है कि जहाँ तक संभव हो व्यक्ति को ईश्वरीय सत्ता से आत्मसात् कर लेना चाहिए। चूँकि स्पिनोजीय ईश्वर धार्मिक सत्ता है नहीं, इसलिए स्पिनोजीय ईश्वरीय प्रेम अलौकिक अवश्य है, पर यह भक्तों की भक्ति नहीं है। इसलिए स्पिनोजा के ईश्व-रीय प्रेम को धार्मिक रहस्यवाद तथा भक्तों की स्वानुभूति के रूप में नहीं सम-झना चाहिए। यह वास्तव में निर्मम बौद्धिक जीवन की अपूर्व तपस्या का चरम विकास है। यह प्रेम निःस्वार्थ ही नहीं वरन् वह प्रेम है जिसमें अपनापन या

---

*"The man who lives according to reason will, therefore strive and rise above pity and vain regrets.. He will consider nothing worthly of hatred, mockery or contempt. He will look at life dispassionately and fearlessly obeying no one but himself, doing that only which he knows to be best, conquered neither by human miseries nor his own mistakes."

स्वत्व ही मिट गया है (*) । यह दीया के प्रति पतंग का वह प्रेम है जिसकी पराकाष्ठा में पहुँचकर वह अपनी बलि चढा देता है । यह वह प्रेम है जो प्रेमी प्रेमिका के प्रति बिना प्रीति पाने की अभिलाषा से करता है । स्पिनोजीय प्रेमी को बस इतना ही चाहिए कि वह ईश्वर से प्रेम करे । उस दीवाने को इसकी क्या चिन्ता है कि ईश्वर उससे प्रेम करता है या नहीं । वास्तव में स्पिनोजीय ईश्वर में मानव भक्तों के प्रति प्रेम की संभावना नहीं देखी जाती है । यह वह तालाब है जिसमें पंछी प्यासो जाय । ऐसे ईश्वर को प्रेम करना अत्यन्त कठिन है पर स्पिनोजा का कहना है कि सभी उत्तम चीजें जितना अधिक अप्राप्य हैं उतनी ही अधिक दुस्तर भी हैं (†) ।

स्पिनोजा के दर्शन की आलोचना और उसका मूल्यांकन :—स्पिनोजा का दर्शन धर्म-प्रधान कहा जायगा और देकार्त से लेकर सामयिक विचार धारा में दर्शन को धर्म से स्वतन्त्र बनाने का प्रयास किया गया हैं । यही कारण है कि स्पिनोजा का दर्शन उस रूप में नहीं लिया गया है जिस रूप में स्पिनोजा ने इसे समझा और उसका प्रतिपादन किया था । इसलिये कहा जाता है कि स्पिनोजीय दर्शन को समझने का कम और इसकी आलोचना ही करने का प्रयास अधिक हुआ है । कुछ दूर तक यह बात सच्ची है ।

स्पिनोजा दर्शन के तीन मुख्य भाग हैं अर्थात् तत्वमीमांसा. नीति और धर्म । हम इन तीनों के प्रति आलोचकों के मत को देकर उनका मूल्यांकन करेंगे ।

तत्वमीमांसा के प्रति आपत्तियाँ :—स्पिनोजा के दर्शन के सम्बन्ध में कुछ परम्परागत और कुछ सामयिक आपत्तियाँ उठायी गयी

---

*This love is not selfish nor unselfish, but selfless. It was this aspect of Spinozism which had appealed to the mind of Goethe.

†Ethica के अन्तिम भाग में स्पिनोजा की उक्ति उल्लेखनीय है जिसमें काण्ट के निरपेक्ष आदेश (categorical imperative) तथा सुकरात के अन्तिम आदेश की अभिव्यंजना देखने में आती है; "If the way which I have pointed out as leading to this result seems very hard, it can nevertheless be found. Need must it be hard since it is so seldm discovered. If salvation were ready to our hand, and could without great labour be discovered, how could it be by almost all men neglected? But all things excellent are as difficult as they are rare."

हैं। परम्परागत आपत्ति यह की जाती है कि स्पिनोजावाद शून्यवाद में परिणत हो जाता है और इसकी व्याख्या हम पहले हीं कर चुके हैं। समसामयिक तर्कनिष्ठ अनुभववादी दृष्टिकोण से किसी भी तत्वमींमांसा को अर्थपूर्ण नहीं माना जायगा क्योंकि परम तत्व को वैज्ञानिक विधि के द्वारा स्थापित और प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। वैज्ञानिक विधि के अनुसार जिस वस्तु या सत्ता का ज्ञान हम प्राप्त करना चाहते हैं उसे किसी रूप में अनुभूति का विषय रहना चाहिये । स्पिनोजा के अनुसार एकद्रव्य अथवा ईश्वर एकमात्र सत्ता है। तो भी हमें इसकी अनुभूति हो सकती है ? हाँ, स्पिनोजा के अनुसार हमें परम सत्ता की अन्तःप्रज्ञा (intuition) हो सकती है। पर यह सहज ज्ञान या अन्तः प्रज्ञा है क्या ? वास्तव में यह रहस्यमय अनुभूति है जिसे गूढ़ या गहन ज्ञान की संज्ञा दी गयी है। परन्तु वैज्ञानिक अनुभूति वह अनुभूति है जो सर्वसुलभ हो और जिसे सिद्धान्त रूप में सभी अपने में दुहरा सकते हैं। स्पिनोजा के द्वारा बताये गये ईश्वर के गहन ज्ञान को सभी व्यक्ति नही प्राप्त कर सकते हैं और न इसे सार्वजनिक रीति से सभी के सामने रखा जा सकता है। यदि कोई इन्द्रिय-अनुभूति के विषय पूछे तो सभी को बताया जा सकता है कि अमुक घास हरी है या अमुक गुलाब लाल है। पर ईश्वर के विषय में किसी वस्तु को या मूर्ति को या आकाश दिखाकर नहीं कहा जा सकता है कि यह ईश्वर है। यह गूँगे के गुड़ के समान ऐसी अनुभूति है जो किसी अन्य व्यक्तियों पर व्यक्त नहीं की जा सकती है। यह स्वानुभूति की बात है, कहा-कही या बोला-बोली की बात है नहीं । इसलिये स्पिनोजा का ईश्वर-सम्बन्धी अन्तःप्रज्ञा अति व्यक्तिगत तथा आत्मगत ज्ञान है और इसे वैज्ञानिक ज्ञान से एकदम भिन्न समझना चाहिये। इसलिये अब चूँकि तर्कनिष्ठ अनुभववादी केवल वैज्ञानिक ज्ञान को ही ज्ञान को संज्ञा देते हैं, इसलिये वे स्पिनोजा के बताये गये परमसत्ता के गहन ज्ञान को ज्ञान नहीं मानते हैं।

अब परम्परागत तथा तर्कनिष्ठवादियों की आपत्तियाँ उनकी अपनी दृष्टि से की गई हैं और चूँकि ये दोनों प्रकार की दृष्टियां निर्मूल नहीं हैं, इसलिये स्पिनोजा के तत्वमीमांसा की आलोचनायें भी निराधार नहीं हैं। इन दोनों दृष्टियों के अनुसार तत्वमीमांसा ज्ञानात्मक प्रक्रिया है जिसमें वैज्ञानिक ज्ञान की स्थापना होती हैं। हमलोगों ने प्रथम ही अध्याय में दिखाने की कोशिश की है कि तत्वमीमांसा विज्ञान नहीं है। यह रागमूलक शास्त्र है और इसका

उद्देश्य है कि विचारकों में समस्त ब्रह्माण्ड के प्रति ऐसी अभिवृत्ति हो जाय जिससे उनमें और समस्त प्राणियों में आत्मविकास और सर्वोदय संभव हो सके। इसलिये तर्क अथवा युक्तियाँ दर्शन का तत्व नहीं, वरं विश्वचित्रण अथवा विश्व के प्रति दिव्य दृष्टि ही दर्शन का निचोड़ है। यह ठीक है कि अनुभूतियों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए क्योंकि इन्हीं अनुभूतियों की व्याख्या करने इनके वर्गीकरण तथा परिशोधन के लिए तो दिव्यदृष्टि की आवश्यकता होती है। इसलिये यदि स्पिनोजा का दर्शन शून्यवाद ठहरा तो यह इसकी कमी सिद्ध होगी। हम अपनी आँख बन्द कर लेने पर यथार्थ जगत को देखने से इन्कार कर सकते हैं, पर इससे जगत काफूर नहीं हो जाता है। 'मूँदे आँखिन कतहु कोउ नाहीं' उसी के लिए हैं जिसने आँख मूँदी हैं, पर विश्व की अपनी वास्तविकता ज्यों की त्यों बनी रहती हैं।

परन्तु इस सम्बन्ध में भी सर्वप्रथम यह निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता कि स्पिनोजा का दर्शन शून्यवादी है*। और यदि हुआ भी तो इसमें वास्तविक सामग्रियों और तर्क की कमी तो अवश्य कही जायगी, परन्तु इसमें विश्वदृष्टि का लक्ष्य बड़ी प्रज्वलता के साथ निखरता है। स्पिनोजा का उद्देश्य था कि मानवों को क्षणिक सुख में भुलानेवाले संसार से विमुख किया जाय, आपस के स्वार्थभाव को दूर किया जाय, विश्वप्रेम बढ़ाया जाय और स्थितप्रज्ञ बनाया जाय। एकवाद की रचना कर स्पिनोजा ने अपनी दार्शनिक दिव्यदृष्टि का भूरि-भूरि परिचय दिया है। हाँ, यदि स्पिनोजा के दर्शन में कमी हुई है तो यह उनके तर्क और उपमा की। स्पिनोजा ने ज्यामिति-विधि और तर्क को अपने दर्शन का रचनात्मक प्रत्यय या मूल उपमा माना है और यही कारण है कि उनके दर्शन में दैनिक जीवन की कालविधि, इच्छा-स्वातन्त्र्य उद्देश्यपूरकता इत्यादि की अवहेलना हुई है। किसी भी दर्शन में विश्व चित्रण के के लिये वास्तविक घटनाओं के साथ-साथ तर्क युक्तियाँ सामञ्जस्यपूर्ण होनी चाहिये और स्विनोजा के दर्शन में विश्व की सामग्रियों और युक्तियों की परिपूर्णता नहीं पायी जाती है। जितनी स्पिनोजा की दिव्य दृष्टि पैनी है उतनी उनकी युक्तियाँ नहीं। परन्तु किसी भी दर्शन के मूल्यांकन में दिव्य दृष्टि की गहराई पर ही ध्यान जाना चाहिये। अब स्पिनोजीय सर्वेश्वरवाद मानव-

---

*देखें स्पिनोजा का गुण सम्बन्धी या अपरिमित प्रकार का सिद्धान्त।

बुद्धि का दिव्य आदर्श हैं यदि इसकी त्रुटियाँ स्पष्ट हो जाती है तो सिद्ध हो जाता कि दार्शनिक समस्याओं का समाधान कोरी बुद्धि के आधार पर नहीं हो सकता है, अतः हम यह पाठ स्पिनोजा के अध्ययन से सीखते हैं। हमलोगों ने स्पिनोजा की आलोचना अवश्य की हैं, पर इससे उनके महत्वपूर्ण विचारों का अनादर नहीं होता है। महान् विचारक इसलिए नहीं पैदा होते हैं कि लोग उनकी पूजा करें। उनके विचारों का समादर उनके श्रवण-मनन, खण्डन मण्डन से होता है। यदि पक्षपातरहित अध्ययन के बाद भी उनके विचारों से मतभेद रह जाता तो इस मतभेद को श्रद्धांजलि के रूप में अर्पित करने से ही उनके विचारों से सच्ची सेवा होती है।

तब अन्त में हमें मानना ही पड़ेगा कि कोई पूर्वानुभविक (a priori) प्रत्ययों के आधार पर वास्तविक विश्व चित्रण करना चाहे तो उसे भ्रमपूर्ण कहा जायगा। स्पिनोजा ने पर्वानुभविक परिभाषाओं के आधार पर तत्व-मीमांसा की रचना की हैं और इसलिये इसमें वास्तविक घटनाओं का स्थान नहीं है। इसलिए स्पिनोजीय विश्वचित्रण परिपूर्ण नहीं माना जायगा।

आचार दर्शन के प्रति आपत्ति :—स्पिनोजा के आचार पर दर्शन के सम्बन्ध में प्रायः ये आपत्तियाँ की जाती हैं। सर्वप्रथम कहा जाता है कि स्पिनोजा के दर्शन में सभी घटनाएँ नियतिवादीय नियमों से जकड़ी हुई हैं। इसलिए मानव व्यवहार और उसका ज्ञान भी इसी नियतवादी व्यवस्था से संचालित होता है। यदि ऐसी बात है तो यह किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं करता है कि उसे इश्वर का बौद्धिक प्रेम प्राप्त हो या नहीं। यदि ईश्वरीय सत्ता के आधार पर किसी व्यक्तिविशेष में ईश्वरीय प्रेम हो जाय तो यह उसकी चेष्टा पर निर्भर नहीं करता है। अतः मानव स्पिनोजीय शिक्षा से अपने आचार को ऊँचा-नीचा नहीं कर सकता है और इसलिए यह निर-र्थक शिक्षा है। और यदि मानव में इतनी स्वतन्त्रता है कि वह अपने को अपनी इच्छानुसार ऊँचा उठा सकता है तो स्पिनोजा के दर्शन का नियतिवाद (determinism) मिथ्या हो जाता है। अतः स्पिनोजा की आचार-शिक्षा और उसकी तत्वमीमांसा में ऐसी विरोधिता है जिसे युक्तिसंगत नहीं ठहराया जा सकता है।

फिर बौद्धिक प्रेम आत्मसंगत प्रत्यय नहीं है। 'प्रेम' भाव तथा रागात्मक वत्तियों का संकेत करता है और 'बुद्धि' ठीक इसके अभाव में काम में लाई जा

सकती है। स्वयं स्पिनोजा ने बताया है कि भाव बौद्धिक हो जाने पर भाव नहीं रह पाता है (1)। अतः यदि प्रेम हो तो वह बौद्धिक नहीं हो सकता है और यदि वह बौद्धिक हो तो वह प्रेम नहीं हो सकता है।

वास्तव में मानवता में बुद्धि तथा संकल्प दोनों पाये जाते हैं और इन दोनों के संयोग से मानव व्यवहार की व्याख्या की जा सकती है। यदि मानव में संकल्प हो तो उसे पूर्णतया बौद्धिक नही किया जा सकता और न बुद्धि ही को पूर्णतया संकल्पात्मक किया जा सकता है। स्पिनोजा मानव संकल्प के प्रति अत्याचार करते हैं जब वे इसे केवल बौद्धिक ही समझते हैं। यही कारण है कि हमें सही ज्ञान हो जाने पर भी शायद उसके अनुसार हमारा व्यवहार न हो। यह साधारण ज्ञान है कि पियक्कड जानता है कि पीना बुरा है और फिर भी इस ज्ञान के रहने पर भी वह अपनी लत नहीं छोड़ सकता है। अतः यह आक्षेप लगाया जाता है कि स्पिनोजा का आचार-दर्शन पूर्णतया बौद्धिक वादी है जिसमें अन्य प्रक्रियाओं की अवहेलना की जाती है। इसलिये प्रायः स्पिनोजा के दर्शन को विचारकों ने अधूरा माना है। पर क्या ये आपत्तियाँ सार्थक हैं ?

कहा जाता है कि स्पिनोजा वाद में नियति वाद है और जहाँ सभी प्रक्रियायें नियतिवाद के नियमों से जकड़ी हों तो वहां इच्छा-स्वातन्त्र्य नहीं होता और वहां आचार की सम्भावना नहीं हो सकती है।

इस आपत्ति को सार्थक तभी समझा जायगा जब नियतिवाद और इच्छा-स्वातन्त्र्य को परस्परविरोधी मान लिया जाय। परन्तु समसामयिक अनुभव-वादी इन्हें परस्पर-विरोधी नहीं मानते हैं। उनके अनुसार नियतिवाद और इच्छा-स्वातन्त्र्य दोनों में कोई विरोध नहीं है। यदि हमारी इच्छात्मक प्रक्रिया नियतिवादी कही जाय तो इसमें कोई दोष नहीं है। इसके अनुसार किसी भी प्रक्रिया को स्वतन्त्रता की संज्ञा देने के लिए इसमें निम्नलिखित तीन शर्तें रहना चाहिए *।

स्पिनोजा की उक्ति है कि an emotion ceases to be passion as soon as we form a clear and distint idea of it.

*यहां ऐर की उक्ति उल्लेखनीय है:—
To say that I could have acted otherwise is to say, first that I could have acted otherwise if I had so chosen; secondly that my action was voluntary in the sense in which action say of the kleptomaniac are not and thirdly that nobody compelled me to choose as I did: and these three conditions may very well be fufilled. Quoted by Maurice Cranston, Is there a problem of the freedom of the will ? in the Hibbert Journal, vol. 51, 1952-1953-pp. 49-50

१. किसी भी स्वतन्त्र प्रक्रिया में आन्तरिक और बाह्य बाध्यता नहीं रहनी चाहिये। यदि किसी को ढकेल दिया जाय और वह गिर पड़े, तो इस गिर पड़ने को बाध्य, न कि स्वतन्त्र प्रक्रिया कहा जायगा। उसी प्रकार यदि आवेश या अचतेन प्रभावों में आकर काम हो जाय तो ऐसे व्यवहार को आंतरिक कारणों से नियन्त्रित होने के कारण स्वतन्त्र प्रक्रिया नहीं माना जाता है

२. अनुभववादियों के अनुसार सभी प्रक्रियायें मानसिक, सामाजिक तथा अन्य कारणों से संचालित होती हैं। इसलिये स्वतन्त्र प्रक्रिया भी पूर्णतया नियन्त्रित होती है। इसलिये नियतिवाद और इच्छा-स्वातन्त्र्य में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

३. केवल काम के होने में इस बात के कहने की गुंजाइश रहनी चाहिये कि अमुक स्वतन्त्र प्रक्रिया जिस रूप में हुई वह अन्य किसी रूप में भी हो सकती थी।

अब यदि कोई भी स्वतन्त्र प्रक्रिया अपने कारणों से पूर्णतया नियंत्रित कही जा सकती हैं, तो यह कहना कि स्पिनोजा के नियतिवाद में स्वतन्त्र प्रक्रियाओं का स्थान नहीं है युक्तिपूर्ण नहीं ठहरेगा। उसी प्रकार यह कहना आचार-विचार स्वतन्त्र प्रक्रियाओं से ही सम्बन्ध रखता है इसलिए नियन्त्रित प्रक्रियाओं में बुरे-भले का आचारनिर्णय संभव नहीं हो सकता है, उचित नहीं ठहरेगा। इसलिए समसामयिक अनुभववादी मत के अनुसार स्पिनोजावाद में भी आचार की संभावना संरक्षित कही जायगी। इसलिये हमारी प्रक्रियायें पूर्णतया नियन्त्रित क्यों न हों, परन्तु यदि हम इस भाव को अपने में ला सकते हैं कि हम अपने को संवेगों के तल से ऊपर उठा सकते हैं तो इस भाव को हम क्यों नहीं अपनायें और क्यों नहीं अपने को पूर्ण बनाने का प्रयास करें?

फिर स्पिनोजा ने अवश्य कहा है कि सर्वोपरि तल पर पहुँच जाने पर सभी घटनायें उसी प्रकार से निगमित होती हैं जिस प्रकार से 'त्रिभुज' की परिभाषा से यह अनिवार्य रीति से निकलता है कि उसके सभी तीनों कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होंगे। इसलिए स्पिनोजावाद में तर्कनिष्ठ अनिवार्यता अवश्य है और इसमें भाव-संवेगों की मनमानी और स्वैरता नहीं देखने में आती है। इसलिये छिछली रीति से ही कहा जा सकता है कि निष्काम कर्म के करनेवाले में प्रेम का भाव कैसे हो सकता है। जिस प्रकार से ज्यामिति के निष्कर्षों में और इसकी विधि में मानवों के भाव और संवेग का स्थान नहीं होता और उसी प्रकार अन्तःप्रज्ञात्मक दृष्टि में भाव और

संवेग का स्थान नहीं होता। पर क्या इश्वरीय प्रेम साधारण प्रेम और प्रीति का राग है? फिर क्या स्पिपनोजीय ज्ञान साधारण तथा वैज्ञानिक ज्ञान है? स्वयं स्पिनोजा ने कहा है कि ईश्वरीय प्रेम अन्तःप्राज्ञात्मक दृष्टि का दूसरा पट है और चूंकि ईश्वरीय शान साधारण तथा वैज्ञानिक ज्ञान नहीं है इसलिए ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम भी साधारण प्रेम-भाव नहीं है। स्पिनोजींय ज्ञान वह दिव्यदृष्टि है जिसके रहने से व्यक्ति स्वयं बदल जाता है। वह हर्ष-विषाद विखेरे या बीतरागमय होकर स्थितप्रज्ञ हो जाता है; उसे सब कुछ ईश्वर-रंजित प्रतीत होता है। क्या इस प्रकार के प्रत्यक्ष को जिसमें सभी कुछ ईश्वरमय दिखे साधारण प्रत्यक्ष कहा जा जा सकता है? स्पिनोजीय विधि वह है जिससे स्वयं व्यक्ति में ही उजाला होता और जिससे सबको उजाला में लाया जाना है, 'सबको उजाला करे, आप उजाला होय' वास्तव में ऐसे व्यक्ति को जीवन्मुक्त और निर्वाणी कहा गया है। मुक्ति ज्ञान को वैज्ञानिक ज्ञान समझना भारी भूल है। वह आलोक जिससे सभी वस्तुएँ आलोकित होतीं, उसे किसी वस्तु-विशेष का आलोक नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार ईश्वर का बौद्धिक प्रेम साधारण प्रेम नहीं और अन्तः प्राज्ञात्मक ज्ञान को साधारण ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। चूंकि आलोचकों ने स्पिनोजीय बौद्धिक प्रेम को साधारण प्रेम समझा और अन्तः प्रज्ञात्मक ज्ञान को साधारण ज्ञान समझा, इसलिए वे बौद्धिक प्रेम में तथा ईश्वरीय ज्ञान में पारस्पारिक विरोध देखते हैं। यहाँ स्पिनोजा नहीं, पर उसके आलोचक को ही 'हिराना' कहा जायगा।

धर्म दर्शन के प्रति आपत्ति:—फिर स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद के प्रसंग में कहा गया है (*) कि स्पिनोजीय दर्शन में धर्म का स्थान नहीं है। इसका कारण है कि इसमें उपासना का स्थान नहीं है। वहीं पर उपासना हो सकती हैं जहाँ पुजारी और आराध्य देवता एक दूसरे से भिन्न हों और उन में पारस्परिक दूरी और पृथकता हो। अब यह ठीक है कि स्पिनोजा के ईश्वर-विचार में मानव और ईश्वर में तरंग और समुद्र का सम्बन्ध है। तरंगों को समुद्र से भिन्न नहीं समझा जा सकता है और इसलिये स्पिनोजीय धर्म-दर्शन में उपासना का स्थान नहीं देखने में आता है। पर क्या इसमें धर्म की सम्भावना नहीं पायी जाती है?

पाश्चात्य विचारकों में उपासनामूलक धर्म को ही धर्म की संज्ञा दी जाती है और समाधिमूलक धर्म को धर्म के नाम से नहीं पुकारा जाता है।

*देखें 'स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद'

इसलिए पाश्चात्य विचारक जैन, बौद्ध तथा निर्गुणवादी वेदान्त को धर्म के अन्तर्गत नहीं गिनते हैं। परन्तु भारतीयों के लिए समाधिमूलक धर्म को धर्म की संज्ञा न देना भारी भूल है। अब स्पिनोजा के दर्शन में उपासना का स्थान नहीं है पर समाधि का स्थान अवश्य है। स्पिनोजीय बौद्धिक-प्रेम प्राप्ति उनके धर्म-दर्शन का मुख्य उद्देश्य है और बौद्धिक प्रेम वह है जो स्वयं ईश्वर का ही गुण है। जब हम ईश्वर से बौद्धिक प्रेम करने लगते हैं तो यह वह प्रेम है जिससे ईश्वर स्वयं ओतप्रोत हैं। इसलिए बौद्धिक प्रेमी होना वास्तव में ईश्वर प्राप्त करने का ही दूसरा नाम है। यहाँ ईश्वर को दार्शनिक रीति से जानने का अभिप्राय है स्वयं ईश्वर बनना। यह बात बर्गसों और वेदान्त में बड़ी स्पष्टता से कही गयी है। इसलिए स्पिनोजावाद में भी धर्म-दर्शन है, पर इसमें सगुणोपासना नहीं, लेकिन निर्गुण ब्रह्म प्राप्ति का संदेश हैं और वास्तव में ब्रह्म प्राप्ति ही धर्म की चरम अनुभूति है। इसलिये धर्म-उन्मत्त स्पिनोजा को धर्म विमुखी पुकारना अज्ञानता का प्रदर्शन करना है।

गेटफ्रिड विल्हेल्म लाइबनित्स

(सन् १६४६-१७१६)

यूरोपीय दर्शन में अरस्तु के बाद एक लाइबनित्स ऐसे विचारक हैं जिन्हें ज्ञानी की संज्ञा दी जा सकती है। आज भी इतिहासकार इनके ज्ञान-भण्डार तथा मौलिक सिद्धान्तों की पैठ से चकित हो जाते हैं। आप स्पिनोजा के समान आरण्यवासी दार्शनिक नहीं थे, पर आप राजनीति में व्यस्त रहने पर भी गणितज्ञ, वैज्ञानिक इतिहासकार तथा दार्शनिक थे। अत, इन्होंने ज्ञान-अर्जन के लिए संपूर्ण विश्व को अपनी प्रयोगशाला समझी थी और सभी क्षेत्रों में इन्होंने अपनी प्रतिभा की छाप छोड़ रखी है। इसीलिए इन्हें बहुमुखी प्रतिभावान् कहा गया है। लाइबनित्स का जन्म सन् १६४६ में हुआ था। आपके पिता लाइप्त-सिग में अध्यापक थे। आपके पिता की मृत्यु सन् १६५२ में हो गई थी जबग्रेटफ्रिड लाइबनित्स ६ ही वर्ष के बच्चे थे। अपने ही परिश्रम से इन्होंने अपने पिता के पुस्तकालय की पुस्तकों से पूरा लाभ उठाया और सन् १६६६ में आपको डाक्टर ऑव लॉव की उपाधि दी गई। और साथ-ही-साथ अध्यापक के पद पर नियुक्त किया गया जिसे इन्होंने स्वीकार नहीं किया। सन् १६६० से मरण-पर्यन्त आप राजनीति के क्षेत्र में व्यस्त रहे। अनेक अवसरों पर राज-
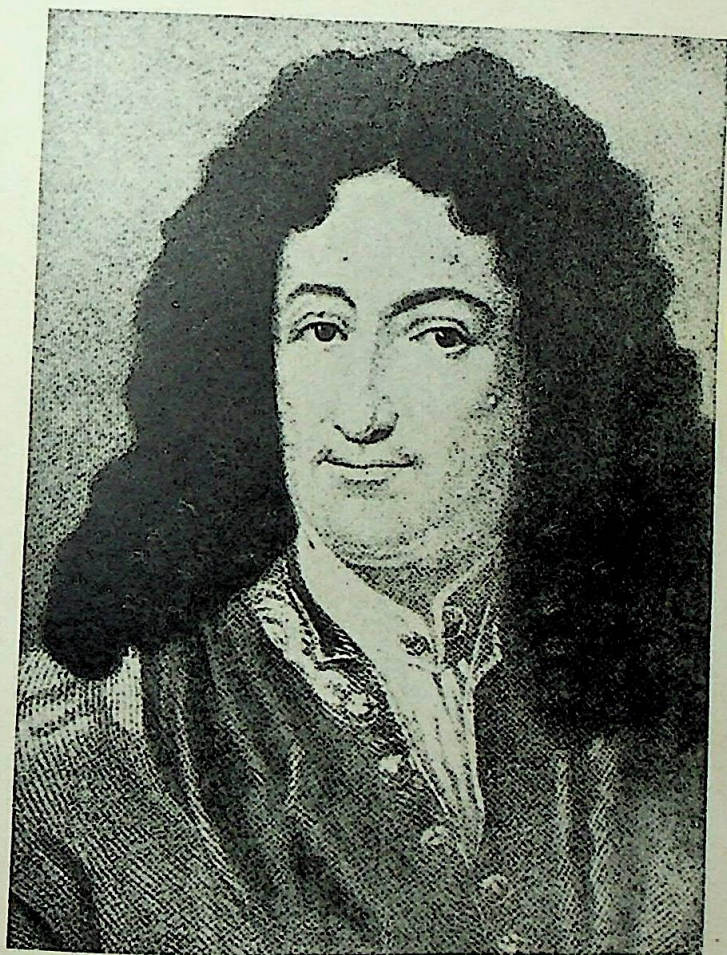
G. W. LEIBNIZ (1646 to 1716)

दूती कार्य के लिए आप को यूरोपीय देशों कीं राजधानियों में जाना पड़ा था जहाँ उन्होंने तत्कालीन विद्वानों से मिलकर अपने ज्ञान-भणडार को भरा था। पत्र-विनिमय के वाद सन् १७७६ में आप स्पिनोजा से भी मिले थे, पर आप इस मिलन को यथाशक्ति छिपाये रहे। हम आगे चलकर देखेंगे कि लाइबनित्स बहुत अंशों में तत्वमीमांसा के निष्कर्षों में स्पिनोजीय थे। शायद इसीसे अपने विचारों की नवीनता को संरक्षित रखने के लिए आपने स्पिनोजा के साथ किये गये वार्तालाप पर पर्दा डाल दिया है।

लाइब्रनित्स बड़े भरी गणितज्ञ थे और न्यूटन के विचारों को बिना जाने ही आपने अपरिमित कलन (infinitesimal calculus) का स्वतन्त्र रूप से आविष्कार किया था। कहा जाता है कि न्यूटन इनसे इतने डरे रहते थे कि इनके मारे २० वर्ष तक गुरूत्वाकर्षण को नहीं छपवाया था। हम देखेंगें कि लाइवनित्स के दर्शन पर गणित की पूरी छाप पड़ीहैं। लाइवनित्स को इतना भी अवसर नहीं मिला कि वे शान्तिपूर्वक अपनी विचारधारा को क्रमबद्ध रूप दे देते। आपने-अपने विचारों को तत्कालीन प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में व्यक्त किया हैं और केवल तीन ही ऐसे लेख हैं जिनमें उनके विचार क्रमबद्ध रूप में पाये जाते हैं; अर्थात् Nouveaux Essai (सन् १७०३), Theodicee (१७१०) तथा La Monadolodgie (१७१४)। आप के जीवन की अन्तिम घड़ियाँ कटु वाद-विवादों से दु खित हो गई थी। आप का देहान्त सन् १७१६ में हो गया।

लाइवनित्स के दर्शन के मौलिक सिद्धांत:—लाइवनित्स ने अपने दर्शन के प्रसंग मे कहा है कि उन्होंने डिमोक्रिटस को प्लेटो से, अरस्तु को देकार्त से, शास्त्रियों (Scholastics) को आधुनिक दार्शनिकों से तथा धर्म-विज्ञान को नीति-शात्र से युक्तियों के आधार पर मिलाने की कोशिश की है। यह उनके सामने समालोचनात्मक काम था। इसे सम्पादन करने के लिए उन्होंने गणित के अपने प्रगाढ़-ज्ञान का आश्रय लिया है। अतः, आप देकार्त तथा स्पिनोजा के समान गणित-शात्र से पुर्णतया प्रभावित थे और गणित-सम्बन्धी खोजों के आधार पर आपने मौलिक नियमों की स्थापना की है जिनसे उनके आलोचनात्मक दर्शन की भींति बनी हैं।

तारतम्य(Continuity) का नियम "It was originally a generalisation on the property of numbers ..viz; that thay can be continued without end, and div-

ided without limit ....and referred, in this respect to the infinitely large in which everything is contained, and to the Infinitely small of which everything is made up." अतः, संख्या का लगातार क्रम असीमित रूप से देखा जाता है । फिर अपरिमित कलन (infinitesimal calculus) के आधार पर देखा जाता है कि एक संख्या का सम्बन्ध दूसरी संख्या के साथ एकाएक नहीं होता, पर उनके बीच असंख्य सूक्ष्म सांख्यिक परिवर्त्तन पाया जाता है । अतः, लाइवनित्स के अनुसार विश्व की उच्चतम तथा निम्नतम वस्तुओं के बीच असंख्य वस्तुएँ हैं जो क्रमश तलों (levels) में व्यवस्थित पाई जाती हैं । अब यदि उच्चतम और निम्नतम के बीच असंख्य तल तथा स्तर हों तो कोई ऐसे भी श्रेणी की वस्तुयें नहीं है जिनमें प्राकारिक अन्तर (difference in kind) हो । इसी नियम के आधार पर लाइबनित्स ने जीव तथा निर्जीव, मन तथा शरीर, अनुभववाद तथा बुद्धिवाद, डिमोक्रिटस तथा प्लेटो के बीच मेल स्थापित किया है ।

व्यक्तित्व (individuality) का नियम :—प्राय गणित में देखा जाता हैं कि गणित के अनेक पगों (steps) को एक छोटे से सूत्र (formula) में आबद्ध कर दिया जाता है । यही बात भारतीय दर्शन के सूत्रों में पायी जाती है । अब लाइवनित्स के अनुसार विश्व-सत्ता द्रव्यों में पायी जाती है । पर द्रव्य एक नहीं, अनेक हैं । परन्तु प्रत्येक द्रव्य ऐसा है कि समस्त सत्ता इसमें अन्तर्भूत है । प्रायः स्पिनोजा के द्रव्य की उपमा समुद्र से दी जाती हैं, जिसमें संसार की समस्त वस्तुएँ लहरों के समान विलीन हो जाती हैं । तो हम कह सकते हैं कि लाबनित्स के द्रव्य उन बूँदों के समान हैं जिनमें सागर समाया हुआ है, 'in the smallest particle of matter there is a world of creatures, living beings, animals, entelechies, souls." लाइबनित्स ने अपने द्रव्य को चेतन परमाणु (monads) कहा है जिनमें से प्रत्येक मोनड जड़ तथा चेतना के सभी गुणों से विभूषित है । अब डिमोक्रिटस ने बताया था कि विश्व अनेक जड़ परमाणुओं से बना है और प्लेटो ने बताया है कि परम (ultimate) सत्ता प्रत्ययों (ideas) की व्यवस्था हैं । चूँकि लाबनित्स का द्रव्य मोनड दोनों गुणों को धारण करता है इसलिए उन्होंने मोनडवाद के आधार पर डिमोक्रिटस तथा प्लेटो के बीच समन्वय किया है ।

मेल (harmony) का सिद्धांत :— लाइबनित्स ने तारतम्य तथा व्यक्तित्व के सिद्धान्त से इस बात को स्पष्ट किया है कि व्यष्टि तथा विशिष्टता ही सत्य है और समष्टि जिसमें व्यक्तिविशेषों की अवहेलना हो, सत्य नहीं है । अत: लाइबनित्स के अनुसार विश्व की रचना अनेक मोनडों से की जा सकती है जो असंख्य स्तरों के क्रम में आबद्ध है और फिर प्रत्येक मोनड उसी प्रकार से अनन्त, शाश्वत, स्वाधीनता तथा सर्वगुणों से सम्पन्न है जिस प्रकार से स्पिनोजा का द्रव्य परम सत्ता है । अन्तर इतना ही है कि स्पिनोजीय दर्शन की सत्ता एक है और लाइबनित्स में अनेक । यदि सत्ताएँ अनेक हों तो इनके बीच एकता कैसे स्थापित की जाय ? अब दर्शन में वस्तुओं के बीच एकता स्थापित करना अनिवार्य हैं । इसे स्थापित करने के लिए लाइबनित्स ने पूर्व-स्थापित (Pre-established) सामंजस्य या मेल (harmony) के सिद्धांन्त का आश्रय लिया है ।

हम अब इन मौलिक सिद्धांतों की पुष्टि लाइबनित्स के दर्शन की विविध समस्याओं में पायेंगे । पर यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिए कि लाइबनित्त भी अपने गणित से उसी प्रकार प्रभावित रहे जिस प्रकार देकार्त और स्पिनोजा प्रभावित रहे थे ।

पदार्थ-विवेचन

स्पिनोजा ने पदार्थ-विवेचन के आधार पर दर्शन की आदर्श एकता प्राप्त की थी जो लाइबनित्स को बहुत भाई था । परन्तु यह शून्यात्मक एकता थी जिसमें संसार की वास्तविकता की अवहेलना की गई थी । अत:, लाइबनित्स इस निष्कर्ष पर आये कि विश्व की व्याख्या पदार्थ (substance) के आधार पर तो होनी चाहिए, पर इस पदार्थ-विवेचन में विशिष्टता अथवा व्यक्तिविशेषों का संरक्षण होना चाहिए । पदार्थ को आत्माश्रयी, शाश्वत, अनन्त तथा सर्वगुण-सम्पन्न रहना चाहिए; पर इसे अनेक मानना चाहिए ताकि व्यक्तिविशेषों की व्याख्या हो सके । यह ठीक हैं कि देकार्त ने अद्वैत की जगह पर द्वैतवाद की मदद ली थी, पर उनके विचारों में मन तथा शरीर, जड़ तथा चेतन के बीच सही सम्बन्ध का समाधान नहीं हो पाया था । फिर उन्होंने विस्तार को पदार्थ माना था, पर विस्तार आत्माश्रयी नहीं हो सकता हैं, क्योंकि यह असंख्य अंशों में विभाज्य (divisible) हो सकता हैं और पदार्थ को अविभाज्य तथा पूर्णतया आत्माश्रयी रहना चाहिये । अपितु, 'विस्तार

से वस्तुओं की निष्क्रियता झलकती हैं, परन्तु वास्तविक वस्तुयें अति गत्यात्मक (dynamic) हैं और इसलिए निष्क्रिय विस्तार प्रत्यय के आधार पर क्रियाशील वास्तविकता की व्याख्या नहीं हो पाती हैं। यह ठीक है कि देकार्त ने गति की व्याख्या के लिए माना था कि ईश्वर ने प्रारम्भ में विस्तार में गति उत्पन्न कर दी इसलिए भौतिक वस्तुएँ गतिशील हैं। पर यदि सभी वस्तुएँ गतिशील होती रहें तो इसके विश्राम (rest or inertia) की व्याख्या फिर कैसे हो? अतः हमें ऐसे पदार्थ के प्रत्यय से काम लेना चाहिए जो गति और विश्राम दोनों की व्याख्या कर दे।

फिर पुराने समय में डिमोक्रिटस ने अणु को पदार्थ माना था जिसे अविभाज्य तथा शाश्वत पदार्थ कहा गया हैं। कई कारणों से अणुवाद लाइबनित्स को आकर्षक मालूम दिया, परन्तु निम्नलिखित बातों के कारण वे इसे स्वीकार न कर पाये।

(क) वास्तव में अणु अविभाज्य नहीं हो सकता है क्योंकि इसे विस्तारयुक्त समझा जाता है और विस्तार विभाज्य हुआ करता है।

(ख) फिर अणु को वज्र के सामान अछेद्य तथा अभेद्य समझा जाता है। परन्तु कठोरत्व (hardness) को सापेक्ष प्रत्यय समझना चाहिए। क्योंकि जो वस्तु एक दृष्टि से कठोर होगी वह अन्य दृष्टिकोण से मुलायम समझी जा सकती है।

(ग) पुनः, अणुओं में गुण का भेद नहीं है और यदि उनमें भेद है तो केवल परिमाण (quantity) का। अब यदि हम विश्व की व्याख्या अणुओं के आधार पर करें, तो इसकी सभी विविधता (variety) को हमें परिमाण के आधार पर प्रमाणित करना होगा। पर सभी प्रकार के गुणों (quantity) की व्याख्या हम परिमाण (quantity) ही के आधार पर नहीं कर सकते हैं। अत; यदि हम अणुसम पदार्थों की मदद लें, तो हमें इनमें गुण का भेद भी रखना होगा।

तो अब प्रश्न उठता है कि पदार्थ का क्या स्वरूप होना चाहिए जिसके आधार पर विश्व की ऐसी व्याख्या हो सके जिसमें स्पिनोजीय विचार तथा अणुवाद के दोनों उत्कर्ष (Advantages) हों, पर इनके अपकर्ष disadvantages) न हों। ऐसी दशा में देकार्त के अनुसंधान में एक पते की बात दीखती है। उन्होंने बताया था कि आत्म-ज्ञान ही सभी ज्ञानों की तुलना में

श्रेष्ठ हैं क्योंकि इसे हम साक्षात् रूप से अनुभव करते हैं। अतः पदार्थ का आत्मातुल्य होना चाहिए। इसलिए पदार्थ का आत्मा-तुल्य आध्यात्मिक (spiritual) इकाई मानना चाहिए क्योंकि इसी प्रकार के प्रत्यय से पदार्थ की सक्रियता, अविभाज्यपन तथा आत्माश्रयत्व सिद्ध हो सकता है। अतः इस प्रकार के आत्मा-तुल्य आध्यात्मिक एकाई (unit) को लाइबनित्स ने मोनड (चेतन परमाणु) कहा जिसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है।

मोनडवाद (Monadology)

लाइबनित्स के अनुसार असंख्य मोनड या चिद्‌विन्दु हैं, और प्रत्येक में वे ही गुण हैं जो स्पिनोजीय द्रव्य में बताये गये हैं। प्रत्येक शाश्वत और अपने में पूर्ण हैं, क्योंकि प्रत्येक में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड निहित है और इसमें भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य की सभी घटनाएँ अन्तभूत हैं। इसलिए यह ऐसा अणु है जिसमें विराट विश्व है ',a macrocosm in microcosm) चूँकि इसमें आदि अन्त सभी हैं इसलिए इसे हम भूत-भारी और भविष्य गर्भी कह सकते हैं, अर्थात् इसमें बीती हुई सभी दशाएँ संरक्षित हैं और भविष्य में होनेवाली सभी बातें बीज रूप में मौजूद हैं। चूँकि प्रत्येक मोनड स्वतन्त्र तथा स्वावलम्बी सत्ता है, इसलिए किसी मोनड को दूसरे की आवश्यकता नहीं होती है, न एक दूसरे पर निर्भर होता है। और न उनमें किसी प्रकार का आदान-प्रदान सम्भव है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने बताया है कि मोनड गवाक्षहीन (windowless) या बेखिड़की के हैं।

परन्तु प्रश्न उठता है कि यदि मोनड गवाक्षहीन हैं तो उनके बीच के परस्पर सम्बन्ध को हम कैसे व्यक्त कर सकते हैं क्योंकि वास्तविक चीजों में पारस्परिक आदान प्रदान देखने में आता है जिसे मोनडवाद को स्पष्ट करना चाहिए। लाइब्नित्स के अनुसार प्रत्येक मोनड आत्माश्रयी तथा आत्म-निर्भर हैं और ऐसा न मानने से उनकी स्वतन्त्र तथा स्वावलम्बी सत्ता में में बट्टा लग जायगा पर गवाक्षहीन रहने पर भी इनमें से प्रत्येक में दो समान लक्षण हैं जिनके कारण हमें आभासित होता है कि उनमें साक्षात् सम्बन्ध हैं। प्रत्येक मोनड में ईक्षण (perception) और प्रयासन (appetition) शक्तियाँ हैं और इन दो सामान्य लक्षणों के आधार पर विश्व की सभी वस्तुओं के आपसी सम्बन्ध को स्पष्ट किया जा सकता है।

ईक्षण-शक्ति के कारण प्रत्येक मोनड सभी असंख्य मोनड की दशाओं को प्रतिबिम्बित (reflects or mirrors) करता है, और प्रयासन-शक्ति के कारण प्रत्येक मोनड की अपनी दशाओं में क्रमबद्ध विकास होता रहा है। चूँकि असंख्य मोनड हैं और वे अविछिन्न शृंखला में क्रमबद्ध हैं, इसलिए निम्नतम से उच्चतम के बीच में सोपान-क्रम (Hierarchy) हैं, अर्थात क्रमशः निम्नतम के बाद निम्न, तब मध्यवर्गी और तब अन्त में उच्चवर्गी मोनड शृंखलाबद्ध हैं। यह शृंखला, तारतम्य अथवा अविछिन्नता (Continuity) के सिद्धान्त पर आधारित हैं। अब प्रत्येक मोनड में ईक्षण तथा प्रयासन है, पर जो मोनड जितने निम्नकोटि के हैं उनमें ये उतने अस्पष्ट रूप में पाये जाते हैं और जितने मोनड उच्चकोटि के हैं उनमें ईक्षण और प्रयासन सबल रूप में देखे जाते हैं। अतः निम्नकोटि के मोनडों में ईक्षण धुन्धला होता है और उनका प्रयासन आबेशमय (impulsive) तथा उद्देश्यहीन (blind) मालूम देता है। परन्तु उच्चकोटि मोनडों का ईक्षण स्पष्ट होता है और उनका प्रयासन भी स्पष्ट इच्छा (desire) के रूप में दीखता है। परन्तु चूँकि अस्पष्ट तथा स्पष्ट ईक्षण केवल क्रमिक अवस्थाएँ हैं, इसलिए इन दोनोंमें कोई प्राकारिक (difference in kind) अन्तर नहीं है। अब अस्पष्ट ईक्षण को हम प्रायः संवेदना (sensation)और स्पष्ट ईक्षण को विचार (thought) कहते हैं, इसलिए लाइबनित्स के अनुसार इनमें केवल आंशिक ही अन्तर (difference of degree) है अर्थात् एक अधिक और दूसरा कम स्पष्ट है। इसी मतानुसार इन्होंने अनुभववाद तथा बुद्धिवाद के बीच समन्वय किया है।

प्रयासन (appetition) शक्ति के कारण प्रत्येक मोनड में क्रमबद्ध विकास होता रहता है, जिमके कारण यह गतिशील मालूम देता हैं और इसलिए वास्तविक गतिशील विश्व की, मोनड के आधार पर, गत्यात्मक व्याख्या की जाती है। पर ध्यान में रखने की बात है कि प्रत्येक मोनड का अपना आत्मनिहित (self-imposed) लक्ष्य हैं जिस दिशा में इसकी प्रयासन-प्रक्रिया होती जाती है। आगे चलकर हम देखेंगे कि मोनड का आत्म-निहित लक्ष्य सम्पूर्ण विश्व अर्थात् सभी मोनड के विकास से मेल खाता हुआ बताया गया है। यह मत अरस्तू का भी था कि प्रत्येक वस्तु का अपना विशेश लक्ष्य है जिससे उस वस्तु की सभी प्रक्रियाएँ संचालित होती हैं। इस मत को होर्मीवाद (hormic theory) कहते हैं और लाइबनित्स का मोनडवाद होर्मीवाद से प्रभावित दीखता है। चूँकि प्रत्येक मोनड-प्रक्रिया लक्ष्यबद्ध (teleological) तथा

उद्देश्यपूर्ण होती हैं, अर्थात् किसी न किसी लक्ष्य-प्राप्ति के ही लिए होती है। इसलिए मोनड अपने सोपानक्रम अथवा स्तर की दशा से इसे अस्पष्ट या स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है। पेड़-पौधों की क्रियाओं में भी लक्ष्य हैं, पर चूँकि वे निम्नकोटि के मोनड हैं, इसलिए उनकी प्रक्रियायें लक्ष्यशून्य या यन्त्रिक तथा अचेतन मालूम देती है। पर यन्त्रवाद (mechanism) छिछला मत है और उद्देश्य या प्रयोजनवाद (teleology) ही सही सिद्धान्त है। उच्चकोटि मोनडों में लक्ष्य का स्पष्ट ज्ञान होता है। इसलिये उनकी प्रयासन-प्रक्रिया को इच्छात्मक क्रिया (voluntary action) कही जाती है। परन्तु चूँकि पेड़-पौधों के यन्त्रवत् और मानव के स्पष्टतया उद्देश्यपूर्ण व्यवहार एक ही सोपान के अन्तर्गत हैं, इसलिए इनके बीच भी केवल आंशिक ही अन्तर है।

हमलोगों ने देखा है कि मोनड अवर-उच्चतर के सोपान-क्रम में शृंखला-बद्ध हैं। इनके बीच सोपानक्रमिक सम्बन्ध है और अदृश्य रीति से एक मोनड के बीच दूसरे मोनड का स्थान आता है। फिर भी हम मोनडों को तीन मुख्य वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी में वे मोनड हैं जिनके समूह को हम निर्जीव या जड़ वस्तु समझते हैं। परन्तु ये भी विकासात्मक हैं, यद्यपि हम इनमें विकास नहीं देख पाते हैं (*) और न हम इनकी ईक्षण-प्रक्रिया ही समझ सकते हैं। इनकी प्रयासन-प्रक्रिया हमें उद्देश्यपूर्ण नही मालूम देती है और हम समझते हैं कि इनमें केवल यान्त्रिक (mechanical) व्यापार पाया जाता है। इनमें भी चेतना है, पर यह इतनी कम है कि हम कह सकते हैं कि ये निद्रित अवस्था (stupor or sleep) में हैं। द्वितीय वर्ग में वे मोनड हैं कि जिनमें चेतना और स्मृति पायी जाती है। इन्हें हम चेतन मोनड कह सकते हैं। इस श्रेणी में पेड़-पौधे तथा पशु गिने जा सकते हैं। परन्तु उच्चतर वर्ग के मोनड को आत्मचेतन (self-conscious)मोनड कहा जा सकता है। इस श्रेणी में मानव गिने जा सकते हैं। इनमें इच्छात्मक उद्देश्यपूर्ण व्यापार देखा जाता है और इनका ईक्षण स्पष्ट होकर विचार तथा अनिवार्य ज्ञान रूप में पाया जाता है। यहाँ पर लाइबनित्स का कहना है कि देकार्त के अनुसार केवल आत्म-चेतन को ही आत्मा (spirit) माना गया है। यही कारण है कि देकार्त के अनुसार पशुओं तथा अन्य वस्तुओं को निर्जीव जड़ मान लिया गया है। पर ऐसा समझ लेने पर द्वैत सिद्धान्त चला आता है, जिसमें मन-शरीर, जड़-चेतन

*समसामयिक दार्शनिक वाइटहेड का कहना है कि परमाणु में भी जीविद्रव्य organism) का गुण है और इसे जैविक नियमों (organic laws) से, न कि यांत्रिक रूप से स्पष्ट करना चाहिए।

इत्यादि के सम्बन्ध की समस्याओं पर पूरा प्रकाश नहीं पड़ पाया है। पर जड़, चेतन तथा आत्म-चेतन के बीच केवल आंशिक अन्तर स्वीकार कर लेने से. लाइबनित्स के अनुसार जड़-चेतन, मन-शरीर, यन्त्रवाद, उद्देश्यवाद इत्यादि के बीच समुचित सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

पूर्वस्थापित मेल या छन्द (Harmony)

हमलोगों ने देखा है कि स्पिनोजा ने अपने दर्शन में एकत्व स्थापित किया है, पर यह एकत्व (unity) ऐसा है कि इससे व्यक्तिविशेषों का लोप हो गया है और इसे दर्शन का दोष समझना चाहिए। समुचित दार्शनिक विवेचन में एकत्व और विशिष्टता (particularity) दोनों की एक रूप से संरक्षा होनी चाहिए। अब लाइबनित्स विशिष्टता के पक्षपाती हैं और इनके अनुसार असंख्य मोनड एक दूसरे से स्वतंत्र सत्तायें हैं और ये गवाक्षहीन हैं। "Each spirit being like a world apart, sufficient to itself, independent of every other created thing, involving the infinite, expressing the universe, is as lasting, as continuous in its existence, and as absolute as the very universe of created beings" परन्तु इस अनेकवाद (pluralism) में तथ्यों के बीच पारस्परिक निर्भरता, मेल और सम्बद्धता (system या order) के सम्बन्ध प्रश्न उठते हैं। हम इसे मोनड के अनेकवाद के अनुसार कैसे स्पष्ट कर सकते हैं? लाइबनित्स स्वीकार कर लेते हैं कि मोनडों के बीच छन्द या सामंजस्य है, पर यह छन्द उनकी आपसी लेन-देन पर नहीं, वरन् ईश्वर की रचना पर आधारित है। ईश्वर ने सभी मोनडों को इस प्रकार सोपानक्रम में व्यवस्थित किया हैं कि जैसे एक मोनड में कुछ परिवर्त्तन होता है तो तदनुरूप अन्य मोनडों में भी यथोचित परिवर्तन अपने आप होता रहता हैं। जो इस प्रकार की शाश्वत व्यवस्था को नहीं जानते हैं, उन्हें मालूम देगा कि इस प्रकार के परिवर्तन में कारण-कार्य का सम्बन्ध है। परन्तु सभी मोनड एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं और उनमें कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं हो सकता है। वास्तव में मोनडों में सभी परिवर्तन आन्तरिक प्रयासन के कारण हुआ करते हैं। परन्तु ये परिवर्तन इस प्रकार से व्यवस्थित हैं कि ये वाह्य दृष्टिकोण से सम्बद्ध मालूम देते हैं। यथार्थ में परिवर्तन सहचारी (concomitant)

हुआ करते हैं। हमारे शरीर के मोनड अपने उद्देश्य से ही संचालित होते हैं, और हमारे मन के मोनड भी अपनी लक्ष्य-पूर्ति के लिए प्रेरित होते हैं। परन्तु ईश्वर के पूर्व-स्थापित छन्द के द्वारा ऐसा मालूम देता है कि मन की इच्छा के अनुसार शरीर का हाथ-पैर व्यापार करता है*। इस पूर्वस्थापित छन्द को समझाने के लिए लाइबनित्स ने एकतानवाद्य (orchestra) के बजवैयों की उपमा दी है। इस एकतानवाद्य में अनेक बाजा बजानेवाले रहते हैं। जब वे संगीत के लिए एकत्रित होते हैं, तो प्रत्येक बजवैया अपने राग की पुस्तिका को खोलकर उसके अनुसार तान-आलाप में मस्त हो जाता है। एक बजवैया दूसरे के क्रिया-कलाप पर ध्यान नहीं देता है। वह केवल अपनी पुस्तिका की रागिनी में अनुसार बाजे का स्वर निकालता जाता है। पर सभी बजवैयों की रागिनी के एक छन्द रहता हैं जिससे एकतानवाद्य से लोग मुग्ध हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक मोनड अपनी आन्तरिक प्रयासन-वृत्ति के अनुसार क्रियाशील होता है। परन्तु सभी मोनडों की क्रियाशीलता ईश्वर के चरम लक्ष्य से संचालित होती है। "The monads, no doubt, work independently of all other monads, according to their own inner urge, but their inner plan coincides with the realisation of the one master plan in the mind of the creator."

वास्तव में देखा जाय तो लाइबनित्स का पूर्वस्थापित छन्द, स्पिनोजा के समानान्तरवाद (parallelism) का सामान्यीकरण-मात्र है। स्पिनोजा के अनुसार चेतन और विस्तार, अथवा मन और शरीर के बीच समानान्तरवाद का सम्बन्ध है; परन्तु लाइबनित्स के अनुसार मन-शरीर दोनों का अस्तित्व अनेक मोनडों के सोपान-क्रम में आबद्ध होने के कारण है, और इसलिए मन-शरीर नहीं, वरन् समस्त मोनडों की कार्यवाही समानान्तर रीति से संचालित होती है। परन्तु लाइबनित्स के सिद्धान्त के अनुसार इस समानान्तरवाद को

---

* यहां लाइबनित्स के अनुसार घटनाओं में कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। वर्तमानकालिक तर्कशास्त्र में भी अब यही समझा जाता है कि जिसे हम कारण-कार्य का सम्बन्ध कहते हैं वह वास्तव में दो घटनाओं के बीच समरूपी सहचारी (uniform concomitant) सम्बन्ध है जिसे गणितिक नियमों के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। लाइबनित्स का स्थान वर्तमानकालिक तर्कशास्त्र में विशेष समझा जाता है।

गतिशील समझा गया है क्योंकि मोनडों के बीच की कार्यवाही विकासात्मक तथा गत्यात्मक है।

अब पूर्व स्थापित छन्द का सिद्धान्त लाइबनित्स के दर्शन में महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी के आधार पर वे अनेक विरोधी मतों और वादों का समाधान करते हैं। परन्तु पूर्वस्थापित छन्द का सिद्धान्त कई आपत्तियों से घिरा है और लाइबनित्स का दर्शन इस सिद्धान्त पर टिके रहने के कारण कमजोर मालूम देता है।

(१) वास्तव में देखा जाय तो पूर्वस्थापित छन्द का सिद्धान्त केवल एक धारणा (assumption) है जिसे कभी भी सिद्ध या असिद्ध नहीं किया जा सकता हैं और ऐसा सिद्धान्त जिसके विषय में कुछ भी निश्चित रूप से निश्चित नहीं किया जा सके उसे उचित (legitimate) सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। अब इस सिद्धान्त को इसलिए मनगढ़न्त कहा जा सकता है कि मोनड अपने से वाह्य गुण का अन्दाजा नहीं लगा सकता है। अतः, दार्शनिक भी एक मोनड है और वह उस सम्बन्ध को नहीं जान सकता है जो सम्पूर्ण मोनडों को वाह्य रूप से जकड़ हुए हैं। अगर देखा जाय तो मोनडवादी एकात्मसत्तावादी (solipsist) ही हो सकता है क्योंकि वह उसी बात को जान सकता है जो उसके गवाक्षहीन दुनिया के अन्दर है। यह ठीक है कि लाइबनित्स ईक्षण-शक्ति को मानकर बताते हैं कि प्रत्यक मोनड समस्त ब्रह्माण्ड को प्रतिविम्बित करता है। पर जो मोनड आत्मनिहित ही अनुभूति को जान सकता है वह किस प्रकार निर्धारित कर सकता है कि उसका ईक्षण अन्य मोनडों को प्रतिबिम्बित करता है? उसी समय हम कह सकते हैं कि हमारा ईक्षण अन्य मोनडों का प्रतिविम्ब है जब हम मोनडों को साक्षात् रूप से जानें और इस साक्षात् ज्ञान से प्रतिबिम्बित ईक्षण का मिलान करें। परन्तु गवाक्ष-हीन मोनडों के लिए यह संभव नहीं है। अतः, वास्तव में लाइबनित्स का मोनडवाद एकात्मसत्तावाद में परिणत हो जाता है, जिसे दर्शन में संतोषजनक नहीं समझा जायगा।

(२) फिर जिस छन्द का लाइबनित्स ने उल्लेख किया है वह मोनडों के अपने स्वरूप से नहीं सिद्ध होता है। यहाँ deus ex machina का व्यवहार किया गया है यद्यपि छन्द मोनडों के बीच समझा जाता है, पर इसे इन पर

ईश्वर के द्वारा आरोपित किया गया है। अतः इस आरोपित छन्द को सही नहीं समझा जायगा।

(३) वास्तव में हम आगे चलकर देखेंगे कि ईश्वर को मोनडवाद में लाकर लाइबनित्स ने अपने दर्शन को असंगत बना दिया है। यदि मोनड शाश्वत है तो न इन्हें और न इनके बीच के सम्बन्ध को रचा जा सकता है और इसलिए छन्द की भी रचना किसी से नहीं की जा सकती है। पर यदि ईश्वर ने मोनडों की रचना की है तो इन्हें आत्माश्रयी तथा अनादि मानना गलत है। हम इस सम्बन्ध के अन्य प्रश्न लाइबनित्स के ईश्वर-चिन्तन के सम्बन्ध में देखेंगे, पर अब हम इस बात पर ध्यान बातें देंगे कि इस पूर्वस्थापित छन्द के आधार पर लाइबनित्स ने किस प्रकार से अनेक समस्याओं का समाधान किया है।

जड़ और चेतन

देकार्त ने जड़ और चेतन को दो स्वतन्त्र सत्ताएँ मानी हैं, परन्तु उन्होंने संतोषजनक रीति से इनके बीच के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश नहीं डाला है। लाइबनित्स अपने मोनडवाद के पूर्वस्थापित छन्द के आधार पर इस द्वैत-वाद की समस्या का समाधान करना चाहते हैं।

लाइबनित्स के अनुसार सभी मोनड जीवित हैं और उनमें अनेक मात्राओं में चेतना भी पायी जाती है। अतः, यथार्थ में लाइबनित्स के अनुसार जड़ (matter) है ही नहीं। परन्तु अपनी सुविधा के अनुसार अति निम्नतम वर्ग के मोनड के समूह को हम जड़ समझ सकते हैं क्योंकि न तो हम उनकी प्रयासन-प्रक्रिया (appetitive activity) का उद्देश्य ही समझ पाते हैं और न उनकी ईक्षण शक्ति की चेतना भांप सकते हैं। इस अर्थ में मानव शरीर भी निम्नकोटिक मोनडों का संग्रह है और तब इसकी भी क्रिया यान्त्रिक समझी जा सकती है। पर मानव शरीर एक ऐसा यन्त्र है, जिसका प्रत्येक भाग स्वयं सम्पूर्ण यन्त्र है, क्योंकि प्रत्येक भाग स्वयं मोनड है और प्रत्येक मोनड स्वयं स्वतंत्र, सर्वसत्तात्मक पदार्थ है (*)। तो शरीर के मोनड-समूह

*मानव निर्मित यन्त्र, जैसे घड़ी इत्यादि, में सम्पूर्ण वस्तु अपने पुर्जे पर निर्भर करती है। परन्तु कोई भी पुर्जा सम्पूर्ण वस्तु नहीं समझा जायगा। अतः लाइबनित्स बतलाना चाहते हैं कि शरीर ऐसा यन्त्र है जिसमें प्रत्येक अंश सम्पूर्ण शरीर पर निर्भर करता है और शरीर अपने अंगों पर निर्भर करता है। इस मत को organicism (जीवि स्वरूप-वाद) कहा जा सकता है जो हेगेल और वाइटहेड के दर्शन में विशेष दीखता है।

में सबसे अधिक विकसित मोनड को आत्मा (soul) कहा जा सकता है। चूँकि उच्चतर मोनड का ईक्षण स्पष्ट होता है, इसलिए आत्मा, शरीर की कार्यवाही को स्पष्ट रूप से प्रतिविम्बित करती है अर्थात् जान लेती है। फिर चूँकि शरीर के अन्दर भी अन्य सभी मोनड की झलक मिलती हैं, इसलिए विश्व की सभी दशाओं की वह झलक जो शरीर में प्रतिविम्बित होती है, उसे भी आत्मा अच्छी तरह से जान लेती है। इसलिए हमारी आत्मा शरीर और शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली सभी घटनाओं का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करती है (**)। सरल शब्दों में आत्मा शरीर-विषयक ज्ञान और शरीर के द्वारा वाह्य जगत् का इन्द्रिय-ज्ञान प्राप्त करती है। इसलिए मन और शरीर, जड़ और चेतन का सम्बन्ध आसानी से स्पष्ट हो जाता है।

फिर पूर्वस्थापित छन्द के अनुसार भगवान ने ऐसी व्यवस्था की है कि निम्नतर मोनड की कार्यवाही उच्चतर मोनड की उद्देश्यपूर्ण कार्यवाही से मेल खा जाय। इसलिए जब आत्मा या मन में किसी उद्देश्य की इच्छा होती है तो पूर्व छंद के अनुसार तदनुरूप हाथ-पैर वाले मोनडों में गति होने लगती है। इससे आभासित होता है कि आत्मा की इच्छा से हाथ-पैर चल रहा है। परन्तु वास्तव में इनमें एक का दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं हो सकता है। "..the laws by which the motions of the body follow each other are likewise so coincident with the thoughts of the soul as to give our *volitions* and *actions* the very same appearance as if the latter were really the natural and the necessary consequence of the former." अतः, लाइबनित्स क्रिया-प्रतिक्रियावाद या अन्योन्याक्रियावाद (interactionism) को, जिसे देकार्त ने माना था, स्वीकार नहीं करते हैं।

**इस मत को आगे चलकर बर्गसों ने इस प्रकार अपनाया है। "Here is a system of images which I term my perception of the universe, and which may be entirely altered by a very slight change in a certain privileged image—*my body*. This image occupies the centre; by it all the others are conditioned, at each of its movements everything changes, as though by a turn of a kaleidoscope." (Matter and Memory----p. 12, English Translation)

अपने मत को स्पष्ट करने के लिए मन-शरीर को दो घड़ियाँ मानकर उनके पारस्परिक सम्बन्ध को इन्होंने इस प्रकार बताया है ।

१. संयोगवादियों (occasionalist) के अनुसार, जो देकार्तीय मत के अनुयायी थे, मन और शरीर में किसी प्रकार का अन्योन्यक्रियावाद नहीं है । परन्तु जैसे ही मन में इच्छा होती है, वैसे ही ईश्वर शरीर में तदनुरूप परिवर्तन ला देता है । अत:, यदि मन और शरीर दो घड़ियाँ हों, तो संयोगवादियों के अनुसार जैसे ही एक घड़ा में ग्यारह बजता है, वैसे ही ईश्वर दूसरी घड़ी में ग्यारह बजा देता है । परन्तु लाइबनित्स के अनुसार ईश्वर ऐसा पटु (expert) रचयिता है कि बार-बार घड़ियों को मिलाने की उसे आवश्यकता होती ही नहीं ।

२. इसलिए बार-बार की ईश्वरीय आश्चर्यजनक लीला (perpetual miracle) के स्थान पर हमें समझना चाहिए कि ईश्वर ने दोनों घड़ियों को ऐसी उत्तम रीति से रंचा है कि वे बराबर एक दूसरे से मिली रहती हैं । अत:, लाइबनित्स बार-बार के ईश्वरीय हस्तक्षेप की जगह पर एक बार में ही सम्पादित लीला को ईश्वरीय रचना के योग्य समझते हैं ।

३. घड़ियों की उपमा को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि स्पिनोजा के अनुसार वास्तव में मन तथा शरीर दो डायल [dials] हैं, परन्तु उनका एक ही पुर्जा है । चूँकि कल-पुर्जा एक ही है, इसलिए दोनों डायलों में एक ही समय मालूम देगा ।

मन और शरीर से मिलता हुआ प्रश्न उद्देश्यवाद (teleology) और यंत्रवाद (mechanism) का है जिसका समाधान, लाइब्नित्स ने निम्नलिखित रूप से किया है ।

यन्त्रवाद और उद्देश्यवाद

यांत्रिक सम्बन्ध देश, काल तथा क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होता है । जैसे पहले (काल-सम्बन्ध) हम घड़ी की चाभी (देश-सम्बन्ध) घुमाते हैं तब (काल-सम्बन्ध) घड़ी चलती है । यहाँ चाभी, स्प्रिंग इत्यादि घड़ियों के पुर्जों में क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध हैं । अब यांत्रिक व्यापार में उपर्युक्त लक्षणों

के रहने से, लाइबनित्स को इसे अस्वीकार करना पड़ा। पहली बात यह है कि मोनड गवाक्ष-हीन हैं और उसमें क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं हो सकती है। फिर लाइबनित्स के अनुसार देश-काल की स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। इसके अनुसार मोनडों के बीच के वाह्य सम्बन्ध के अंशग्रहण (abstraction) या अमूर्त्त बोधन के आधार पर इनकी रचना की गयी है (†)। अब यदि देश, काल और क्रिया-प्रतिक्रिया असत्य हों तो इन पर आधारित यन्त्रवाद भी असत्य ठहरेगा। यद्यपि यन्त्रवाद वास्तव में असत्य है, तो भी अपनी सुविधा के अनुसार लाइबनित्स उन व्यापार को यान्त्रिक कहते हैं जिसे वस्तुओं के परिमाण, आकार तथा गति (motion) के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। इस अर्थ में लाइबनित्स का मत था कि देकार्त और न्यूटन के यन्त्रवाद को अधिक-से-अधिक स्थलों पर काम में लाया जाय। उनके इस मत के कई कारण थे। पहली बात है कि निम्नकोटिक मोनडों की चेतना और उनकी प्रयासन-प्रक्रिया का उद्देश्य इतना क्षीण मालूम देता है कि उनकी क्रियाओं को यान्त्रिक समझा जा सकता है। फिर उच्चतर मोनडों की क्रियाएँ भी ऐसी हैं कि वे पूर्ववर्त्ती क्रियाओं का फल या परिणाम समझी जा सकती हैं और यान्त्रिक क्रिया में भी पूर्ववर्त्ती के आधार पर बाद में होनेवाली घटनाओं की व्याख्या की जाती है। अतः, उच्चतर मोनडों की क्रियाओं को इस अर्थ में यान्त्रिक समझा जा सकता है। अपितु, पूर्वस्थापित छन्द के अनुसार मोनडों की कार्यवाही ऐसी व्यवस्थित की गयी है कि मोनड के परिवर्तन से अन्य मोनडों के परिवर्तन में मेल खा जाता है और इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व परिवर्तन उसके बाद के परिवर्तन का कारण है। अतः, यन्त्रवाद कुछ दूर तक मान्य है।

यदि यन्त्रवाद को हम कुछ दूर तक मान्य भी स्वीकार कर लें तो इसे सत्य नहीं समझा जायगा। यथार्थ में यन्त्रवाद उद्देश्यवाद के अन्तर्गत है, क्योंकि निम्नतम मोनड में भी कुछ चेतना अवश्य है और वह अपनी आन्तरिक उद्देश्यपूर्त्ति से ही प्रेरित होता है। फिर सभी मोनडों की कार्यवाही का कोई अन्तिम (ultimate) उद्देश्य है जिसे ईश्वर पूर्वस्थापित छन्द के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं। अतः, सभी मोनडों की कार्यवाही अन्ततः उद्देश्यपूर्ण ही है।

† देश-काल के प्रति लाइबनित्स के मत की आलोचना काण्ट ने की है जिसका उल्लेख यथोचित प्रसंग में किया जायगा।

लाइबनित्स के अनुसार उद्देश्यवाद का अर्थ यही है कि क्रिया का कोई उद्देश्य हो, चाहे वह ज्ञात हो या अज्ञात। इस उद्देश्यपूर्णता को समसामयिक दार्शनिक बर्ग्सों सत्य नहीं समझते हैं। उनके अनुसार यदि उद्देश्य पहले से निर्धारित हो, तो इसे आन्तरिक यन्त्रवाद कहा जायगा। वास्तविक उद्देश्यवाद वह है जिसमें नित्य नवीन उद्देश्यों को गढ़कर उसकी पूर्त्ति की जाय। चूँकि लाइबनित्स के अनुसार सभी मोनडों के छन्द का पूर्वस्थापित उद्देश्य ईश्वर के मन में है, इसलिए बर्ग्सों के मतानुसार लाइबनित्स के सिद्धांत को शुद्ध उद्देश्यवाद नहीं, वरं यन्त्रवाद ही कहा जायगा।

ज्ञान-मीमांसा (Epistemology)

शायद लाइबनित्स की देन दार्शनिक विचारधारा में ज्ञान-मीमांसा के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझी जायगी, क्योंकि इसमें काण्ट और समसामयिक तार्किक प्रत्यक्षवाद की बहुत बातों का पूर्वाभास देखने में आता है। अब लाइबनित्स की ज्ञान-मीमांसा को स्पष्ट करने के लिए देकार्त्त और लौक के मत का भी यहाँ संकेत करना अनिवार्य है।

देकार्त्त के मत के अनुसार हमारे प्रत्ययों (ideas) में कुछ आत्मजात (innate) हैं। परन्तु ये आत्मजात प्रत्यय स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो सकते हैं और जब ये स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो जाते हैं तब सत्य ज्ञान हमें प्राप्त होता है। ठीक इसके विपक्ष में लॉक का मत है। लौक के अनुसार कोई भी प्रत्यय आत्मजात नहीं हैं और वे सब के सब जन्म के बाद अनुभव से ही प्राप्त होते हैं। अतः, ज्ञान अनुभव तक ही सीमित रहता है। अनुभव केवल हमें यही बता सकता है कि घटनाएँ अमुक रीति से होती आयी हैं, और अनुभव के आधार पर नहीं कहा जा सकता है कि घटनायें अवश्यमेव इसी रीति से होती जाएँगी। उदाहरणार्थ अनुभव के आधार पर हम नहीं कह सकते हैं कि सभी मनुष्य अवश्य ही मरणशील हैं, क्योंकि कम-से-कम हम सोच सकते हैं कि मनुष्य अमर हो सकते हैं। अतः, युक्तिसंगत रूप में अनुभव का आधार ज्ञान आपात्तिक (contingent)(†) ही हो सकता है। परन्तु देकार्त के बुद्धिवाद के अनुसार सत्य ज्ञान अनिवार्य होता है।

†आपातिक ज्ञान वह है जिसका विपक्ष सोचा जा सकता है। जैसे, हम अपनी आंखों से देख रहे हैं कि यह मेज भूरी है। यह आपातिक ज्ञान है क्योंकि हम सोच सकते हैं कि मेज काली या सफेद हो सकती है. इसकी व्याख्या कुछ पृष्ठों के बाद विस्तारपूर्वक की जायगी।

फिर लौक के अनुसार सभी प्रत्यय अनुभव से ही प्राप्त होते हैं क्योंकि आत्मजात या सहजात प्रत्यय नहीं हो सकते हैं। आत्मजात प्रत्यय की आलोचना में लौक ने बताया है कि बच्चे, मूर्ख, अज्ञ इत्यादि में आत्मजात ज्ञान नहीं पाया जाता है। और यदि कहा जाय कि शिशु, मूर्ख और अज्ञ में आत्मजात प्रत्यय हैं, परन्तु वे इनसे अनभिज्ञ हैं, तो लौक का कहना है कि प्रत्यय मन में हो और फिर भी व्यक्ति उनसे अनभिज्ञ हों, यह व्याघातक (Contradictory) या असंगत बात है। लौक के अनुसार मन केवल चेतनमय ही हो सकता है।

अन्त में लॉक ने बताया है कि ज्ञान उतनी ही दूर तक हो सकता है जितनी दूर इन्द्रिय-ज्ञान सम्भव हो सकता है। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है "There is nothing in the intellect which was not previously given in the senses."

लाइबनित्स ने देकार्त और लौक के बीच ऐसे मध्यमार्ग का अनुसरण किया है कि उनकी समस्याओं का समाधान हो जाय। चूँकि लाइबनित्स के बाद काण्ट ने इसी समीक्षावाद (criticism) को विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है, इसलिए लाइबनित्सी मत को काण्ट के समीक्षावाद का पूर्वाभास कहा जा सकता है। देकार्त और लौक के मत को समन्वित करने के लिए लाइबनित्स ने सूझ रखी है कि न यह कहना ठीक है कि कुछ ही प्रत्यय आत्मजात हैं और न यह मानना ठीक है कि कोई भी प्रत्यय सहजात नहीं हैं। वास्तव में सभी प्रत्यय सहजात हैं क्योंकि सभी प्रत्यय गवाक्षहीन चिद्बिन्दु या मोनड के अन्दर हैं और कोई भी प्रत्यय बाहर से अन्दर नहीं आ सकता है। परन्तु यद्यपि सभी प्रत्यय सहजात हैं तो भी वे सब एक ही अवस्था में नहीं रहते हैं। इन प्रत्ययों की स्पष्टता में प्रयासन (appetition) के कारण विकास होता रहता है। प्रारम्भ में सभी प्रत्यय अनिश्चित तथा धुन्धले रहते हैं और अनुभव-बृद्धि के साथ धीरे-धीरे कुछ प्रत्यय अन्त में स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो जाते हैं। अनिश्चित तथा धुँधले प्रत्यय को इन्द्रिय-ज्ञान या संवेदना कहते हैं और परिस्पष्ट तथा स्पष्ट प्रत्यय को विचार कह सकते हैं। अतः, हम कह सकते हैं कि ज्ञान समवेदनाओं से प्रारम्भ होता है और स्पष्ट विचारों में चरम सीमा को प्राप्त करता है (knowledge begins with senses and ends in reason)। देकार्त की गलती यह थी कि वे स्पष्ट प्रत्ययों को ही ज्ञान के अन्तर्गत गिनते थे और लौक की गलती यह थी कि वे संवेदनाओं के ही आधार पर ज्ञान की

ईमारत खड़ी करना चाहते थे। ज्ञान के अन्तर्गत दोनों रहते हैं। दोनों की गलती है कि वे सम्वेदनाओं और परिस्पष्ट प्रत्ययों के बीच अनेक अति क्षीण तथा निर्विकल्पक (indistinct) प्रत्ययों को, जिन्हें अति क्षुद्रतर सम्वेदना (petites perceptiones) कहते हैं (*), तिरस्कृत कर देते हैं। सत्य ज्ञान परिस्पष्ट प्रत्ययों से बनता है, परन्तु इसकी बुनियाद सम्वेदनाओं में ही देखी जाती है।

इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि देकार्त्त के अनुसार ज्ञान अनिवार्य (necessary) होता है और लॉक संगत रूप (†) से केवल आपातिक ज्ञान को ही स्वीकार कर सकते हैं। परन्तु वास्तव में हमें समझना चाहिए कि प्रारम्भ में ज्ञान आकस्मिक अथवा आपातिक होता है और अनुभव-वृद्धि के साथ यह अनिवार्य हो जाता है।

लाइबनित्स के मतानुसार देकार्त और लौक दोनों की ज्ञान मीमांसा इसीलिए संकुचित हो जाती है कि दोनों 'मन' को केवल चेतन मानते हैं। परन्तु ऐसा समझना सर्वथा गलत है। यदि मन के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए चेतन का रहना अनिवार्य माना जाय तो हमें कहना पड़ेगा कि निद्रावस्था, बेहोशी इत्यादि में मन लोप हो जाता है क्योंकि इन दशाओं में चेतना नहीं पायी जाती है। परन्तु सोकर उठने के बाद भी हमें मालूम देता है कि हमारे मन की अवस्थाओं में तारतम्य (continuity) है। अतः, निद्रावस्था तथा बेहोशी में भी चेतना रहती है, परन्तु इसकी मात्रा कम हो जाती है। इसलिए हमें स्वीकार करना चाहिए कि मन अर्धचेतन तथा चेतन (unconscious) रूप में भी रहता है। यदि यह बात सत्य हो तो लौक का यह कहना कि 'मन में प्रत्यय रहे और फिर इससे कोई अनभिज्ञ रहे असंगत है,' ठीक नहीं है; क्योंकि प्रत्यय अचेतन रूप में रह सकता है। अतः, सहजात प्रत्ययों के खण्डन के सम्बन्ध में लौक की दी हुई युक्ति अमान्य ठहरती है।

---

* Petites perception अति क्षीण तथा दुर्बल सम्वेदना को कहते हैं। जैसे समुद्र की लहरों की आवाज अनेकों क्षीण तथा दुर्बल लहरियों के समूह से उत्पन्न होती हुई कही जाती है।

† वास्तव में लौक ने असंगत रूप से माना था कि ज्ञान अनुभव के आधार पर अनिवार्य हो सकता है।

फिर लौक ने अनुभववाद के प्रसंग में कहा है कि there is nothing in the intellect which was not previously given in the senses। कुछ दूर तक लाइबनित्स भी इस बात को स्वीकार करते हैं क्योंकि उनके अनुसार भी सभी ज्ञान सम्वेदनाओं से प्रारम्भ होते हैं। परन्तु सम्वेदनाएँ बाह्य जगत् से मोनड के अन्दर नहीं आती है। सब मोनड के अन्दर ही पैदा होती हैं और इसलिए यदि हम मान भी लें कि ज्ञान सम्वेदनाओं से प्रारम्भ होता हैं तोभी लाइबनित्सा सहजात प्रत्ययों का मत खण्डन नहीं होता है। फिर लाइबनित्स ने लौक की इस युक्ति में एक महत्त्वपूर्ण संशोधन जोड़ दिया है nisi ipse intellectus अर्थात् बुद्धि स्वयं किसी सम्वेदना से उत्पन्न नहीं होती है। लाइबनित्स के इस संशोधन का अभिप्राय हैं कि सम्वेदनाओं से सभी ज्ञान प्रारम्भ हो सकता है, परन्तु सम्वेदनाओं की शक्ति स्वयं जन्मजात हैं और यह शक्ति स्वयं सम्वेदनाओं की देन नहीं हैं। यदि सम्वेदनाओं को ग्रहण करने की क्षमता प्रागनुभव न होती तो सम्वेदनाएँ भी सम्भव नहीं हो सकतीं। अतः, अनुभव की सम्भावना-मात्र के लिये प्रागनुभव (a priori) बुद्धि का होना अनिवार्य हैं। अब आगे चलकर हम देखेंगे कि इसी सिलसिले में काण्ट ने लाइबनित्स के इस मत को विस्तारपूर्वक समझाया है और इसीसे लाइबनित्सी मत को काण्टीय-ज्ञान-मीमांसा का पूर्वाभास कहा जाता है।

ज्ञान में दो प्रकार के अर्थपूर्ण वाक्य (proposition) पाये जाते हैं। एक को हम अनिवार्य (necessary) और दूसरे को आपातिक अथवा संयोगात्मक (accidental) वाक्य कहते हैं। अनिवार्य सत्यता वह है जिसमें तार्किक तथा गणितिक (mathematical) अनिवार्यता तथा बाध्यता हो, अर्थात् ऐसी सत्यता हो जिसका विपक्ष हम सोच भी नहीं सकें। इस प्रकार की सत्यता ज्यामितिक युक्तियों में देखी जाती हैं। यदि हम २, 'और', ४ तथा 'योगफल' का अर्थ समझते हों, तो हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि २ + २ = ४। इस प्रकार की सत्यता आत्मसिद्ध और आत्म-संगत (self consistent) होती है जो अन्त में अव्याघात (contradiction) नियम पर आधारित होती हैं। इस प्रकार की सत्यता जटिल वाक्यों में भी देखी जा सकती है, पर अन्त में ऐसे वाक्यों के करने में सरल तादात्म्यी (identical) वाक्य हमें स्पष्ट मिल जाते हैं। फिर लाइबनित्स का मत था कि अनिवार्य सत्यता वह है जो किसी भी उद्देश्य से रहित हो। इसी अर्थ में स्पिनोजीय

सत्यता को, लाइबनित्स ने अनिवार्य सत्यता कहा है क्योंकि स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर में इच्छा है ही नहीं, और इसलिए उसमें किसी प्रकार का उद्देश्य नहीं है (*)।

अनिवार्य सत्यता के अतिरिक्त संयोगी या आपातिक सत्यता वह है जो नैतिक (moral) तथा वास्तविक स्थितियों में संचालित हो। इन दोनों सत्य के बीच अन्तर करते हुए लाइबनित्स ने Theodicee में इस प्रकार लिखा है :"It would be impossible to choose a more suitable method to show the difference there is between the moral necessity which rules the choice of the wise, and the brutc necessity of Strato and the Spinozsits, who allow God niether understading nor will than to con sider the difference between the reason for the laws of motion and reason for the ternary member of dimensions the former consisting in the choice of what is best, and the latter in a geometrical and blind nacessity." अतः प्रकृति के नियम संयोगात्मक हैं क्योंकि ईश्वर ने इसे सर्वश्रेष्ठ बनाने के उद्देश्य से ही इन्हें रचा है। यदि ईश्वर के अन्दर दूसरा उद्देश्य होता तो वे इन नियमों को बदलकर अन्य नियमों की स्थापना करते। इसलिए संयोगत्मक सत्य वह है जिसके विपक्ष की कल्पना हम कर सकते हैं। इस अर्थ में वास्तविक जगत के सम्बन्ध की सभी बातों को हम संयोगात्मक सत्य ही कह सकते हैं। निस्सन्देह वह मेज जिस पर हम लिख रहे हैं, काली है। पर हम सोच सकते हैं कि यह मेज काली न होकर भूरी या हरी हो। अब जिस रीति से अनिवार्य सत्य अव्याघात के नियम पर आधारित हैं, उसी प्रकार संयोगात्मक सत्य पर्याप्तता (sufficiency) या पर्याप्त हेतु (suffic ent reason) पर आधारित है। इस विषय में लाइबनित्स ने '*Mondology*' में लिखा है कि sufficient reason is that by which we believe that no fact can be true

---

* देखें Joseph, H. W. B. 'Lecture on the philosophy of Leibniz'---- PP. 89-92 फिर देखें Russell, B. 'A critical exposition of the philosophy of Leibniz,---'P. 34 (1951).

or real no statements trustworthy, unless there is sufficient reason why it should be so and not otherwise although in the greater number of cases we cannot know these rcasons." यह ठीक है कि कुछ दूर तक हम कह सकते हैं कि क्यों यह मेज काली है और क्यों यह कमरे के पूरब में रखी है, इत्यादि। यह सब हेतु मेज के रखनेवाले की इच्छाओं पर तथा कमरे की स्थिति पर, तथा धूप-पानी के विचार इत्यादि पर निर्भर करता है। अत: सभी वस्तुओं की संयोगी सत्यता को दिखाने के लिए हम प्रकृति विधान तथा वास्तविकता की बातों के आधार पर अपने हेतु (reason) को रख सकते हैं, पर तोभी हमारे हेतु कभी भी इतने सम्पूर्ण नहीं हो सकते हैं कि हम सिद्ध कर लें कि यह मेज काली छोड़कर हरी या भूरी हो ही नहीं सकती थी। अतः, लाइबनित्स ने *Monadology* में बताया है कि अनिवार्य सत्यता बौद्धिक हैं और इसे स्पष्ट करने के लिए या इसके हेतु को दिखाने के लिए हमें विश्लेषण (analysis) की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु वास्तविक वस्तुओं या घटनाओं के हेतु पर्याप्त हेतु पर ही निर्भर करता है। इसका विपक्ष सोचा जा सकता है और इसलिए वास्तविक घटनाएँ कभी भी अनिवार्य रीति से सत्य नहीं हो सकता हैं।

सत्यता को necessary और contingent, दो भागों में बांट देने से तार्किक प्रत्यक्षवादियों के कथन की पुष्टि होती है कि अनिवार्य वाक्य की अनिवार्य सत्यता उसके परिभाषित शब्द-विश्लेषण पर निर्भर करती हैं। परन्तु वास्तविक घटनाओं की सत्यता आनुभविक (empirical) वाक्यों द्वारा ही व्यक्त की जा सकती है और इस प्रकार की सत्यता केवल आपातिक ही हो सकती है।

ज्ञान के सम्बन्ध में लाइबनित्स ने सम्भाव्य (possible) और पूर्ण-सम्भाव्य (compossible) का भेद बताया है। वह जो आत्म-व्याघात से रहित हो, सम्भाव्य है। जैसे 'सोने का पहाड़' सम्भाव्य है। परन्तु वास्तविक घटनाएँ पूर्णसम्भाव्य हैं क्योंकि वे यथार्थ घटनाओं से सम्बद्ध रहती हैं। अब पेड़-पौधे, कुर्सी-मेज इत्यादि पूर्णसम्भाव्य हैं क्योंकि ये वास्तविक घटनाओं से मेल खाकर यथार्थ होते हैं। अतः, किसी घटना की पूर्णसम्भाव्यता (compossibility) यथार्थ वास्तविक बिधान पर निर्भर करती है और यही यथार्थ वास्तविक विधान किसी घटना का पर्याप्त हेतु होता है।

यह ठीक है कि कोई भी मानव वास्तविक घटनाओं की व्याख्या पूरी नहीं कर सकता है क्योंकि वह उन सभी कारणों को नहीं बता सकता है जिसकी वजह से यह मेज किसी अमुक रंग की या जगह पर है। सभी यथार्थ घटनाएँ मानव के लिए संयोगी ही मालूम देती हैं। पर क्या यही बात ईश्वर के लिए भी लागू है? लाइबनित्स के अनुसार ईश्वर ने मोनडों की रचना की है और प्रत्येक मोनड में विराट् ब्रह्माण्ड छिपा है और उसकी सभी भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य घटनाएँ प्रत्येक मोनड में सन्निहित हैं। इसलिए ईश्वर जो मोनड या चिदविन्दु की सम्पर्ण सम्भावना को जानता है, वह जानता है कि उसके अन्दर सभी घटनाएँ उसके स्वरूप से अनिवार्य रीति से सम्पादित होती जाती हैं और इस प्रसंग में लाइबनित्स ने यों लिखा है :—
"From the moment when my existence began itcould be said of me (i. e. truly) that this or that would happen to me; we must grant that these attributes were involved in my nature in its completeness, which is the basis of the connexion of all my varying inner states and which God has known perfectly from all eternity." अब यदि प्रत्येक मोनड की प्रतिक्रियाएँ उसके निहित स्वरूप से सम्पादित होती हैं और ईश्वर उन्हें पूर्णतया जानता हैं, तो कम से कम ईश्वर के लिए कोई भी घटना संयोगी (contingent) न हुई और इसलिए ईश्वर के लिए contingent और necessary का भेद नहीं होना चाहिए।

परन्तु लाइबनित्स इस मत का समर्थन नहीं करते हैं। उनके लिए contingent और necessary का भेद प्राकारिक है और यह भेद ईश्वर के लिए भी रह जाता हैं। लाइबनित्स स्वीकार करते हैं कि मोनडों की सारी कार्यवाही उनके स्वरूप से सम्पादित होती हैं और ईश्वर उसे पूर्णतया जानते हैं। परन्तु मोनडों की सम्पूर्ण सम्भावना ईश्वर की इच्छा के अन्तर्गत हैं। चूँकि ईश्वर मोनडों द्वारा अपने परम उद्देश्य की पूर्त्ति करना चाहते हैं, इसलिए उन्होंने उस उद्देश्य के उपयुक्त मोनडों का स्वरूप बनाया हैं। अतः, मोनडों का स्वरूप ही ईश्वर की इच्छा पर निर्भर रहने के कारण संयोगी या आपातिक है। अतः, प्रकृति और सभी वस्तुओं की घटनाएँ मोनडों के स्वरूप पर निर्भर करती हैं और मोनडों का स्वरूप ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता

है जिससे इस विश्व का कल्याण हो। इस सम्बन्ध में लाइबनित्स ने Theodicee में लिखा हैं : "This fitness too has its rules and reasons; but it is the free choice of God, and not a Geometrical necessity, which makes him prefer what is fit, and bring it into being. Thus we may say that *physical necessity* is based on *moral necessity*, i.e., on the choice of the wise, which is worthy of his wisdom; and that they ought both to be distinguished form *geometrical necessity*."

अत:, लाइबनित्स द्वारा contingent और necessary का भेद, सम-सामयिक तार्किक प्रत्यक्षवादियों के कथन की पुष्टि करता हैं।

लाइबनित्स की ज्ञान-मीमांसा की समालोचना :—लाइबनित्स की ज्ञान-मीमांसा अपने समय से बहुत आगे थी। इस परम्परा में पलकर कॉण्ट ने अपनी गम्भीर देन दर्शन को दी हैं। इसमें समसामयिक गाणतिक न्याय (mathematical logic) का पूर्वाभास प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। परन्तु फिर भी हम नहीं कह सकते हैं कि लाइबनित्सो ज्ञान-मीमांसा पूर्ण हैं। उन्होंने देकार्त और लॉक की ओर उंगली उठाई हैं और उनके अधूरेपन को स्पष्ट कर दिया हैं, रर स्वयं उन्होंने ज्ञान-मीमांसा को पूरा नहीं किया है। लॉक का समाधान निस्सन्देह छिछला हैं, पर उनकी समस्या गहरी हैं। लाइबनित्स ने लॉक के छिछलेपन को स्पष्ट कर दिया है, पर समस्या की गहराई का समाधान नहीं किया है। यदि हम मान भी लें कि संवेदनाओं से धीरे धीरे स्पष्ट तथा परिस्पष्ट ज्ञान होता हैं, तो हमारी समस्या हैं कि किस प्रकार से यह विकसित होता हैं। जबतक हम उन सब पगों और सीढ़ियों को न जान लें जिनसे अनिश्चित संवेदनाओं से असन्दिग्ध-ज्ञान होता हैं, तब तक ज्ञान-मीमांसा के प्रश्न हल नहीं होते हैं और यह काम लाइबनित्स ने नहीं किया है।

फिर यदि हम लाइबनित्स के मोनड की ईक्षण-शक्ति पर, जिनसे ज्ञान प्रारम्भ होता है, ध्यान दें तो इसके आधार पर ज्ञान सापेक्ष (relative) ही हो सकता है। 'क' मोनड 'ख' को प्रतिबिम्वित करता, पर'ख' स्वयं 'ग' को प्रतिबिम्वित करता, और 'ग' अपनी बारी में 'घ' के ईक्षण को प्रतिबिम्बित करता है। अत: किसी भी मोनड के किसी भी ईक्षण को निरपेक्ष (absolute) नहीं कहा जा सकता। अतः लाइबनित्सी समाधान सापेक्षता के गहरे पंक में धंस जाता है जहाँ से भाग निकलना दुस्तर है।

अपितु, लाइबनित्स देश काल तथा मोनडों के बीच के सम्बन्ध को अवास्तविक मानते हैं, क्योंकि वास्तविकता मोनड और उनकी समाविष्ट स्थितियों की हो सकती है और देश, काल इत्यादि मोनडों की बाह्य स्थितियाँ ही बतायी गई हैं। ऐसी अवस्था में ईक्षण क्या प्रतिबिम्बित करता है? क्या एक मोनड अन्य मोनडों के ईक्षण को ही प्रतिबिम्बत करता है? परन्तु ईक्षण केवल प्रतिबिंब है और अनेक प्रतिबिम्ब मिलकर कोई सत्ता नही बना सकते हैं। "Even an infinity of little mirrors with nothing but each other to reflect must at once collapse into absolute vacuity" यहाँ हम प्लेटो के गह्वर में रहकर छाया को ही सत्य मान सकते हैं। अत: लाइबनित्स की ज्ञान मीमांसा में वास्तविकता की अवहेलना की गई है।

फिर यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है कि ईक्षण के आत्मनिष्ठ (subjective) रहने के कारण लाइबनित्स की ज्ञान-मीमांसा एकात्मसत्तावाद (solipsism) में परिणत हो जाती है।

ईश्वर-सम्बन्धी विचार

लाइबनित्स, देकार्त तथा स्पिनोजा की परम्परा से प्रभावित हुए थे और इसी परम्परा के अनुसार उन्होंने अपने दर्शन को ईश्वर-केन्द्रित किया है। परन्तु ईश्वर-विचार के सम्बन्ध में आप प्लेटो और अरस्तू के मत से भी प्रभावित हुए थे। प्लेटो के शुभसम्बन्धी प्रत्यय (The idea of good) से आपका ईश्वर-प्रत्यय बहुत मिलता जुलता हैं। फिर ईश्वर की शुद्ध वास्तविकता (actus purus) का विचार अरस्तू के विचार से बहुत मेल खाता है।

अब यह निश्चित है कि लाइबनित्स ईश्वरवादी (Theist) थे, परन्तु मोनडवाद और ईश्वरवाद दोनों में पूरी संगति नही दिखाई देती है। कभी तो ईश्वर को मोनडों का रचयिता माना जाता है, तो कभी ईश्वर को मोनडों के छन्द (harmony) का अन्तिम उच्चतम शिखर कहा जाता है, और कभी मोनडों के छन्द को ही ईश्वर मान लिया गया है। परन्तु जैसा हम देख चुके हैं यदि ईश्वर मोनडों का रचयिता हो तो मोनडों को अनादि तथा शाश्वत नहीं कहा जा सकता है, और यदि मोनड शाश्वत हो तो ईश्वर को उनका रचयिता नहीं कहा जा सकता हैं। अब यदि ईश्वर पूर्वस्थापित छन्द की अन्तिम लड़ी हो तो सभी मोनड इसी ईश्वर-मोनड से उसी प्रकार नि:सृत

(emanated) होते हैं जिस रीति से सुगन्ध फूल से निकलती हैं, अथवा सभी मोनड इसी पूर्ण मोनड की नकल तथा प्रतिच्छाया कहे जा सकते हैं। परन्तु इस हालत में ईश्वर ही एकमात्र निरपेक्ष (absolute) सत्ता हो जाता है और अन्य सभी मोनड छाया तुल्य सारहीन हो जाते हैं। उनकी स्थिति स्पिनोजीय पदार्थ के प्रकार (modes) के समान हो जाती है। इस दृष्टिकोण से लाइबनित्स का अनेकवाद दिखलौआ हो जाता है और स्पिनोजीय एकसत्तावाद यथार्थ सिद्धान्त बन जाता है। फिर यदि हम मोनडों के सामंजस्य (harmony) को ही ईश्वर मान लें, तो जगत् ही (क्योंकि मोनडों का समूह ही विश्व है) ईश्वर और ईश्वर विश्व हो जाता है। तो ऐसी हालत में भी स्पिनोजा का वह सिद्धान्त, जिसके अनुसार विश्व ही ईश्वर और ईश्वर विश्व है (Natura Naturata), और (Natura Naturans) लाइबनित्स के दर्शन में भी सत्य हो जाता है। अतः, ऐसा मालूम होता है कि जितना लाइबनित्स ने स्पिनोजीय दर्शन से पिण्ड छुड़ाने की चेष्टा की है उतना ही अधिक स्पिनोजा के भूत ने उन्हें दबोच डाला है। अतः, जिस रीति भी हम मोनडवाद को मानकर ईश्वर-विवेचन करें, उसमें में ईश्वरवाद की रक्षा नहीं होती है।

अब जो भी लाइबनित्स का मत ईश्वर के सम्बन्ध में हो, उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कई प्रमाण दिये हैं, जिनमें तात्त्विक या सत्तामूलक (ontological) प्रमाण विशेष है। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। प्रत्येक मोनड में दो पक्ष हैं, अर्थात वास्तविक (actual) और सम्भावित (possible), सक्रियता (activity) और निष्क्रियता (passivity)। जो मोनड जितने ही उच्चतर होंगे उनमें उतनी ही अधिक सक्रियता तथा वास्तविकता होगी, और मोनड जितने निम्नतर होंगे उनमें उसी मात्रा में निष्क्रियता होगी। अब सोपानक्रम (Hierarchy) में ईश्वर सर्वोच्च मोनड है और उसके अन्तर्गत सभी निष्क्रियता और सम्भावना वास्तविक हो चुकी है। अतः ईश्वर ही पूर्णतया वास्तविक है (actus purus) इस प्रसंग में ईश्वर का अस्तित्व इस प्रकार प्रमाणित किया जा सकता है। 'यदि ईश्वर सम्भव है तो वह है, क्योंकि उसका अस्तित्व उसकी सम्भावना का अनिवार्य परिणाम है"। दूसरे शब्दों में अन्य मोनडों में सम्भावना यथार्थ नहीं हो पाई है परन्तु ईश्वर की सभी सम्भावनायें वास्तविक हैं। अब यदि ईश्वर संभव है, तो वह अवश्य ही वास्तविक भी है, और ईश्वर अवश्य ही सम्भव है, क्योंकि ईश्वर के विषय में संगत रूप से सोचा जा सकता है

और जो संगत रीति से सोचा जा सकता है वह संभव होता है। परन्तु यह उक्ति देकार्त के तात्त्विक प्रमाण के समान दोषपूर्ण हैं। यदि ईश्वर सम्भव है, तो वह वास्तविक नहीं, और वास्तविक है तो सम्भव नहीं कहा जा सकता है। अत: सम्भव (अथवा वह जिसके विषय में सोचा जा सके) के आधार पर वास्तविकता सिद्ध नहीं की जा सकती है।

उपर्युक्त तात्त्विक प्रमाण में लाइबनित्स ने विश्वसम्बन्धी प्रमाण (cosmological) जोड़ दिया है। यथार्थ में लाइबनित्स को दिखाना है कि ईश्वर सम्भव हैं और उसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने विश्वसम्बन्धी प्रमाण दिया है। अब विश्व की प्रत्येक वस्तु संयोगात्मक (contingent) हैं। क्योंकि हम उनका अनस्तित्त्व (non-existence) सोच सकते हैं। उसी प्रकार हम सम्पूर्ण विश्व का अनस्तित्त्व सोच सकते हैं और इसलिए विश्व भी संयोगात्मक है। परन्तु सभी संयोगात्मक सत्य के आधार में पर्याप्त हेतु रहना चाहिए। समस्त विश्व का पर्याप्त हेतु ईश्वर है। परन्तु इस प्रमाण को भी दोषपूर्ण ही समझना चाहिए, क्योंकि संयोगात्मक कार्य का कारण भी संयोगात्मक, न कि अनिवार्य (necessary) हो सकता है।

इन दो प्रमाणों के अतिरिक्त लाइबनित्स ने तीसरा भी प्रमाण दिया है। यह शाश्वत सत्ताओं (eternal truths) पर आधारित है। कुछ सत्य हैं, जैसे २+२=४। इस प्रकार की अनादि सत्यता का आधर आपातिक नहीं हो सकता है। ये ईश्वर के मन में रहते हैं और इसलिए ईश्वर अवश्य हैं। परन्तु लाइबनित्स ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया है कि वास्तविक घटनाएँ आपातिक ही हो सकती हैं। यह ठीक है कि लाइबनित्स ने ईश्वर के अस्तित्व को भी अनिवार्य सत्यता के अन्तर्गत माना है, पर यह उनकी ही तार्किक खोज से मेल नहीं खाता है।

ईश्वर, लाइबनित्स के अनुसार, मंगलकारी तथा प्रेममय है। उसने समस्त विश्व की रचना ऐसी की है कि सभी का अंत में कल्याण हो। यहाँ लाइबनित्स का प्रबल आशावाद झलक उठता है। "The world is the result of the wisest and best choice and so it must be the best possible world". पर यदि यह विश्व सम्भवत: सर्वश्रेष्ठ विश्व है तो इसमें दु:ख और बुराई कैसे हुई ? लाइबनित्स के अनुसार, बुराई के रहने से अच्छाई की सुन्दरता और उसका मूल्य बढ़ता है (Evil is foil to the good)। जिस प्रकार भूख की प्रबलता से भोजन का स्वाद

बढ़ता है, उसी प्रकार दुःख के भाव से सुख का अनुभव अधिक आनन्ददायी होता है। लाइबनित्स बुराइयों को तीन वर्गों में बाँट देते हैं और प्रत्येक की व्याख्या इस प्रकार देते हैं। सर्वप्रथम, तात्त्विक (metaphysical) बुराई है। प्रत्येक मोनड सीमित है और इसमें सीमित ज्ञान और देह रहने के कारण विकार का रहना अनिवार्य है। जैसे, हम न तो विश्व की सभी बातों को और न अपने भविष्य को ही जान सकते हैं। और इस प्रकार के अज्ञान से दुःख भोगना आवश्यक हो जाता है। पर सीमित मोनडों में इन सब दोषों का रहना उनके स्वरूप पर निर्भर करता है और इसे हटाया नहीं जा सकता है। तोभी लाइब-नित्स के अनुसार यदि हम प्रत्येक मोनड को सम्पूर्णतया लें या विश्वकल्याण पर ध्यान दें, तो दुःख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक दिखाई देगी या किसी के थोड़े से दुःख से अन्य मोनडों का सुख बहुत अधिक मात्रा में बढ़ता मालूम देगा। इसलिए दुःख तथा बुराई के सम्बन्ध में व्यापक दृष्टि के आधार पर निर्णय करना चाहिए और तब ये शुभ और कल्याणकारी ही दीखेंगे।

द्वितीय, शारीरिक विकार है, जैसे शारीरिक दुःख, बीमारी इत्यादि। लाइबनित्स के अनुसार, इस प्रकार के विकार से मोनडों की शिक्षा और उनका बचाव होता है। यदि आग से हाथ न जले, तो बच्चा अपने को मृत्यु के गाल में अकाल ही डाल देगा। यदि बाघ न होते तो हरिण की चौकड़ी का विकास न होता। अतः शारीरिक विकार सम्पूर्णतया मोनडों के कल्याण के लिए ही होते हैं। अंत में, नैतिक (moral) विकार की बारी आती है। लाइबनित्स के अनुसार, ईश्वर ने मोनडों को स्वतन्त्र बनाने की चेष्टा की है और जब उन्हें स्वतंत्र इच्छा दी, तो उनके साथ बुरी बातों को अपनाने की भी क्षमता दी है। अतः, ईश्वर चाहता तो नहीं है कि मोनड नैतिक पतन में पड़ें, पर स्वतंत्र इच्छा द्वारा ही मोनड नैतिक आदर्श की चरम सीमा तक पहुँच सकते हैं और आदर्श नैतिकता बिना स्वतंत्र इच्छा के सम्भव नहीं हो सकती है और जहाँ स्वतन्त्र इच्छा होगी वहाँ पतन की सम्भावना भी रह जाती है। अतः, ईश्वर नैतिक विकार नहीं चाहता है, पर इसकी सम्भावना उसे स्वीकार करनी पड़ती है (God does not will, but allows moral evil)।

लाइबनित्स का विकार-सम्बन्धी विचार गवेषणापूर्ण है, पर इसे पूर्णतया सन्तोषजनक समझना कठिन है। जिस मोनड को दुःख का शिकार होना पड़ता है, वह लाइबनित्स के दर्शन को जानकर उस दुःख से कम पीड़ित नहीं होता है। पर शायद ही कोई ईश्वरवाद है जिसमें दुःख की समस्या का पूर्ण सम-

धान हो सकता है। परन्तु हमें अब देखना है कि वास्तव में मोनड अपने काम के उत्तरदायी (responsible) हैं या वे अपने स्वरूप से विवश होकर सभी काम करते हैं, अर्थात् हमें स्वतंत्रवाद और नियतिवाद (determinism) का निपटारा करना है।

स्वतन्त्रता तथा अनिवार्यता (Necessity)

लाइबनित्स के अनुसार, मानव अपने श्रेय (the good) को प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र है और उसका निःश्रेयस इसी में है कि वह लोक-हित में लगा रहे। परन्तु स्वतंत्र व्यवहार का अर्थ यह नहीं है कि उसमें नियंत्रण न हो। कुछ हद तक सभी मानव क्रियाओं में नियतिवाद रहता है क्योंकि सभी क्रियाएँ भूत कारणों से नियंत्रित होती हैं। अब यदि प्रक्रियाएँ भूत आधार से नियंत्रित न हों तो इससे यह मानना पड़ेगा कि प्रक्रियाएँ एका-एक हो जाती हैं। परन्तु ऐसा स्वीकार करने से तारतम्य के नियम का उल्लंघन होता है। अतः, हमें मानना पड़ेगा कि सभी प्रक्रियाएँ भूत कारणों से नियंत्रित होती हैं।

परन्तु यद्यपि मानव-प्रक्रियाएँ भूत कारणों से नियंत्रित होती हैं तोभी उन्हें अनिवार्य (necessary) नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि किसी भी वास्तविक घटना का अनस्तित्व सोचा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से सभी मोनडों की प्रक्रियाओं को संयोगात्मक समझा जा सकता है, पर उन्हें स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता है। किसी प्रक्रिया को स्वतन्त्र कहने के लिए उसमें तीन लक्षणों का होना चाहिए। (१) सूझ या बुद्धि, जिसके कारण प्रतिक्रियाओं को उनके स्पष्ट लक्ष्य को जानकर सम्पादित किया जाय। इसके अनुसार जिस काम को जितना अधिक हम अनजाने करेंगे उतना ही अधिक वह काम नियतिवाद से संचालित होगा, और जिस काम को हम जितना अधिक समझ-बूझकर करेंगे वह उतना ही अधिक स्वतंत्र समझा जायगा। लाइबनित्स के इस मत में स्पिनोजा की झलक मिलती है। (२) दूसरी बात है कि स्वतन्त्र प्रक्रियाओं में आत्म-प्रेरणा (spontaneity) होनी चाहिए, अर्थात् जिस काम को स्वयं हम करें, और (३) तीसरी बात है कि इसमें आपातिकता हो अर्थात् जिसमें तार्किक अनिवार्यता न हो। अतः, a free action is a contingent activity having spontaneous unfolding of the action guided by clear perception. इस अर्थ में ईश्वर अति स्वतन्त्र हैं क्योंकि उनकी प्रक्रियाएं अति स्पष्ट ईक्षण से आत्म-

प्रेरित होती हैं। फिर उनकी प्रक्रियाओं को संयोगात्मक कहा जायगा क्योंकि ये ईश्वर के परम कल्याणकारी उद्देश्य से संचालित होती हैं। अब यदि लाइबनित्स ईश्वर की प्रक्रियाओं को संयोगात्मक नहीं मानते, तो स्पिनोजा के समान उन्हें स्वीकार करना पड़ता कि सभी घटनाएँ ईश्वर से अनिवार्य रीति से संचालित होती हैं। पर फिर भी प्रश्न उठता है कि क्या लाइबनित्स अपने को स्पिनोजा के निष्कर्षों से मुक्त कर सके हैं ? हमलोगों की समझ में लाइबनित्स गुप्त रूप से स्पिनोजावादी ही रहे हैं।

लाइबनित्स और स्पिनोजा

लाइबनित्स के जीवन-काल में ही लोग कहा करते थे कि वे स्पिनोजा-वादी थे और लाइबनित्स इस मत का खण्डन किया करते थे। वे बताते थे कि उनका दर्शन स्पिनोजीय दर्शन के विपक्ष में है, क्योंकि स्पिनोजा एकसत्ता-वादी (monistic) थे और आप अनेकवादी थे। परन्तु वास्तव में पूर्वस्थापित छन्द के सिद्धान्त के प्रति कहा जा सकता है कि मोनडों का अनेकवाद परिभासमात्र (mere appearance) है और इसलिए वास्तव में आप एक सत्तावादी थे। मोनडवाद तथा लाइबनित्स के ईश्वर-विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि स्पिनोजा के समान आप भी शून्यवादी, नियतिवादी (determinist) तथा सर्वेश्वरवादी (pantheistic) थे, और हम इन सब बातों को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट कर सकते हैं।

लाइबनित्स का शून्यवाद (nihilism) :—लाइबनित्स के लिए देश, काल तथा भौतिक पदार्थ की सत्ता है ही नहीं। अब यदि कुछ बचता है तो वह मोनडों का पारस्परिक प्रतिबिम्बित ईक्षण। परन्तु हमलोग पहले ही देख चुके हैं कि यह केवल छायामात्र है और इसमें कोई ठोस वास्तविकता नहीं है। यदि कहीं वास्तविकता न हो तो उसे शून्यवाद ही कहा जायगा।

नियतिवाद :—फिर लाइबनित्स के अनुसार मोनडों की प्रक्रियाएँ भूत प्रक्रियाओं से नियन्त्रित होती हैं और आत्म-प्रेरित होने के कारण लाइबनित्स ने इच्छात्मक प्रक्रियाओं को स्वतन्त्र प्रक्रिया कहा है। परन्तु स्पष्ट से स्पष्ट ईक्षण से नियन्त्रित होने पर भी इसे स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अति स्पष्ट ईक्षण का उद्देश्य भी मोनडों में वही है जिसे ईश्वर ने उनके स्वरूप में स्थापित कर दिया है। अतः मोनडों की प्रक्रियाएँ ईश्वरीय उद्देश्य से संचालित होती हैं। मानव को इतनी ही स्वतन्त्रता है कि वह जान-बूझकर

उस उद्देश्य की पूर्ति करे। अब यही बात तो स्पिनोजा ने भी स्वतन्त्र प्रक्रियाओं के विषय में कही है जिसे हमने नियतिवाद कहा है।

सर्वेश्वरवाद :—पूर्वस्थापित छन्द के अनुसार, प्रत्येक मोनड प्रयासन-वृत्ति के कारण ईश्वर के स्वरूप की नकल करता है। अतः, वास्तविकता केवल एक ईश्वर की है और सभी मोनड उसकी प्रतिकृतियाँ (copies) हैं। कई स्थलों पर तो लाइबनित्स ने यह भी कहा है कि मोनड ईश्वर से उसी तरह निकलते हैं जिस तरह से विचार मानव-मन से सम्भव होते हैं। अतः, मोनड भी स्पिनोजा के प्रकार (modes) का रूप धारण कर लेते हैं।

उपसंहार

यद्यपि लाइबनित्स बहुत दूर तक स्पिनोजावादी थे, तोभी उनका दर्शन स्पिनोजा के विचारों की पुनरावृत्ति नहीं करता है। लाइबनित्स बहुमुखी और सर्वपटी थे। उन्होंने अपने युग की अनेक धाराओं को एकत्र कर सम्बद्ध रूप से उनकी व्याख्या करनी चाही और यही कारण है कि उनके दर्शन को समझौता (compromise) या समन्वय का दर्शन कहा जाता है। इस प्रयास में उन्होंने अनेक सूझ हमारे सामने रखी हैं जो आज तक हमारे विचारों का मार्गदर्शन कराती हैं। परन्तु फिर भी हम लाइबनित्स के सुझाव को सन्तोष-जनक नहीं समझ सकते हैं। उनकी कमी यह थी कि उन्होंने अपनी युक्तियों को पदार्थ-गुण (substance-attribute) की मूलधारणाओं (categories) से सम्पादित किया था और यहाँ भी आपने स्पिनोजा के बताये हुए पदार्थ-गुण को अपनाया था और यही कारण है कि आप स्पिनोजा के निष्कर्षों से छुटकारा न पा सके। आगे चलकर हम पाते हैं कि ब्रैडले ने भी परम सत्ता को उद्देश्य (subject) और अन्य सभी वस्तुओं को विधेय या उसका गुण माना है और इसी पदार्थ-गुण की धारणा में पड़कर एकसत्तावाद की स्थापना की है। अतः, पदार्थ-गुण की धारणा पर आधारित रहने पर अनिवार्य रूप से एकसत्तावाद स्थापित हो ही जाता है।

हमलोगों ने पहले ही कहा है कि दर्शन वैचारिक कला है और दार्शनिक अपनी सूझ के अनुसार सब अनुभूतियों को सम्बद्ध करता है। लाइबनित्स भी गाणतिक अपरिमित कलन (infinitesimal calculus) से प्रभावित हुए थे। आप यदि मोनडवाद को ही अपनाते और ईश्वर-विवेचन को स्थान नहीं देते तो आपका दर्शन अधिक संगत होता। पर आपने धर्म और विज्ञान की दो विरोधी सूझों को मिलाने की कोशिश की है और यही कारण है कि यह न तीतर हुआ और न रहा बटेर।

जॉन लॉक (सन् १६३२-१७०४)

आप का जन्म २९ अगस्त, सन् १६३२ में इंगलैंड के समरसेट नामक नगर में हुआ था और आप की शिक्षा-दीक्षा आक्सफोर्ड में हुई थी। आप डॉक्टर थे पर राजनीतिक कार्यों में बहुत भाग लिया करते थे। आपने जो कुछ लिखा वह आपकी प्रौढ़ावस्था का परिपक्व परिणाम था। आपकी मुख्य रचना 'Essay concerning human understanding,' शायद सन् १६७९ में पूरो हो गई थी, पर इसका मुद्रण सन् १६९० में किया गया था। आपकी मृत्यु सन् १७०४ के २८ अक्टूबर को हो गई।

लॉक की 'समस्या' :—हम देखते हैं कि मेज हमारे सामने है और हम कहते हैं कि हम मेज को जानते हैं। अब यहाँ दो प्रकार के प्रश्न हैं, अर्थात् (१) मेज का तत्त्व क्या है जिसे जानने से हम समझते हैं कि हम 'मेज' को जानते हैं। इस प्रकार के प्रश्न ज्ञय अथवा ज्ञान की वस्तु के तत्त्व से सम्बन्ध रखते हैं और इस प्रकार की गवेषणा को तत्त्व-मीमांसा (ontology) कहा जाता है। देकार्त, स्पिनोजा तथा लाइबनित्स अधिकतर तत्त्व-मीमांसक थे। (२) परन्तु हमारी गवेषणा स्वयं ज्ञान के सम्बन्ध में भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, हम इस बात को भी निर्धारित करना चाह सकते हैं कि किस प्रकार के 'जानने' को जानना या ज्ञान कहा जा सकता है। इस प्रकार की गवेषणा ज्ञान-मीमांसा कहलाती है। अब ज्ञान के प्रति चिन्तन बिना ज्ञेय को पार्श्वभूमि (background) में रखे हुए नहीं हो सकता है, पर फिर भी हम ज्ञान की समस्याओं पर, ज्ञेय की अपेक्षा अधिक ध्यान दे सकते हैं। यही बात लॉक, बर्कले तथा ह्यूम में पाई जाती है। वे विशेषतया ज्ञान-मीमांसक कहे जा सकते हैं।

'ज्ञान' किसे कहा जाय ? लॉक के अनुसार उसी जानने को ज्ञान कहा जायगा जो असंदिग्ध (certain) हो। हम जानते हैं कि इस प्रकार का ज्ञान गणितशास्त्र में पाया जाता है। अत:, लॉक भी गाणतिक परम्परा से प्रभावित थे। पर आचरण-विज्ञान तथा धर्म-विज्ञान (theology) भी

*"With me", says Locke, "to know and to be certain is the same thing, what I know that I am certain of......and what comes short of certainty, I think cannot be called knowledge."---.(Essays BK IV 16.3)
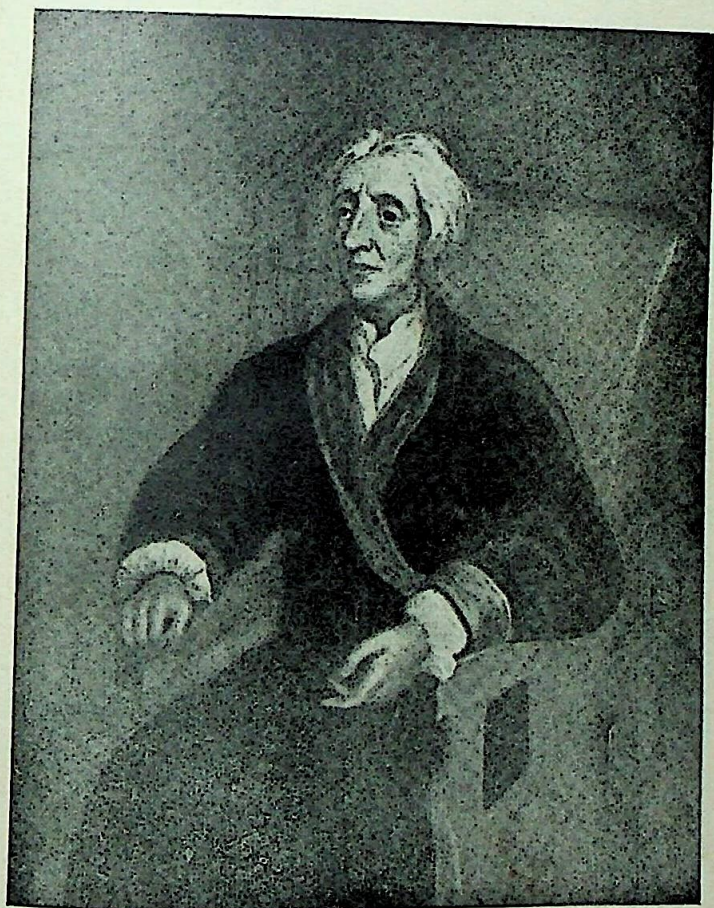
JOHN LOCKE (1632 to 1704)

ज्ञान प्राप्त करना चाहा है। परन्तु लौक को असंदिग्ध ज्ञान सभी विषयों के प्रति सम्भव नहीं मालूम दिया और इसलिए उन्होंने असंदिग्ध ज्ञान को सीमा-बद्ध बताया है। अत:, लॉक की समस्या है कि वे असंदिग्ध ज्ञान के उद्भव (origin), स्वरूप, सीमा तथा महत्त्व की जाँच करें। परन्तु इस विषय में भी उन्होंने बताया है कि उन्होंने एक मजदूर की भाँति केवल जमीन की सफाई की है ताकि इसके बाद ज्ञान-सम्बन्धी इमारत खड़ी की जा सके।***

लॉक जानते थे कि ज्ञान वाक्यों के आधार पर व्यक्त किया जाता है, पर अन्त में य वाक्य भावनाओं (ideas) पर आधारित हैं। इसलिए प्रश्न उठता है कि ये भावनाएँ किस प्रकार से प्राप्त की जाती हैं। परन्तु लॉक को चाहिए था कि भावना (idea) का अर्थ स्पष्टतया निर्धारित करते और महत्त्वपूर्ण ** हैं और इनके विषय में भी लॉक ने निश्चित तथा असंदिग्ध यह काम इन्होंने नहीं किया है। 'भावना' का विश्लेषण करने पर इनमें दो बातें मालूम देती हैं कि..

(१) यह किसी एक व्यक्ति विशेष की चेतना का एक अंश है जिसे जानने के लिए किसी वस्तु को ध्यान में रखने की आवश्यकता नहीं है।

(२) फिर भावना किसी वस्तु का प्रतीक या प्रतिनिधि (representativ) भी हो सकती है।

लॉक ने दोनों अर्थों में 'भावना' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे उनकी गवेषणा में काफी गड़बड़ी आ गई है। पुनः, भावनाओं का अध्ययन दो रूप से कर सकते हैं, अर्थात् (क) हम किसी भावना का विश्लेषण सम्वेदनाओं, प्रतिमाओं (images) तथा भावों (feelings) के आधार पर कर सकते हैं, या (ख) हम भावना के अन्तर्गत शाश्वत, कालातीत तथा तार्किक विषय (content) का अध्ययन कर सकते हैं। इस तार्किक विषय को जो

**लौक का कहना है : "Morality is the proper business and science of mankind in general." फिर कहा है : "Morality and divinity are those parts of khowledge that men are most concerned to be clear in.

***उन्होंने अपने विषय में कहा है कि "It is ambition enough to be employed as an underlabourer in clearing the ground a little, and removing some of the rubbish that lies in the way to knowledge."

भावनाओं में सामान्य रूप से रहते हैं, हम शुद्ध प्रत्यय या पदार्थ (categories) कहते हैं। प्रथम अध्ययनविधि को मनोवैज्ञानिक और दूसरी को तार्किक-गवेषणा कहा जाता है। अब लॉक ने यहाँ भावनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण नहीं किया है, और इसलिए अपनी ज्ञानमीमांसा में मनोवैज्ञानिक अध्ययन को घुसेड़ दिया है। फिर भी लॉक की समस्या थी कि वे भावनाओं की उत्पत्ति और उनके स्वरूप का अध्ययन करें और वे चाहते थे कि इस सम्बन्ध में पूरी सफाई रहे और इसलिए उन्होंने सहजात प्रत्ययों के सिद्धान्त का खण्डन किया है जिसे हम निम्नलिखित रूप से स्पष्ट कर सकते हैं।

सहजात प्रत्ययों का खंडन (Refutation)

देकार्त ने सहजात प्रत्यय (innate ideas) का सिद्धान्त अवश्य ही बताया था परन्तु उनका सहजात प्रत्यय ऐसा था जो शिशु तथा अनपढ़ों में केवल स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में पाया जाता है और लॉक भी इस मत को अस्वीकार नहीं करते हैं। अतः, लॉक ने देकार्त के मत का खण्डन नहीं किया है और न किसी अन्य दार्शनिक के मत का खण्डन किया है। उन्होंने केवल अपनी भावनाओं के सिद्धान्त को उग्र रीति से स्पष्ट करने के लिये खण्डन की मदद ली है। (*)।

लॉक ने सहजात प्रत्यय से उन प्रत्ययों (ideas) का अर्थ लिया है जिनके विषय में यह मत था कि वे ईश्वर प्रदत्त हैं और जो बिना किसी अनुभूति के आधार पर सभी व्यक्तियों में स्पष्टतया पाये जाते हैं। परन्तु लॉक की यही धारणा है कि सभी प्रत्यय वस्तुओं की जानकारी के प्रयास से मानव अनुभूत के आधार पर उत्पन्न होते हैं। सहजात प्रत्ययों के माननेवालों ने सभी सहज प्रत्ययों की तालिका तो दी नहीं है, पर उन्होंने बताया है कि सहज प्रत्यय वे हैं जो सार्वभौमिक (universal) हैं। अतः, इस प्रसंग में लौक ने बताया है कि कोई भी प्रत्यय शायद ही सार्वभौमिक सिद्ध किया जा सकता है और यदि किसी प्रत्यय को सार्वभौमिक मान लिया जाय तो सार्वभौमिक (universality) की व्याख्या सहजात के आधार पर नहीं होकर अनुभव से ही स्पष्ट की जा सकती है।

यदि सहजात प्रत्यय से समझा जाय कि कुछ भावनाएँ मानव में जन्म से ही पाई जाती हैं तो ऐसी कोई भावना देखने में नहीं आती है। प्रायः 'सहज' प्रत्यय के समर्थक अव्याघात (contradiction) तथा तादात्म्य

*D. T. O 'Connor, John Locke'—P. 39 (A pelican book)

(identity) सिद्धान्तों को सहज मानते हैं। परन्तु वास्तव में ये सिद्धान्त इतने जटिल है कि मानव में जीवन के प्रारम्भ में न होकर वे प्रौढ़ावस्था में अति कठिन चिन्तन के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। परन्तु यहाँ पर "सहज प्रत्यय' के समर्थक कह सकते हैं कि ये प्रत्यय शिशु, अनपढ़ तथा पागल इत्यादि में रहते हैं, पर हम उन से अनभिज्ञ रहते हैं। परन्तु लॉक देकार्तीय परम्परा को मानते हुए मन को केवल चेतन समझते थे और इसलिए उन्होंने बताया है कि कोइ प्रत्यय मन में रहे और फिर भी लोग उससे अवगत न हों, ये दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं (*)। अतः, लॉक का कहना है कि कोई भी प्रत्यय सहजात नहीं है, क्योंकि कोई भी प्रत्यय सार्वभौमिक नहीं पाया जाता है।

जो बात बौद्धिक प्रत्ययों के विषय में कही जा सकती है वही नैतिक तथा धार्मिक प्रत्ययों के विषय में भी कही जा सकती है। शायद ही कोई ऐसा आचार सिद्धान्त है जिसे दुनिया भर में सभी लोग एक रूप से सत्य मानते हैं। चोरी तथा हत्या को ठग तथा स्पार्टा निवासी धर्म समझते थे और सभ्य व्यक्तियों में भी युद्धधर्म में सभी दुराचार को मान्य समझा जाता है। अतः, नैतिक धर्मों को भी सार्वभौमिक न रहने के कारण, सहज नहीं माना जा सकता है।

फिर ईश्वर के प्रति प्रत्ययों को सहज समझा गया है। परन्तु यहाँ भी सार्वभौमिकता का अभाव दीखता है। नाना धर्मों में ईश्वर सम्बन्धी प्रत्यय भी विभिन्न माना गया है। फिर कुछ व्यक्तियों को कौन कहे, कितनी समस्त जातियाँ बिना ईश्वर के ज्ञान के पायी जाती हैं। अतः, ईश्वरसम्बन्धी प्रत्यय भी सार्वभौमिक नहीं समझा जा सकता, और इसलिए इसे भी सहजात नहीं गिना जा सकता है।

अतः, वे सब प्रत्यय जिन्हें सहज समझा जाता था सार्वभौमिक नहीं सिद्ध पाये जाते हैं और फिर कितने प्रत्यय वास्तव में सार्वभौमिक हैं, पर उन्हें सहज नहीं समझा जाता है। उदाहरणार्थ सूर्य, अग्नि, ताप इत्यादि का प्रत्यय सभी लोगों में है और फिर भी उन्हें सहज नहीं माना जाता है।

अन्त में यदि सहजात प्रत्ययों के समर्थक कहें कि सहज प्रत्यय अस्फुट (implicit) रूप में रहते हैं और कालान्तर में ये स्पष्ट हो जाते हैं तो सहज

---

* It seems "to me near a contradiction to say, a notion is imprinted on the mind, and yet at the same time to say that the mind is ignorant of it."

प्रत्ययों की विशेषता जाती रहती है क्योंकि यही बात तो सभी प्रत्ययों में लागू होती है कि कालान्तर में वे सभी स्पष्ट हो जाते हैं। लॉक का कहना है कि उन्होंने सहज प्रत्यय का खण्डन अवश्य किया है, पर ज्ञान प्राप्त करने की सहज शक्ति (innate powers) का खण्डन कहीं नहीं किया है (*) अतः, मेण्डक या उभयतोपाश (dilemma) के रूप में लौक ने अपने मत को इस प्रकार रखा है- 'Either the theory signifies that certain ideas and principles are explicitly present from the earliest period of consciousness, or it merely asserts the existence of a general capacity for knowledge. In the former case it is admittedly false. In the latter case it is totally unable to support the theory of certainty which has been reared upon it.

प्रत्ययों का उद्भव और रचना (Formation)

यदि प्रत्यय सहजात नहीं हैं तो हमें देखना है कि हम उन्हें किस प्रकार प्राप्त करते हैं। अब 'अर्जन-विधि' (The method of acquiring) अर्थात् किस प्रकार से प्रत्यय हमारे अन्दर उत्पन्न होते हैं, कई प्रकार से समझी जा सकती हैं। प्रत्यय के उद्भव (origin) के ये अर्थ लगाये जा सकते हैं:—

(क) प्रत्ययों का विकासात्मक इतिहास और वास्तव में लॉक ने अपनी विधि को 'सरल ऐतिहासिक विधि (Plain historical method) कहा है।

(ख) प्रत्ययों के उद्भव का अर्थ यह हो सकता है कि उन कारणों को हम खोज निकालें जिनसे प्रत्यय उत्पन्न होते हैं, अर्थात् कुर्सी, मेज, नदी-पहाड़ आदि जो स्वयं प्रत्यय नहीं हैं, पर जो प्रत्ययों को हमारे अन्दर उत्पन्न करते हैं।

(ग) फिर 'प्रत्ययों' से अर्थ मूलधारणाओं से भी लिया जा सकता हैं जिनसे सभी ज्ञान निर्मित होता है। इन्हें पदार्थ (categories) कहा गया हैं।

हम देखते हैं कि ज्ञान-मीमाँसा का सम्बन्ध विशेषतया मूलधारणाओं से रहता है जो अनुभूति के साथ सक्रिय (active) हुआ करती हैं। चूँकि ये अनुभूति के साथही सक्रिय होती हैं, इसलिए इन्हें अनुभवजन्य अर्थात इन्द्रिय-

---

*इस सम्बन्ध में लौक की उक्ति हैं: I think nobody who reads my book can doubt that I spoke only of innate *ideas* and not of innate *powers*."

जन्य नहीं कहा जा सकता है। अनुभव केवल अवसरमात्र प्रदान करता है जिसमें वे सक्रिय हो सकें। कमल पंकज अवश्य है, पर पंकिल नहीं है। उसी प्रकार मूलधारणायें (categories) अनुभव के होने के साथ जागृत होकर ही अनुभव को सम्बद्ध करती हैं पर वे स्वयं अनुभवजन्य नही हैं। यहाँ जैसा हम पहले ही कह चुके हैं, अनुभव का अर्थ है 'इन्द्रिय अनुभव'। 'चूंकि लॉक ने मनोवैज्ञानिक तथा तार्किक गवेषणा को एकसाथ मिला दिया है, इसलिए यह दोषपूर्ण हो गयी है, परन्तु इनका अभिप्राय अवश्य था कि वे उन आधारों को स्पष्ट कर दें जिनसेअ संदिग्ध ज्ञान उत्पन्न होता है।

अब तक हमलोगों ने देखा है कि कोई भी प्रत्यय सहजात नहीं है। सभी प्रत्यय अनुभव के द्वारा हमारे अन्दर उत्पन्न होते हैं। जन्म के समय मानव मन सफेद कागज या कोरी पट्टी के समान साफ रहता है और सभी ज्ञान के अक्षर धीरे-धीरे अनुभव के द्वारा उस पर अंकित हो जाते है (*)। अनुभव के दो रूप हैं अर्थात सम्वेदन (Sensation) और आत्म-चिन्तन (reflection)। सम्वेदना और आत्म-चिन्तन दो ही खिड़कियां हैं जिनसे मन-कूप में ज्ञान-रश्मियाँ आती है और अन्त में जो कुछ भी ज्ञान के अन्तर्गत हो उसे अनुभव के इन्ही दो रूपों के द्वारा किये गये प्रत्यय से स्पष्ट करना चाहिए*: All those sublime thoughts which tower above the clouds and reach as high as heaven itself, take their rise and footing here : in all that great extent wherein the mind wanders, in those remote speculations it may seem to be elevated with, it stirs not one jot beyond those ideas which sense or reflection has offered for its contemplation."

1. 24) इसलिए हमें सम्वेदना और आत्म-चिन्तन के स्वरुप को स्पष्ट करना चाहिए।

सम्वेदनाः—शारीरिक इन्द्रियों के भौतिक पदार्थ से प्रवाहित होने पर सम्वेदना उत्पन्न होती हैं। भौतिक पदार्थ शारीरिक इन्द्रियों को उद्दीप्त करता है और यह प्रक्षोभन (excitation) मस्तिष्क (brain) में पहुंचकर

---

* D. J. O 'Connor, John Locke, P. 31.

†Mind at birth is a clean slate or tabula rasa and all the characters of knowledge are aquired through experience.
BK. II. 1·24

सम्वेदना उत्पन्न करता है। शारीरिक प्रक्षोभन किस प्रकार से चेतना उत्पन्न करता है यह लॉक के अनुसार बुद्धिगम्य (intelligible) नहीं मालूम देता है, पर ऐसा होना निर्विवाद है। फिर लॉक वस्तुवादी थे और उनके अनुसार लाल, पीली वस्तु की अवश्य स्वतन्त्र सत्ता हैं और हमारी सम्वेदनाएँ इनका नकल हैं या इनका प्रतिनिधित्व करती हैं।

आत्म-चिन्तन (Reflection):—जिस प्रकार से बाह्य वस्तुओं का ज्ञान सम्वेदनाओं से उत्पन्न होता है उसी तरह आभ्यन्तरिक (internal) दशाओं का ज्ञान आत्म चिन्तन के आधार पर होता है। इसे आधुनिक मनोवैज्ञानिक भाषा में आत्मनिरीक्षण (introspection) कहा जा सकता है और इसके आधार पर हमें अपने अन्दर भय, क्रोध, सुख-दुख इत्यादि अवस्थाओं का ज्ञान होता है। सम्वेदनाओं से मिलान करने पर आत्म-चिन्तन की दो विशेषताएँ स्पष्ट मालूम देतीं हैं।

(क) सम्वेदनाएँ बाह्य वस्तुओं के प्रतिरूप हैं, परन्तु बिना किसी प्रतिरूप के आत्म-चिंतन के द्वारा सुख-दु:ख या भय-क्रोध का हमें साक्षात् (direct) ज्ञान प्राप्त होता है।

(ख) साधारण सम्वेदनाओं को भी सम्भव बनाने में अवधान (attention) की आवश्यकता पड़ जाती है। पर आत्म-चिंतन में अवधान की और अधिक आवश्यकता पड़ जाती है।

सरल प्रत्यय :—जो भावनाएँ सम्वेदनाओं तथा आत्म-चिंतन से मिलती हैं उन्हें सरल प्रत्यय कहा जाता है। लौक के समय की विज्ञान धारा यन्त्रवादी थी और यन्त्रवाद का सिद्धांत है कि 'सम्पूर्ण' की व्याख्या उसके अवयव या अंश के आधार पर की जा सकती है। यही कारण है कि मानसिक प्रक्रियाओं को स्पष्ट करने के लिए लौक ने सरल प्रत्ययों को खोज निकाला है। सरल प्रत्ययों को लौक ने निश्चय निरवयव अथवा अनविश्लिष्टय (unanalysable) बताया है वही आगे चलकर अनुभववाद में sense-datum के रूप में रसेल, मूर इत्यादि विचारकों में देखा जाता है। परन्तु लौक ने विस्तार (extension तथा काल-तारतम्य (duration) को भी प्रत्यय कहा है जो वास्तव में निरवयव (partless) नहीं कहे जा सकते हैं।

निरवयव के अतिरिक्त लौक ने सरल प्रत्यय के दो लक्षण बताये हैं।

(क) जब मन निष्क्रिय रूप से प्रत्ययों का ग्रहण करता है तब वे 'सरल' कहे जाते हैं; जब मन सक्रिय हो जाता है तब जटिल (complex) प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

(ख) सरल प्रत्यय साक्षात् रूप से हम जानते हैं, जैसे, लाल-पीला, गरम-ठंढा आदि का ज्ञान हमें साक्षात् होता है। यह ठीक है कि वस्तु जिससे सरल प्रत्यय उत्पन्न होते हैं अनेक सम्वेदित (sensed) गुणों से युक्त हो सकती है पर एक-एक करके ही हमें सरल प्रत्यय प्राप्त होते हैं।

काण्ट तथा अनुकाण्टीय विचारकों ने स्पष्ट कर दिखाया है कि बिना मन के योगदान के सरल प्रत्यय या sense-datum सफल नहीं होता है। मन रचनात्मक है और वह सम्वेदित प्रदान (sense-datum) को सरल ज्ञान में परिणित कर देता है। लौक ने भी मन की रचनात्मक है शक्ति का उल्लेख

क्रिया है, पर सरल प्रत्ययों के सम्बन्ध में मन निष्क्रिय (passive) माना हैं। शायद उनका मत था कि यदि हम मन को रचनात्मक मान लें तो ज्ञान को विश्वसनीय समझने में आपत्ति हो जायगी, क्योंकि तब ज्ञान काल्पनिक रचना के समान हो जायगा।

जटिल (Complex) प्रत्यय

लॉक के अनुसार जब हमें सरल प्रत्यय प्राप्त हो जाते हैं तब मन सक्रिय होकर उन्हें असंख्य विधेयों से जोड़कर जटिल प्रत्यय बना सकता है। जोड़ना या मिश्रण करना (compounding) वह मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा संवेदना तथा आत्मचिन्तन से प्राप्त सरल प्रत्ययों को एकसाथ सजाकर जटिल प्रत्यय बनाया जाता है। परन्तु मिश्रण में हम केवल सरल प्रत्ययों को एकत्रित ही नहीं करते, पर उसमें एकत्त्व (unity) भी पैदा करते हैं। उदाहरणार्थ, पीले, सुगन्ध, चिकने इत्यादि के सरल प्रत्ययों को जोड़कर हमें आम का जटिल प्रत्यय मिलता है, और यहाँ आम में एकत्त्व है। यौगिक (compound) जटिल प्रत्यय में 'एकत्त्व' वह धारणा आ गयी है जो न तो सरल प्रत्यय में थी और न मिश्रण-प्रक्रिया में थी। यह वास्तव में जटिल प्रत्ययों की रचना में मन की अपनी विशेष देन है। फिर मिश्रण के अतिरिक्त लॉक को तुलन (comparing) और अमूर्त्त बोधन (abstraction) नामक दो मानसिक प्रक्रियाओं को भी स्वीकार करना पड़ा। तुलना करना या तुलन वह मानसिक प्रक्रिया है जिसमें हम दो प्रत्ययों को (चाहे वे सरल हों या जटिल) एक साथ ऐसा अपने सामने रखते हैं कि बिना उन्हें मिलाये हुए हम उन्हें एक साथ देख सकें प्रत्ययों को एक दूसरे से मिलान करने पर हम उनके बीच के सम्बन्ध को जान लेते हैं, जैसे एक प्रत्यय दूसरे के पहले या बाद आता है या एक प्रत्यय दूसरे के समान या भिन्न है, इत्यादि। अब न तो एकत्त्व और न प्रत्ययों के बीच समानता (similarity) तथा विभिन्नता (difference) संवेदित धर्म हैं। यदि यह सत्य हो तो लौक का कहना कि ज्ञान में ऐसी कोई बात नहीं जो संवेदित नहीं है, सत्य नहीं ठहरती है। अतः, लौक ने एकत्त्व, समानता, विभिन्नता इत्यादि स्वीकार कर अपने अनुभववाद के सिद्धान्त को स्वयं अधरा सिद्ध कर दिया है।

फिर मिश्रण, तुलन के अतिरिक्त अमूर्त्त बोधन की भी प्रक्रिया है और लौक ने ठीक ही कहा है कि वैज्ञानिक ज्ञान में अमत्त बोधन विशेष रूप से पाया जाता है। अमूर्त्त बोधन से हमें सामान्य (general) प्रत्यय मिलता

है जो वैज्ञानिक ज्ञान का आधार है। पर यह भी स्पष्ट है है कि अनुभव से हमें केवल मूर्त्त (concrete) और विशेष वस्तुओं ही का ज्ञान मिल सकता है और अमूर्त्त बोधन से प्राप्त सामान्य प्रत्ययों को ज्ञान में विशेष स्थान देकर लौक ने अपने को असंगत (inconsistent) अनुभववादी बना दिया है। लौक के अनुसार अमूर्त्त बोधन में दो प्रक्रियाएँ पायी जाती हैं :—

(क) पहली बात है कि वह लक्षण जिसे हमें सामान्य बनाना है, हमें अकेले ही अन्य धर्मों-से अलग कर देखना चाहिए, और

(ख) फिर इस पृथक्कृत (isolated) लक्षण को उस प्रकार के सभी गुणों का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता होनी चाहिए।

उदाहरणार्थ, यदि हमें त्रिभुज का सामान्य प्रत्यय बनाना हो तो हमें किसी भी त्रिभुज विशेष के आकार, रंग, क्षेत्र इत्यादि की अवहेलना कर केवल उसके त्रिभुजाकार पर ध्यान देना चाहिए। फिर इस त्रिभुजाकारपन को सभी त्रिभुजों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। सामान्य प्रत्यय की विशेषता किसी गुण के पृथक्करण में नहीं; पर इसके प्रतिनिधित्व करने की क्षमता में पायी जाती है। बर्कले ने गलत समझा था कि लौक का सामान्य प्रत्यय से अर्थ किसी प्रतिमा विशेष (image) से था। वास्तव में लौक सामान्य प्रत्यय को न तो कोई प्रतिमा ही समझते थे और न प्रतिमाओं का योग ही मानते थे। बर्कले की इस गलती को हम उनके प्रतिमा बोध तथा सामान्य प्रत्यय के खण्डन के सम्बन्ध में देखेंगे।

जटिल प्रत्ययों का विभाजन :—संयोजन (compounding), वियोजन (de-compoudinng), तुलन तथा अमूर्त्त बोधन के आधार पर जो जटिल प्रत्यय प्राप्त होते हैं उन्हें हम तीन वर्गों में बाँट सकते हैं; अर्थात् (१) प्रकार(modes), (२) द्रव्य(substance) और (३) सम्बन्ध (relations)। हम इनकी अब अलग-अलग संक्षिप्त व्याख्या करेंगे।

प्रकार :—ये वे यौगिक (compound) प्रत्यय हैं जो सरल प्रत्ययों के जोड़ने से बनते हैं, परन्तु सरल प्रत्ययों को हम कितना ही अधिक संघटित कर क्यों न जोड़े, उनमें यौगिक प्रत्ययों की स्वतंत्र सत्ता नहीं देखने में आती हैं। प्रकार वे हैं जो द्रव्य पर निर्भर रहें और जो द्रव्य से स्वतंत्र रहकर

वास्तविक न हों। लौक के प्रकार के सम्बन्ध का मत बहुत कुछ स्पिनोजा के मत की छाया है। लौक के अनुसार संख्या (number), काल-प्रक्रिया (duration), कृतज्ञता (gratitude) इत्यादि प्रकार के उदाहरण हैं। लौक के अनुसार प्रकार की रचना में मन अनेक सरल प्रत्ययों को जोड़कर एक जटिल प्रत्यय बनाकर उसे कोई एक नाम देकर स्थिर या स्थायी कर लेता है।

प्रकार भी दो तरह के हैं, अर्थात् (क) सरल और (ख) मिश्रित (mixed)। अब यदि एक ही तरह के सरल प्रत्ययों से प्रकार बने हों तो उन्हें सरल कहते हैं और यदि प्रकार भिन्न तरह के सरल प्रत्ययों से बने, तो हम उसे मिश्रित कहते हैं। 'सुन्दरता' मिश्रित प्रकार का उदाहरण है क्योंकि इसमें रूप, आकार, रंग, मोहकता इत्यादि सरल प्रत्ययों का योग है। मिश्रित प्रकार की रचना में हमें ध्यान रखना चाहिए कि असंगत प्रत्यय एक साथ न जुट जाएँ।

एक ही तरह के सरल प्रत्ययों के विभिन्न योग को सरल प्रकार कहते हैं (*)। इसे संख्याओं के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। यदि हम संख्या की इकाइयों को जोड़ते जाएं तो बड़ी संख्या बन जायगी। परन्तु इस रीति से हम कितनी ही बड़ी संख्या क्यों न बनाएं, हम जानते हैं कि एकाइयों को यदि हम जोड़ते जायँ तो बड़ी-से-बड़ी संख्या बनती जायगी और इस तरह से किसी भी संख्या को परिमित (limited) नहीं समझा जा सकता है। अतः, हम समझते हैं कि संख्यायें अपरिमित (infinite) हैं। इसलिए अपरिमित प्रत्यय (infinite idea) की धारणा अभावात्मक (negative) है, न कि भावात्मक। यहाँ पर देकार्त और लौक एक दूसरे के विरोधी मत रखते हुए दिखाई देते हैं।

द्रव्य (substance) :—प्रकार-सिद्धांत की अपेक्षा द्रव्य तथा सम्बन्ध के प्रति लौक का सिद्धांत अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इन सिद्धान्तों में अनुभववाद का संशयवाद (scepticism) अस्फुट रूप में पाया जाता है जिसे आगे चलकर बर्कले तथा ह्यूम ने चरम सीमा तक पहुँचाया है।

---

* Simple modes are 'Variations or different combinations of the same simple idea' without the mexture of any other.

द्रव्य के सम्बन्ध में लौक का विचार स्पष्ट नहीं दीखता है क्योंकि उन्होंने इस प्रसंग में मनोवैज्ञानिक, तार्किक (logical) तथा तात्त्विक (meta physical) भेदों के बीच अन्तर नहीं किया है। सामान्य रूप से बोध होता है कि द्रव्य आलम्बन या सहारा (support) है जो अनेक सरल प्रत्ययों को आश्रय देता है। उदाहरणार्थ, मीठे, सुगन्ध, गोलाकार, रंग इत्यादि प्रत्ययों का एक आलम्बन है जिसे हम सेव के नाम से पुकारते हैं। यहाँ लौक का कहना है कि मीठा, सुगन्धित, गोलाकर इत्यादि गुण अपने से नहीं रह सकते हैं। उन्हें आलम्बन को आवश्यकता हो जाती है ताकि वे उसमें निहित हों। यहाँ पर दो प्रश्न उठते हैं। पहली बात यह है कि स्वयं सरल प्रत्ययों में द्रव्य-प्रत्यय नहीं पाया जाता है, पर इसके आधार पर सरल प्रत्ययों को व्यवस्थित किया जाता है। अतः, द्रव्य प्रत्यय मन की अपनी देन है जिसे संवेदना तथा आत्मचिन्तन के आधार पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। इसलिए लौक का वह अनुभववाद जिसके अनुसार ज्ञान में सरल प्रत्ययों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, असंगत ठहरता है। दूसरी बात है कि लौक के अनुसार द्रव्य-धारणा विचारों की बाध्यता पर निर्भर करती है। हम सोच ही नहीं सकते हैं कि बिना द्रव्य-नामक आलम्बन के गुण स्वतंत्र रीति से वास्तविक हो सकते हैं (*)। इसलिए हम बाध्य हो जाते हैं कि हम गुणों को द्रव्य-धारणा के आधार पर व्यवस्थित कर दें। पर यह बाध्यता (necessity) दो प्रकार की हो सकती है, मनोवैज्ञाकि और तार्किक। मनोवैज्ञानिक बाध्यता मानसिक आदत पर निर्भर करती है। बहुत कुछ ह्यूम के समान लौक कहते हैं कि जब हम बहुत से सरल प्रत्ययों को बहुत बार एक साथ पाते हैं तो हमारे अन्दर आदत सी हो जाती है कि हम उन्हें किसी आलम्बन या आश्रय में सूत्रबद्ध समझें। परन्तु 'आदत या टेव' किसी प्रतिक्रिया को पुष्ट कर सकती है, न कि किसी नयी प्रतिक्रिया की रचना कर सकती है। यदि सरल प्रत्ययों में द्रव्य-धारणा हो ही नहीं, तो पचासों बार सरल प्रत्ययों को एक साथ देखकर भी हम में इस नयी धारणा की रचना नहीं हो सकती है।

---

*लौक की युक्ति है कि idea of substance is 'obscure and relative', "being nothing but the supposed but unknown support of those qualities we find existing, which we imagine cannot subsist *sine re substantes* without something to support them".

परन्तु शायद लौक बताना चाहते थे कि सभी प्रकार के पदार्थों के सम्बन्ध में विचारने में कुछ ऐसी मूलधारणायें (categories) हैं जिनकी मदद लेनी अनिवार्य हो जाती है। इस दृष्टिकोण से द्रव्य-धारणा तार्किक प्रत्यय हो जाती है। परन्तु मूलधारणा तो संवेदना तथा आत्मचिन्तन से प्राप्त नहीं हो सकती है, पर उससे प्राप्त सरल प्रत्ययों को सूत्रबद्ध तथा व्यवस्थित करने के लिए मन अपनी रचनात्मक शक्ति के कारण मूलधारणा को काम में लाता है। अतः, मूलधारणा सरल प्रत्यय नहीं है, पर सरल प्रत्यय को अनुभव में संभव होने के लिए ही मूलधारणाओं की मदद लेनी पड़ती है। इसलिए यदि हम मूलधारणा को सरल प्रत्यय समझकर संवेदना तथा आत्मचिन्तन के आधार पर स्पष्ट करना चाहें तो यह संभव नहीं हो पाता है। यही बात लौक की द्रव्य-धारणा के सम्बन्ध में हम पाते हैं। लौक की द्रव्य-धारणा न तो संवेदना और न आत्मचिन्तन से प्राप्त मालूम देती है और इसलिए तार्किक दृष्टि-कोण से लौक को द्रव्य-धारणा अज्ञात मालूम देती है (It is an unknown substratum or I-know-not-what)। परन्तु यदि द्रव्य अज्ञात प्रत्यय हो और अनुभवातीत हो, तो किस प्रकार अनुभववादी इसे स्वीकार कर सकता है? अतः, द्रव्य-धारणा को अज्ञात मानकर लौक असंगत अनुभववादी हो गये हैं। फिर यदि द्रव्य का स्वरूप अज्ञात हो तो न हम भौतिक पदार्थ को और न आत्मिक पदार्थ को जान सकते हैं; और इसलिए लौक के दर्शन में संशयवाद अस्फुट (implicit) या गुप्त रीति से पाया जाता है। परन्तु वास्तव में लौक संशयवादी नहीं थे और इसलिए द्रव्य-विवेचन में उन्होंने तात्त्विक दृष्टिकोण की भी मदद ली है।

लौक को द्रव्य को तात्त्विक सत् इसलिए मानना पड़ा कि यदि द्रव्य अज्ञात हो तो ईश्वर भी अज्ञात और अज्ञेय हो जाता है। लौक ईश्वरवादी थे और ईश्वर को वे अज्ञात नहीं मान सकते थे। इसलिए धर्म-चर्चा के सम्बन्ध में उन्होंने बताया है कि द्रव्य-विवेचन में प्रत्यय (idea) और सत् (being) दोनों आते हैं। द्रव्य का अज्ञातपन इसके प्रत्यय से सम्बन्ध रखता है, पर द्रव्यात्मक सत्ता का अनस्तित्व नहीं माना जा सकता है। इस अर्थ में लौक पुद्गल या भौतिक पदार्थ (matter), मन तथा ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं और साथ-ही-साथ इनके सम्बन्ध का ज्ञान भी संभव समझते हैं। तत्त्वमीमांसी दृष्टिकोण से द्रव्य वह है जो सभी परिवर्त्तनों के रहने पर भी स्थायी रहे। इसी अर्थ में देकार्त, स्पिनोजा तथा लाइबनित्स ने 'द्रव्य' को समझा था और

वैज्ञानिक भी पुद्गल के सम्बन्ध में इसी अर्थ को काम में लाते हैं। वैज्ञानिक के अनुसार भौतिक जगत् की सभी वस्तुओं के नाश हो जाने पर भी इसका अणु (atom) स्थायी तथा अक्षुण्ण रहता है। फिर वे मानते हैं कि पदार्थ ज्ञेय होता है। अतः, लौक इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए समझते हैं कि द्रव्य है और बहुत कुछ यह ज्ञात भी है। यह बात लौक के भौतिक पदार्थ के सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाती है। अतः लौक के विचारों में द्रव्यधारणा तार्किक और तात्त्विक दृष्टिकोण से आत्म-विरोधी दिखाई देती है।

पुद्गल अथवा भौतिक पदार्थ:—भौतिक पदार्थ का सारगुण देकार्त के अनुसार विस्तार (extension) है, परन्तु लौक इस मत का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार भौतिक पदार्थ का सारगुण, ठोसपन (solidity) है और यह इसलिए है कि भौतिक पदार्थ अभेद्य अणुओं के योग से बना है। इन अणुओं को लौक ने अतीन्द्रिय (insensible) कहा है और यद्यपि लौक के वैज्ञानिक युग के अनुसार यह सही कहा जा सकता है तो भी इससे लौक का अनुभववाद असंगत हो जाता है।

फिर लौक के अनुसार पुद्गलों में दो प्रकार के गुण हैं, अर्थात् प्राथमिक (primary) और अप्राथमिक (secondary) या गौण गुण। छः प्राथमिक गुण हैं, अर्थात् ठोसपन, विस्तार, आकार, गति, विश्राम या स्थिति (rest) और संख्या (number)। प्राथमिक गुण वास्तव में भौतिक पदार्थ में हैं और इन्हीं प्राथमिक गुणों के कारण गौण गुण हम में उत्पन्न होते हैं। फिर चूंकि लौक प्रतिरूपात्मक सिद्धान्त (copy theory) को असाक्षात् रीति से मानते हैं, इसलिए इनके अनुसार प्राथमिक गुणों की सही-सहा नकल हमारे ज्ञान में पायी जाती है। इन दोनों में गौण-गुण प्राथमिक गुण से भिन्न हैं। रंग, स्वाद, ध्वनि इत्यादि गौण गुण हैं। ये वास्तव में भौतिक वस्तुओं में नहीं पाऐ जाते हैं, परन्तु ये पूर्णतया विषयी (subjects) पर निर्भर करते हैं। यदि मानव में आँख न हो तो रंग का गुण न होगा और यदि कान न हो तो ध्वनि न होगी। इसी रीति से सभी गौण गुण मानवों की इन्द्रियों पर निर्भर करते हैं। फिर गौण गुण सापेक्ष (relative) हैं क्योंकि एक ही प्रकार का गौण गुण व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न मालूम देता है। यहां पर लौक ने उदाहरण दिया है कि यदि किसी वर्त्तन में हम गरम पानी रख दें और फिर दाहिने हाथ को इसमें थोड़ी देर तक डाले रहें तो दाहिने हाथ के लिए पानी सुसम देगा। पर यदि हम

एकाएक बायाँ हाथ इसमें डालें तो यह गरम प्रतीत होगा । अब यदि जल का ताप वास्तव में जल में रहता तो यह दोनों हाथों के लिए एक समान होता । पर ऐसी बात नहीं देखने में आती है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि गौण गुण इन्द्रियों पर निर्भर करते हैं । पर यदि गौण गुण इन्द्रियों पर निर्भर करते हैं तो भी उनका कोई वास्तविक आधार है और यह है प्राथमिक गुग । ठोसपन, विस्तार इत्यादि का प्रभाव हमारी इन्द्रियों पर पड़ता और तब हमार अन्दर गौण गुण उत्पन्न होते हैं ।

अत:, भौतिक पदार्थों के गुण-विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थ को अज्ञात नहीं समझा जा सकता है ।

मन-विवेचन:—जिस प्रकार बाह्य भौतिक पदार्थों को हम संवेदनाओं के के आधार पर जानते हैं, उसी प्रकार से आत्मचिन्तन (reflection) के द्वारा हम मन के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं। आत्मचिन्तन के आधार पर हम जानते हैं कि वस्तु सम्वेदन (perceiving), स्मरण-प्रक्रिया, विचारना, संकल्प करना इत्यादि मन के गुण हैं । लौक के अनुसार मन के दो प्राथमिक गुण हैं, अर्थात् (क) विचार और (ख) संकल्प के द्वारा शारीरिक व्यापार को उत्पन्न करने की क्षमता । इन दोनों गुणों में अज्ञात आलम्बन (unknown substratum) के प्रत्यय को जोड़कर हम मन की धारणा स्थापित करते हैं (*)। अत:, लौक के अनुसार पदार्थों के समान हम गुणों को तो जानते हैं, परन्तु उसके द्रव्य-सम्बन्धी (concerning substantial nature) स्वरूप को नहीं जानते हैं । परन्तु क्या गुण और द्रव्य के बीच ऐसे भेद का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है कि हम गुण को जानें इसके आलम्बन द्रव्य को न जानें ? द्रव्य और गुण के बीच अवियोज्य (inseparable) सम्बन्ध है और वास्तव में द्रव्य बिना गुण के सम्भव नहीं होता है । अत:, जब हम गुग को जानते हैं तो उसी परिमाण में

(*) भौतिक तथा आत्मिक द्रव्यों के बीच अन्तर को स्थापित करते हुए लौक ने इस प्रकार लिखा है: 'The one is as clear and distinct an idea as the other, the idea of thinking and moving a body being are as clear and distinct ideas as the ideas of extension, solidity and being moved. For our ideas of substance is equally obscure, or none at all, in both, it is but a supposed I-know not, what to support those ideas we call accibents.' (Essays BK 11. 23. 15)

हम द्रव्य को भी जानते हैं। अतः, द्रव्य और गुण को एकदम एक दूसरे से अलग करके लौक ने गलत समस्या हमारे सामने रख दी है।

फिर लौक ने असंगत रूप से यह भी बताया है कि हम अपने मन या आत्मा को साक्षात् रीति से सहज ज्ञान या प्रतिभान (intuition) के द्वारा जानते हैं और इस प्रकार के ज्ञान को स्पष्ट तथा परिस्पष्ट (*) कहा है। अतः यहाँ भी हम देखते हैं कि लौक ने द्रव्य प्रत्यय को दो भिन्न-भिन्न रूप में काम में लाया है अर्थात् तार्किक और तात्विक(metaphysical)। अब तार्किक द्रव्य-विचार के दृष्टिकोण से द्रव्य अज्ञात है, पर तात्विक दृष्टिकोण से यह ज्ञात रहता है। चूँकि लौक ने अपने इन दो मतों को स्पष्ट नहीं किया है, इसलिए वे द्रव्य सम्बन्धी मीमांसा में असंगत हो गये हैं और यह बात उनके ईश्वर-विवेचन में भी स्पष्ट रीति से पायी जाती है।

ईश्वर-विचारः—ईश्वर के सम्बन्ध में लौक इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं कि ईश्वर अज्ञात या अज्ञेय हैं। ईश्वर के प्रति लौक का मत है कि ईश्वर ज्ञात हैं और इस प्रकार के ज्ञान को असंदिग्ध समझना चाहिए (*)। ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान को लौक ने प्रदर्शनात्मक (demonstrative) या निर्देशात्मक कहा है। ईश्वर के गुण के विषय में लौक ने बताया है कि ईश्वर में

---

*"As for our own existence; we perceive it so plainly and so certainly, that it neither needs nor is capable of any proof. For nothing can be more evident to us than our own existence ——Experience then convinces us that we have an *infinite knowledge* of our own existence and an internal infallible perception that we are. In our act of sensation, reasoning, our thinking we are conscious to ourselves of our being and in this matter, come not short of the highest degree of certainty." (Essays B K. IV. 9.3.)

*"Thus from the consideration of ourselves and what we infallibly find in our constitutions our reason leads us to the knowledge of this certain and evident truth, that there is an eternal, most powerful and most knowing Being; which whether any one pleases to call God, it matters not", (Essays Part, IV 10. 6)

वे सब गुण पाये जाते हैं जो हम आत्मचिन्तन के आधार पर अभीष्ठ समझते हैं। परन्तु ये सब गुण ईश्वर में अपरिमित रीति से पाये जाते हैं।

कारण-कार्य का सम्बन्ध:—लौक ने बताया है कि सभी सरल प्रत्ययों में चाहे वे सम्वेदन के द्वारा या आत्मचिन्तन के आधार पर प्राप्त हों, परिवर्त्तनशीलता देखने में आती है। इन सभी घटनाओं को हम बिना कारण कार्य के सम्बन्ध को काम में लाये हुए नहीं समझ सकते हैं। इसलिए लौक के अनुसार जहाँ किसी भी घटना का आरम्भ हो, वहीं उसका कारण भी अवश्य होगा; Everything that has a beginning must have a cause. अब उत्पादक (producer) को कारण और उत्पादित (produced) को कार्य कहा जा सकता है। परन्तु जहाँ हम उत्पादक उत्पादित के सम्बन्ध पर ध्यान देते हैं वहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्पादक में ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वह कार्य उत्पन्न करता है। इसलिए प्रश्न उठता है कि क्या हम ऐसी किसी शक्ति की अनुभूति करते हैं जिससे हम कह सकें कि अमुक कारण (क) से अमुक कार्य (ख) में परिवर्त्तन होता हैं ? अब लौक का कहना है कि बाह्य वस्तुओं के परिवर्त्तन में हम उत्पादक और उत्पादित के बीच किस शक्ति को नहीं देखते हैं। हम केवल उनके बीच के पूर्वापर (successive) सम्बन्ध-मात्र को ही देखते हैं (*)। यदि ऐसी बात हो तो लौक को स्वीकार नहीं करना चाहिए कि कारण में उत्पादक शक्ति (power) है जिससे कार्य उत्पन्न होता है। परन्तु लौक यहाँ भी असंगत अनुभववादी सिद्ध होते हैं।

अब लौक का कहना है कि बाह्य वस्तुओं में तो हम उत्पादक शक्ति नहीं देखते हैं, परन्तु इसे हम अपनी इच्छात्मक या संकल्पात्मक प्रक्रियाओं (volun-

---

यहाँ लौक बिलिअर्ड के बौल की उपमा देते हैं। यदि बिलिअर्ड के एक बौल में धक्का दिया जाय तो बौल दूसरे बौल से टक्कर मारकर उसमें गति उत्पन्न कर देता है, पर क्या उसमें हम उत्पादक शक्ति को पाते हैं? Also when by impulse it sets another ball in motion it had received from another, and loses in itself so much as the other received; which gives us but a very obscure idea of an *active* power moving in a body, whilst we observe it only to *transfer* but not *produce* any motion BK. 11. 21. 4) यहाँ इसी बात को ह्यूम ने और अधिक स्पष्ट की है जिसे हम आगे चलकर देखेंगे।

tary actions, में अवश्य देखते हैं (*) और इसी अनुभूति के आधार पर हम कह सकते हैं कि सभी घटनाएँ किसी न किसी उत्पादक शक्ति के आधार पर संभव होती हैं। परन्तु यहाँ लौक की उक्ति (argument) ठीक नहीं है। संकल्पात्मक प्रक्रिया में शरीर-मन का (psycho-physical) सम्बन्ध है और जो बात यहाँ सत्य होगी उसे कैसे कहा जाय कि वह शुद्ध भौतिक वस्तुओं में भी सही होगी ?

अतः, लौक का कारण-कार्य के प्रति विचार स्पष्ट नहीं था और उनका यह कहना है कि 'everything which has a beginning must have a cause' पूर्वानुभवजन्य (a priori) बात है जिसे उनके ऐसे अनुभव-वादियों को स्वीकार नहीं करना चाहिए।

ज्ञान-मीमांसा (Theory of knowledge)

लौक का उद्देश्य था कि वे ज्ञान के आदि या पूर्वरूप (original archetype) तथा उसकी असंदिग्धता और सीमा का अध्ययन करें। साथ ही साथ इस बात का भी निर्णय करें कि ज्ञान का क्या आधार है और फिर किन-किन मात्राओं (degrees) में किन-किन वस्तुओं या विषयों का ज्ञान हमें प्राप्त होता है (†)। फिर हमलोगों ने देखा है कि लौक अनुसार ज्ञान मतों (opinion) से भिन्न है और इसे असंदिग्धता तथा शिक्षाप्रद (instructive) होना चाहिए और वास्तविकता के साथ इसका मेल रहना चाहिए। अतः लौक की ज्ञान-मीमांसा में तीन मुख्य प्रश्न देखने में आते हैं।

(१) ज्ञान की असंदिग्धता (certainty) और संभाविता (probability) कसे स्थापित की जाती है ?

The idea of the *beginning* of motion we have only from reflection on what passes in ourselves when we find by experience that barely by wishing it barely by a thought of the mind, we can move the parts of our bodies, which, were before at rest," (BK. 11. 21. 4)

† लौक ने ज्ञान-मीमांसा के प्रति अपने उद्देश्य को इस प्रकार व्यक्त किया है। His purpose is to enquire into rhe origin, certainty and extent of *human knowledge* together with the ground and degrees of belief, opinion and assent.

(२) ज्ञान की वास्तविकता (reality) कैसे निर्धारित की जाय ?

(३) ज्ञान में किस प्रकार नवीनता रहने पर इसे शिक्षाप्रद समझा जाय ?

परन्तु इसके पहले कि हम तीनो प्रश्नों पर प्रकाश डालें हमें जानना चाहिए कि लौक के अनुसार ज्ञान का स्वरूप क्या था। उन्होंने ज्ञान की परिभाषा इस रीति से की है; प्रत्ययों के बीच संगति (agreement) या असंगति (disagreement) या विरोधिता (repugnance) के सम्बन्ध के प्रत्यक्ष को ज्ञान कहते हैं (*)। इस परिभाषा पर ध्यान देने से पहली बात तो यह मालूम देती है कि ज्ञानप्राप्ति में मन निष्क्रिय न रहकर सक्रिय रहता है क्योंकि स्वयं मन को देखना पड़ता है कि प्रत्ययों के बीच संगति है या नहीं। दूसरी बात है कि ज्ञान को सम्बन्धात्मक(relation)कहा गया है क्योंकि प्रत्ययों के बीच की संगति या असंगति के सम्बन्ध पर ज्ञान निर्भर करता है फिर लॉक ने ज्ञान की परिभाषा में केवल प्रत्ययों का ही उल्लेख किया है और वस्तुओं तथा प्रत्यय के बीच प्रतिरूपता या अनुरूपता इत्यादि के सम्बन्ध की अवहेलना की है। हम आगे चलकर देखेंगे कि वास्तव में लौक प्रत्ययवादी (idealist) नहीं थे क्योंकि ये प्रत्ययों को वस्तुओं का चिह्न (signs) समझते थे और इसलिए इनके ज्ञान में वस्तुवाद है। हाँ यह ठीक है कि इस बात को इन्होंने अपने ज्ञान की परिभाषा में स्पष्ट नहीं किया है। परन्तु यदि हम मान भी लें कि लौक वस्तुवादी थे तो भी इन्होंने प्रत्ययों के बीच ज्ञान को सीमित बनाकर अपने अनुभववाद को एकांगी बना लिया है। अब लौक के ज्ञान के स्वरुप के प्रति मत को जानकर हम इसके सम्बन्ध में उसकी मात्रा, वास्तविकता और शिक्षाप्रदता के प्रश्न पर विचार करेंगे।

(1) ज्ञान की असंदिग्धता की मात्रा (degrees)—सहज प्रत्यक्ष ज्ञान (intuitive knowledge) सबसे अधिक असंदिग्ध है। जहाँ हम दो प्रत्ययों के बीच संगति या असंगति साक्षात् रीति से देखते हैं उसे हम अन्तःप्रज्ञा कहते हैं (†)। जैसे सफेद काला नहीं है या तीन दो से अधिक है।

---

* Locke defines knowledge as "nothing but *the perception of the connetion of and agreement or disagreement and repugnancy of any of our ideas*. In this alone it consists." (BK-IV; 1. 2.)

†"Sometimes the mind perceives the agreement or disagreement of two ideas immediately by themselves, without the intervention of any other and this, I think, we my call intuitive knowledge".

ऐसा मालूम होता है कि लौक भी देकार्त, स्पिनोजा इत्यादि की भाँति गणित से प्रभावित हुए थे और चूँकि इसमें अनिवार्य तथा असंदिग्ध ज्ञान पाया जाता है, इसलिये समस्त ज्ञान को इसी आदर्श से प्रभावित होकर असंदिग्ध माना है। आगे चलकर हम देखेंगे कि ज्ञान को इस प्रकार मान लेने में कठिनाई पड़ जाती है।

सहज अन्तःप्रज्ञा के बाद निर्देशात्मक (demonstrative) या प्रदर्शनात्मक ज्ञान की बारी आती है। जब हम दो प्रत्ययों के बीच साक्षात् तुलना से सम्बन्ध नहीं देख पाते हैं तो हम अन्य प्रत्ययों के माध्यम से उन की तुलना की संगति या असंगति को खोज निकालते हैं. जैसे $A > B$ से; $B > C$ ∴ $A > C$ से। यहाँ हमें कई पग देखने में आते हैं, परन्तु प्रदर्शनात्मक ज्ञान को असंदिग्ध बनाये रखने के लिए प्रत्येक पग में सहज प्रत्यक्ष रहना चाहिए। प्रदर्शनात्मक ज्ञान असंदिग्ध अवश्य है, पर इनमें गलती की गुंजाइश है। पहली बात है कि ध्यान बंटने पर गलती हो जा सकती है। फिर जब तक हमें संदेह न हो तब तक हम नाना पगों के आधार पर प्रदर्शनात्मक प्रक्रिया नहीं दुहराते हैं। अतः, इसमें संदेह छिपे रूप में रह सकता है। अंत में प्रायः प्रदर्शनात्मक ज्ञान में अनेक पग रहते हैं और इसलिये पिछले पगों में अगले पगों की स्मृति रखनी पड़ती है और हम जानते हैं कि स्मृति से धोखा हो जाता है। इसलिए स्मृति पर आधरित रहने के कारण प्रदर्शनात्मक ज्ञान उतना असंदिग्ध नहीं समझा जा सकता है जितना अंतःप्रज्ञा होती है।

अब लौक की विशेषता है कि वे समझते थे कि गणितशास्त्र को छोड़ कर आचारशास्त्र तथा ईश्वर-विज्ञान (theology) में भी प्रदर्शनात्मक ज्ञान संभव हैं। परन्तु लोगों के अनुरोध करने पर भी आपने इस प्रकार की युक्तियों का उदाहरण हमारे सामने नहीं रखा है।

इन्द्रिय ज्ञान (Sensitive knowledge)—लौक ने ज्ञान को प्रत्ययों के बीच ही सीमित रखा है और प्रत्यय तो सार्वभौम (universal) ही हो सकते हैं। अतः, लौक की परिभाषा के अनुसार ज्ञान केवल सार्वभौम ही हो सकता है। अतः, लौक के विचारों में प्लेटोवाद की झलक मालूम देती है, परन्तु आप वास्तव में प्लेटोवादी न होकर अनुभववादी थे। परन्तु अनुभव के आधार पर केवल वस्तुविशेषों (Particulars) का ज्ञान संभव हो सकता है। इसलिये अनुभववादी लौक ने इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को भी एक प्रकार का ज्ञान

कहा है ताकि इसके आधार पर वस्तुविशेषों का ज्ञान प्राप्त हो सके (*)। परन्तु इन्द्रिय-जन्य ज्ञान में न तो अनिवार्यता है और न असंदिग्धता। अत: सचमुच में लौक की परिभाषा के अनुसार इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को ज्ञान समझना ही नहीं चाहिये, परन्तु फिर भी लौक इसे बिना 'ज्ञान' की संज्ञा दिये रह नहीं सके।

तो वास्तव में क्या लौक इतने अधिक आत्मविरोधी थे कि आँख मूँदकर प्रत्यय सम्बन्धी प्रत्यक्ष ज्ञान तथा प्रदर्शनात्मक ज्ञान और इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के बीच अन्तर समझकर भी सभी को 'ज्ञान' पुकारने लगे? बात यह नहीं थी। लौक अनेक स्थलों पर असंगत अनुभववादी अवश्य थे पर यहाँ पर वे असंगत नहीं हैं: वे बतलाना चाहते थे कि वास्तव में ज्ञान दो प्रकार का है, एक है सार्वभौम और यह प्रत्ययों में सीमित है; और दूसरा है वस्तुविशेषों का ज्ञान, पर यह संभवमात्र हैं · अव जहाँ अनिवार्य असंदिग्ध तथा सार्वभौम ज्ञान है वहाँ वस्तुविशेषों को वास्तविकता (existence) का ज्ञान नहीं मिल सकता है; और जहाँ वस्तु-विशेषों की वास्तविकता मिलती हैं वहाँ असंदिग्धता तथा सार्वभौमिकता नहीं मिल सकती है (†) लौक की इस उक्ति में ह्यूम का प्रसिद्ध निष्कर्ष झलकता है जिसकेअ नुसार केवल दो ही प्रकार के अर्थपूर्ण वाक्य संभव है अर्थात् वे जिनका सम्बन्ध संख्या की अमूर्तबोधित युक्तियों (abstract reasoning) से हैं और वे जिनका सम्बन्ध वास्तविक वस्तुओं से है। हम पाते हैं कि इन उक्तियों

---

* इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के सम्बन्ध में लौक ने इस प्रकार लिखा है There is, indeed, another perception of the mind, employed about *the particular existence of finite beings without us:* which going-beyond bare probability and yet not reaching perfectly to either of the foregoing degrees of certainty, passes under the name of knowledge (BK. IV· 2 . 14.)

† सार्वभौमिक तथा अंशव्यापी ज्ञान के बीच अन्तर करतें हुए लौक ने लिखा है ; Where, by the way, we may take notice, that universal propositions of whose truth-falsehood we can have certain knowledge , concern not existence : and further· that all particular affirmations . . . . . are only concerning existence; they declaring only the accidental union or separation of ideas in things existing · - . (BK. IV. 9. 1)

का प्रभाव वर्त्तमानकालिक तार्किक प्रत्यक्षवादियों (positivists) पर बहुत है। इसलिए लौक की देन यहाँ महत्त्वपूर्ण समझी जायगी।

ज्ञान की वास्तविकता : — अब जो बात इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को भी ज्ञान मान लेने में पायी जाती है वह बात ज्ञान की वास्तविकता के सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाती है। यदि हम ज्ञान को प्रत्ययों के बीच ही सीमित करें, तो हमारा ज्ञान वास्तविक वस्तुओं के प्रति किस प्रकार से सत्य होगा और विज्ञान तथा जीवन में हमें तो यथार्थ वस्तुओं से ही काम लेना है। स्वयं लौक ने इस प्रसग में लिखा है ;

"But of what use is all this fine knowledege of *men's own imaginations* to a man that inquires after the reality of things ? It matters not what men's fancies are, it is the knowledge of things that is only to be prized : it is this alone (which) gives a value to our reasonings, and preference to one man's knowledge over another's that it is of things as they really are and not of dreams and fancies'. (BK- 1V 1 ' 4.) अतः, यद्यपि लौक ने ज्ञान को प्रत्ययों के बीच ही सीमित रखा है तोभी उनका उद्देश्य यही था कि ज्ञान वास्तविक भी हो। ज्ञान को वे इसलिये वास्तविक समझते थे कि उनके अनुसार प्रत्यय वास्तविक वस्तुओं का चिह्न और उनका प्रतीक है और इसलिए यदि ज्ञान प्रत्ययों में संगत रूप से प्राप्त हो जाय तो असाक्षात् रीति से इस ज्ञान को वास्तविक भी समझा जा सकता है। परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि हम प्रत्ययों को ही साक्षात, रीति से जानें और उनके आदि रुप (original) को इस रीति से न जानें तो हम किस प्रकार से आदि रूप और प्रत्ययों के बीच की अनुरूपता (correspondence) या प्रतिरूपता (representation) को सही या गलत बता सकते हैं ? स्वयं लौक ने इस कठिनाई को हमारे सामने इस प्रकार रखा है ; "It is evident that the mind knows not things immediately but only by the intervention of the ideas it has of them. Our knowledge, therefore, is real only so far as there is a *Conformity* between our ideas and the reality of things. But what shall be here the criterion ? How

shall the mind, when it perceives nothing but its own ideas, know that they agree with things themselves ?" (BK· 1V. 4· 3) परन्तु लौक ने स्वयं इस आपत्ति का कोई समाधान नहीं किया है । उन्होंने केवल बताया है कि प्रत्ययों और वास्तविक वस्तुओं के बीच अनुरूपता अवश्य होनी चाहिए चाहे उनके बीच सादृश्य (resemblance) हो या न हो ।

अब सरल प्रत्ययों की वास्तविकता में तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि लौक का कहना है कि इस पर हमारी इच्छा का कोई अधिकार नहीं रहता है । हम अपने मन से सफेदी, कालापन, ताप या ठण्ढा पैदा नहीं कर सकते हैं और जब हम ध्यानस्थ हों तो यदि हमारे सामने लाल या हरा रंग हो तो हम उन्हें अवश्य ही देख लेते हैं । अत:, सरल प्रत्ययों में अपनी बाध्यता होती है जिससे हम उन्हें जान लेते हैं । इसलिए उनकी वास्तविकता इसी में है कि वे बाह्य वस्तुओं से उत्पन्न हों । इसलिए सरल प्रत्ययों तथा बाह्य वस्तुओं के बीच अनुरूपता रहती है और इसलिए वे वास्तविक कहे जा सकते हैं ।

अब मिश्रित तथा जटिल (complex) प्रत्ययों की वास्तविकता का प्रश्न उठता ही नहीं है, क्योंकि ये मानसिक रचनाएँ हैं और मन इनकी रचना में किसी आदिरूप (archetypes, original) से प्रभावित नहीं होता हैं । यहाँ केवल इसी बात का ध्यान रखना चाहिए कि मिश्रित तथा जटिल प्रत्यय ऐसे हों कि इनके वास्तविक हो जाने की सम्भावना बनी रहे । यहाँ लौक ज्यामितिक रचना को अपने ध्यान में रखे हुए थे । वे जानते थे कि बिन्दु, रेखा, धरातल इत्यादि वास्तविक नहीं होते हैं और फिर भी उनके आधार पर सत्य रचनाएँ की जा सकती हैं (†) । अपितु, इस प्रकार की गाणतिक रचना को वास्तविक समझा जा सकता है, क्योंकि आदर्श वृत्त तथा त्रिभुज के वास्तविक होने की सम्भावना रहती है । यही बात लौक ने नीतिशास्त्र के सम्बन्ध

† Thus, according to Locke the knowledge of the mathematician is real, for "he is sure what he knows concerning those figures when they have barely an ideal existence in his mind, will hold true of them also when they have a real existencs in matter."

में कही है। हो सकता है कि नीतिशास्त्रज्ञ को 'हत्या-सम्बन्धी' वास्तविक ज्ञान न हो; तो भी उसके नैतिक विचारों को वास्तविक कहा जा सकता है, क्योंकि हत्या इत्यादि घटनाएं वास्तविक हो सकती हैं।

लौक का मत गाणतिक सत्यता के सम्बन्ध में पर्याप्त नहीं था। वास्तव में गाणतिक विचारों को इसलिए नहीं सत्य माना जाता है कि वे स्पष्ट तथा परिस्पष्ट प्रत्ययों पर आधारित होते हैं या उनके वास्तविक हो जाने की कोई सम्भावना होती है। गाणतिक युक्तियाँ इसलिए असंदिग्ध मालम देती हैं कि वे मन-रचित परिभाषाओं तथा मन्तव्यों (assumptions) पर आधारित रहती हैं। जब तक हम बिन्दु, रेखा, समानान्तर रेखा इत्यादि की परिभाषाओं को स्वीकार करेंगे तबतक युक्लिड की ज्यामितिक युक्तियाँ हमें स्वीकार करनी पड़ेंगी। अतः, गाणतिक युक्तियाँ मानव-रचित मन्तव्यों की स्वीकृति पर आधारित होती हैं और इसलिए इनमें वास्तविकता का प्रश्न उठता ही नहीं है।

फिर लौक समझते थे कि किसी वस्तु की सम्भावनामात्र से उसकी वास्तविकता का प्रश्न हल नहीं हो सकता है। "For, the having of the idea of anything in our mind, no more proves the existence of that thing, than the picture of a man evidences his being in the world or the visions of a dream make thereby a true history."(BK. IV. 11.1)। यह बात द्रव्य के सम्बन्ध में विशेषतया सत्य ही कही जा सकती है। यदि हम सरल प्रत्ययों को जोड़कर समझ लें कि उड़नखटोला या उड़ाऊ घोड़ा है तो इससे इन द्रव्यों की वास्तविकता सत्य नहीं हो सकती है। द्रव्यों के सत्य होने के लिए हमें जानना चाहिए कि वास्तव में प्रत्ययों का जटिल प्रत्यय यथार्थ है और फिर हमें उनका वास्तबिक अनुभव करना चाहिए। (†) लौक ने द्रव्य के सम्बन्ध में इन शर्तों को इसलिए रखा है कि वे द्रव्य को तात्त्विक सत्ता समझते थे और चाहते कि उनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान भी वास्तविक रीति से सत्य हो।

---

†Our ideas of substances "must not consist of ideas put together at the pleasure of our thoughts, without any real pattern they were taken from, though we can perceive no inconsistency in such a combination." (BK. IV, 4.12)

में कही है । हो सकता है कि नीति शास्त्रज्ञ को 'हत्या-सम्बन्धी' वास्तविक ज्ञान न हो; तोभी उसके नैतिक विचारों को वास्तविक कहा जा सकता है, क्योंकि हत्या इत्यादि घटनाएँ वास्तविक हो सकती हैं ।

लौक का मत गाणतिक सत्यता के सम्बन्ध में पर्याप्त नहीं था । वास्तव में गाणतिक विचारों को इसलिए नहीं सत्य माना जाता है कि वे स्पष्ट तथा परिस्पष्ट प्रत्ययों पर आधारित होते हैं या उनके वास्तविक हो जाने की कोई सम्भावना होती है । गाणतिक युक्तियाँ इसलिए असंदिग्ध मालूम देती हैं कि वे मन-रचित परिभाषाओं तथा अभिधारणाओं (assumptions) पर आधारित रहती हैं । जबतक हम बिन्दु, रेखा, समानान्तर रेखा इत्यादि की परिभाषाओं को स्वीकार करेंगे तबतक युक्लिड की प्रमेय-सम्बन्धी युक्तियाँ हमें स्वीकार करनी पड़ेगी । अतः गाणतिक, युक्तियाँ मानव-रचित अभिधारणाओं की स्वीकृति पर आधारित होती हैं और इसलिए उनमें वास्तविकता का प्रश्न उठता ही नहीं है ।

फिर लौक समझते थे कि किसी वस्तु की सम्भावनामात्र से उसकी वास्तविकता का प्रश्न हल नहीं हो सकता है । "For, the having the idea of anything in our mind, no more proves the existence of that thing, than the picture of a man evidences his being in the world or the visions of a dream make thereby a true history. (BK. IV 11. 1)। यह बात द्रव्य के सम्बन्ध में विशेषतया सत्य कही जा सकती है । यदि हम सरल प्रत्ययों को जोड़कर समझ लें कि उड़नखटोला या उड़ाऊ घोड़ा है तो इससे इन द्रव्यों की वास्तविकता सत्य नहीं हो सकती है । द्रव्यों के सत्य होने के लिए हमें जानना चाहिए कि वास्तव में प्रत्ययों का जटिल प्रत्यय यथार्थ है और फिर हमें उनका वास्तविक अनुभव करना चाहिए (*) । लौक ने द्रव्य के सम्बन्ध में इन शर्तों को इसलिए रखा है कि वे द्रव्य को तात्विक सत्ता समझते थे और चाहते थे कि उनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान भी वास्तविक रीति से सत्य हो ।

---

*Our ideas of substances "must not consist of ideas put together at the pleasure of our thoughts, without any real pattern they were taken from, though we can perceive no inconsistency in such a combination." (BK. IV. 4. 12)

(३) ज्ञान में शिक्षाप्रदता (instructiveness):–लौक ने ज्ञान के अन्दर सभी वाक्यों को महत्वपूर्ण नहीं समझा है। उन्होंने वाक्यों को तुच्छ (trifling) और शिक्षाप्रद (instructive) दो वर्गों में बाँट दिया है। तुच्छ वाक्य वे हैं जिनसे ज्ञानवृद्धि नहीं होती है। या तो वे तादात्म्य वाक्य (tautologous) होते हैं या विश्लेषणात्मक (analytic) होते हैं। तादात्म्य वाक्य का उदाहरण है कि 'राम' राम है; या 'क' क है। उसी प्रकार से विश्लेषणात्मक वाक्य वे हैं जिनमें हम उद्देश्य के पूरे या कुछ ही गुण को विधेय में व्यक्त करते हैं, जैसे, सभी मानव पशु हैं, या मानव विवेकशील प्राणी हैं। अब तादात्म्य तथा विश्लेषणात्मक वाक्य अनिवार्य रूप से सत्य है, पर लौक ने इन्हें तुच्छ इसलिए कहा है कि इनमें ज्ञानवृद्धि अथवा नूतन ज्ञान नहीं मिलता है। इनके विपरीत शिक्षाप्रद वाक्य वे हैं जिनसे ज्ञानवृद्धि होती है और इसलिए इन वाक्यों के विधेय में उन गुणों को व्यक्त किया जाता है जो उद्देश्य की गुणवाचकता में नहीं पाये जाते हैं। लौक का उदाहरण इस प्रसंग में है कि किसी भी त्रिभुज का बहिष्कोण उसके सामने के अन्तःकोण से बड़ा होता है।

हम देखेंगे कि आगे चलकर इन वाक्यों को काण्ट ने विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक (synthetic) वाक्यों में बाँटा है और जो वर्त्तमानकालिक तार्किक अनुभववाद में परिशुद्ध होकर विशेष स्थान रखता है।

ज्ञान की सीमा (limits)

इतनी बात निश्चित है कि ज्ञान प्रत्ययों में ही सीमित है। जिन पदार्थों का हमें प्रत्यय नहीं हो सकता, उनका हमें ज्ञान भी संभव नहीं है। पर जहाँ प्रत्यय भी हों वहाँ भी हो सकता है कि हमारा ज्ञान संभव न हो, क्योंकि अतिदूर तथा अतिसूक्ष्म वस्तुओं का प्रत्यय भी स्पष्ट नहीं होता है। यही कारण है कि लौक परमाणुओं के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी उनके सम्बन्ध के ज्ञान को सार्वभौम तथा अनिवार्य नहीं मानते हैं। फिर ज्ञान सम्बन्धात्मक (relational) होता है और अनेक स्थलों पर हम प्रत्ययों के बीच अनिवार्य सम्बन्ध नहीं पाते हैं, जैसे प्राथमिक तथा गौण गुणों के बीच हम अनिवार्य सम्बन्ध नहीं देखते है। अतः, यहाँ भी हमारा ज्ञान सीमित रह जाता है। यह ठीक है कि गणित तथा आचारशास्त्र (ethics) में हमारा ज्ञान अनिवार्य तथा

असंदिग्ध रहता है, पर यहाँ अमूर्त्तबोधित (abstract) प्रत्यय रहते हैं जिनकी अपनी वास्तविकता नहीं पायी जाती है। अत:, एक तो ज्ञान जो अनिवार्य तथा असंदिग्ध हो अतिसीमित ही पाया जाता है और फिर इसकी वास्तविकता संभव नहीं होती है। इसलिए प्रत्ययों के बीच ही ज्ञान को सीमित रख कर लौक ने ऐसे ज्ञान को जो असंदिग्ध तथा वास्तविक दोनों हो असंभव बना दिया है। ऐसी अवस्था में उन्हें सन्देहवादी तथा अज्ञेयवादी ही रहना चाहिए था, पर लौक अज्ञेयवादी नहीं थे क्योंकि उन्होंने सामान्यतया ऐसे ज्ञान को स्वीकार किया है जो वास्तविक भी हो और असंदिग्ध भी हो।

पहली बात है कि वे 'मानते हैं कि हमें अपनी आत्मा (self) के सम्बन्ध में सहज प्रत्यक्ष ज्ञान (intuitive knowledge) है जो असंदिग्ध और वास्तविक दोनों है। फिर उन्होंने स्वीकार किया है कि ईश्वर वास्तविक है और इसके सम्बन्ध में हमें असंदिग्ध प्रकार का प्रदर्शनात्मक ज्ञान प्राप्त होता है। अपितु, जगत् के सम्बन्ध में भी वे संशयवादी नहीं थे। इस प्रसग में वे मानते थे कि—

(क) वस्तुविशेष वास्तव में हैं जिनकी ओर प्रत्ययों का सतत् संकेत रहा करता है। इस अर्थ में प्रत्यय सही चिन्ह हैं जिनसे वस्तुओं की जानकारी हो सकती है।

(ख) फिर यथार्थ वस्तुओं का प्राथमिक गुण हम जान सकते हैं।

(ग) सम्पूर्ण जगत की सत्ता भी सत्य माननी चाहिए क्योंकि

(१) यह बात इसी से स्पष्ट हो जाती है कि यदि जगत् सत्य न होता तो संवेदना और प्रतिमा (image) के बीच कोई भेद न रहता। पर हम जानते हैं कि संवेदनाओं में सजीवता है जो प्रतिमाओं में नहीं पायी जाती है और सम्वेदनाओं की सजीवता इसलिए होती है कि वे वास्तविक जगत् के प्रभाव से उत्पन्न होती हैं।

(२) फिर सम्वेदनाओं में अपनी बाध्यता होती है जिसके कारण हमें उनकी ओर ध्यान देना होता है (*)। ये सम्वेदनाएँ इसलिए हमारी इच्छाओं से स्वतंत्र रहती हैं कि वे वास्तविक जगत् से उत्पन्न होती हैं।

---

*"If I turn my eyes at noon towards the sun, I cannot avoid the ideas which the light or sun then produces in me."

(३) अन्त में इन्द्रियों से गुण उत्पन्न नहीं होते हैं, पर इनसे ये ग्रहण किये जाते हैं। यदि इन्द्रियों से गुण भी उत्पन्न होते तो बिना वास्तविक पदार्थ के हमें गुणों का ज्ञान हो जाता।

अतः, लौक आत्मा, ईश्वर तथा जगत् की वास्तविकता ग्रहण करते हैं, पर प्रश्न उठता है कि क्या वे सहज प्रत्यक्ष तथा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान, शिक्षाप्रद तथा तुच्छ ज्ञान के बीच के अन्तर को निभाते हुए वास्तविक ज्ञान को असंदिग्ध या असंदिग्ध ज्ञान को वास्तविक स्वीकार कर सकते हैं ? लौक ने ज्ञान के दो प्रकार के वाक्यों को उचित ही दो भागों में बाँटा हैं अर्थात्, एक को प्रत्ययों के फलस्वरूप माना है और दूसरे को वस्तुविशेषों के सम्बन्ध में ही सत्य समझा हैं (*)। पर संगत रीति से उन्हें मानना चाहिए था कि अनिवार्य तथा असंदिग्ध ज्ञान केवल अमूर्त्त बोधित तथा परिभाषित ही प्रत्ययों में ही संभव होता है और वस्तुविशेषों का ज्ञान संभाव्य (probable) ही हो सकता है। पर उन्होंने असंयत रूप से आत्मा तथा ईश्वर के ज्ञान को वास्तविक और असंदिग्ध दोनों माना है। आगे चलकर हम देखेंगे कि ह्यूम ने और फिर काण्ट ने स्पष्ट कर दिया है कि हमें किसी स्थायी आत्मा का ज्ञान आत्मनिरीक्षण के आधार पर संभव नहीं हो सकता है। फिर हमें ईश्वर का ज्ञान न तो सम्वेदना से और न आत्म-चिन्तन से हो सकता है।

फिर जगत् के सम्बन्ध में लौक की देन स्पष्ट नहीं है। अब वस्तु और प्रत्यय के बीच तीन प्रकार के सिद्धान्त प्रमुख हैं, अर्थात् (क) प्रत्ययों के द्वारा हम वस्तुओं को साक्षात् रीति से जानते हैं, (ख) वस्तुओं से हमारे मन में प्रत्यय उत्पन्न होते हैं, परन्तु हम प्रत्ययों को ही साक्षात् रीति से जानते हैं और वस्तुओं को असाक्षात् रीति से ही जानते हैं। (ग) प्रत्ययों को छोड़कर वस्तुओं की अपनी और कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। लौक ने अपने मत को (ख) के समान ही हमारे सामने रखा है, परन्तु वे (क) के समान अपने को वस्तुवादी मानते थे। इन सब कारणों से लौक का मत अस्पष्ट तथा असंगत सा मालूम देता है।

---

*लौक ने इन प्रकार के वाक्यों के सम्बन्ध में लिखा है: "In the former case; our knowledge is the consequence of the existence of things——in the latter, knowledge is the consequence of the ideas—" (BK. IV. 11. 14 (फिर देखें BK. IV. 9.1)

अत:, ज्ञान को अनिवार्य तथा असंदिग्ध मानकर लौक ने बुद्धिवादियों का साथ दिया है और फिर इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को हीन बताकर अपने अनुभववाद को पुष्ट नहीं किया है। इसलिए आपको वेकनीय अनुभववादी न कहकर देकार्तवादी कहना चाहिए (*)। आप ज्ञान की इमारत अनुभववाद की नींव पर रख करके बुद्धिवादी नमूने की बनाना चाहते थे और इसलिए इस इमारत के ठोसपन में कमी रह गई है।

लौक के दर्शन का मूल्यांकन:—आधुनिक दर्शन में वेकन और देकार्त ने नयी विधि खोज निकाली जिसके आधार पर वे ज्ञान की ठोस इमारत खड़ी करना चाहते थे। पर इसके पहले कि ज्ञान की इमारत हम खड़ी करें, हमें जानना चाहिए कि ज्ञान का स्वरूप क्या है और इसी प्रश्न को लौक ने हमारे सामने रखकर इसका समाधान करना चाहा है। आप दर्शन में सर्वप्रथम ऐसे विचारक थे जिन्होंने ज्ञान-मीमांसा के ऊपर इतना अधिक जोर दिया है और इसमें सन्देह नहीं कि वृटिश विचार को इस ओर मोड़ने का श्रेय लौक को देना चाहिए। यदि लौक ज्ञान-मीमांसा के सम्बन्ध में इन सब प्रश्नों को न उठाते, तो बर्कले तथा ह्यूम की विचारधारा शायद हीं तीव्र गति से बढ़ती और तब काण्ट की गहरी गवेषणा भी शायद ही संभव होती। यह ठीक है कि लौक छिछले विचारक थे, परन्तु इन्होंने ज्ञानसम्बन्धी सभी प्रश्नों को हमारे सामने रखा है। उनका समाधान दोषपूर्ण अवश्य है, पर इन्हीं दोषों को हटाकर सम-सामयिक विचारक आज सही स्थान को पहुँचे हैं। लौक इसलिए महान विचारकों में गिने जाते हैं कि उन्होंने मानव विचार के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाकर दर्शन को नूतन दिशा में मोड़ दिया है।

चूँकि लौक ने नये सिरे से नवीन प्रश्नों को हमारे सामने रखा है इसलिए उनकी खोजों में कमियों का रहना अनिवार्य है। पर उनकी भूलों से भी विचारकों को लाभ ही पहुँचा है। लौक ने ज्ञान-सम्बन्धी समस्या में तार्किक तथा मनोवैज्ञानिक खोजों को मिला दिया है। यद्यपि यह दर्शन में गलत बात थी, तोभी इस गलती से मनोविज्ञान की उत्पत्ति हुई है और लौक को प्रायः आधुनिक मनोविज्ञान का जन्मदाता समझा जाता है।

---

* Instead of being a Baconian empiricist, he was really a Cartesian with Baconian touch. Then, the rationalistic edifice contradicts his empirical foundation.

लौक ज्ञान-मीमांसा में ठीक ही अनुभववादी के रूप में विख्यात हैं, यद्यपि आप अनेक स्थलों पर असंगत रहे हैं, तोभी आप ने अनुभववाद को हमारे सामने रखकर रहस्यवाद तथा अंधविश्वास के चंगुल से विचारकों को बचाया है।

अतः, सन्तायना ने ठीक ही लौक के विषय में कहा है: ".. had Locke's mind been more profound, it might have been less influential····Locke played in the eighteenth century very much the part that fell to Kant in the nineteenth···· his opinions became a point of departure for universal developments." (George santayana, Five Essays.p.3)

जौर्ज बर्कले (सन् १६८५-१७५३)

जौर्ज बर्कले आयरलैण्ड के निवासी थे। आपका जन्म सन् १६८५ में हुआ था। किल्केनी में जब आपकी स्कूली शिक्षा समाप्त हो चुकी तो आपने डब्लिन में त्रिनिटी कॉलेज में सन् १७०० में प्रवेश किया। वहीं से डिग्री लेकर आप वहीं १३ वर्षों तक उपाध्यापक के पद पर अधिष्ठित रहे। आप अंत में क्लोय्न के बिशप नियुक्त किए गए। सन् १७५२ में आक्सफोर्ड में आये और यहीं सन् १७५३ में आपका देहान्त हो गया। आप प्रकांड पण्डित होते हुए भा बहुत हा सरल जीवन व्यतीत करते थे। अटरब्री ने आपका चरित्र, तथा वद्वता देख कर कहा है: "so much understanding, so much knowledge, so much innocence, and such humility, I did not think had been the portion of any but angels till I saw this gentleman."

बर्कले ने अनेक रचनायें की हैं, परन्तु २९ वर्ष की अवस्था में ही आप की प्रमुख रचनायें लिखी जा चुकी थीं। आपकी रचनाओं में ये उल्लेखनीय हैं, Commonplace Book (सन् १७०६-८) New Theory of Vision (सन् १७०९), Principles of Human knowledge (सन् १७१०), Three Dialogues (सन् १७१३), Alcipheron (सन् १७३२) और Siris (सन् १७४४)।
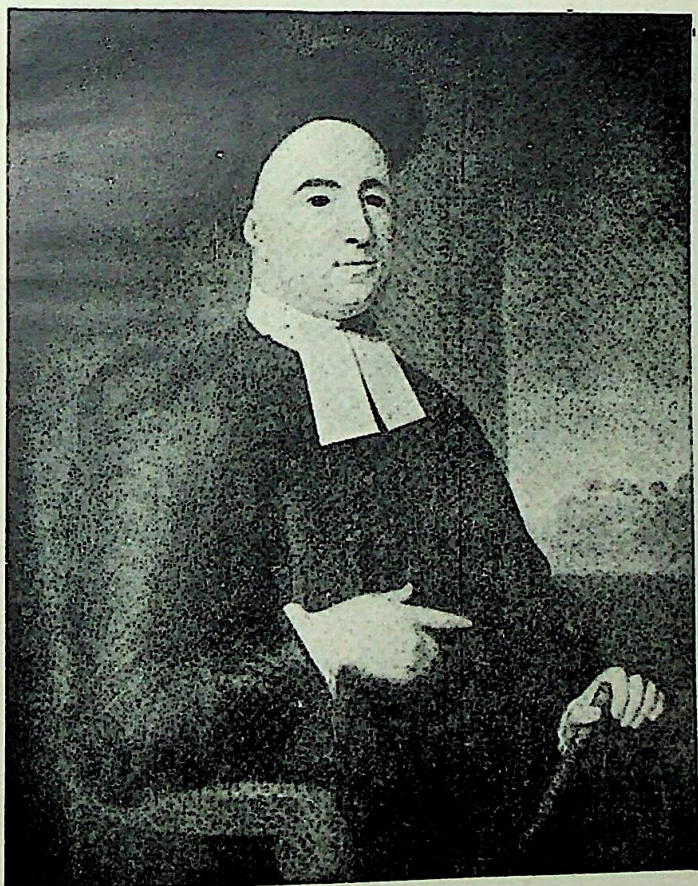
GEORGE BERKELEY (1685 to 1753)

बर्कले अध्यात्मवादी (spiritualist) थे और इसलिए विज्ञान के प्रभाव से उत्पन्न भौतिकवाद तथा नास्तिकवाद (atheism) आप को पसन्द नहीं आया था और आजन्म इनके खन्डन के लिए आप प्रयत्नशील रहे। *siris* में आपने बताया है कि विश्व की समस्त वस्तुयें एक सर्वोच्च निःश्रेयस् (supreme Good) से संचालित होती है और हमें इसी के आधार पर सभी वस्तुओं की व्याख्या करनी चाहिए। आपका मत था कि यदि भौतिकवाद (materialism) का खन्डन कर दिया जाय तो अध्यात्मवाद की जड़ आप-ही-आप जम जायगी। भौतिकवाद तथा नास्तिकवाद को निराधार सिद्ध करने के लिए आपने लौक की ज्ञान-मीमांसा को अपनाया था। परन्तु उन्होंने लौक की ज्ञान-मीमांसा में कमी देखी, इसलिये उन्होंने उसे सरल तथा संगत बनाने के लिए निम्नलिखित धारणाओं पर जोर दिया है:—

ज्ञान मीमांसा:–

I ताप, घ्राण तथा रंग इत्यादि के केवल विशेष, सरल तथा पृथक गुणों से ही हमारे ज्ञान का प्रारम्भ होता है।

(क) ये गुण या तो साक्षात् रीति से संवेदन के द्वारा प्राप्त होते हैं,

(ख) या इनकी प्रतिमाओं (images) को ही हम जानते हैं।

II इन सरल प्रत्ययों को छोड़कर ज्ञान के अन्दर और कोई प्रत्यय नहीं होते हैं।

III परन्तु ये सब प्रत्यय मन के ऊपर निर्भर रहते हैं। अतः, जो कुछ भी हमारे अनुभव में अँटता है वह मन-आश्रित या मानसिक है। इसलिए सभी ज्ञात सत्ता मानसिक है। इसे बर्कले ने अपनी प्रसिद्ध उक्ति के रूप में कहा है कि esse (सार) est percipi, अर्थात् किसी भी वस्तु का सार या उसकी वास्तविकता मन के प्रत्यय (प्रतीति) पर निर्भर करती है। इसी बात को परोक्ष रीति से कहा जा सकता है कि अदृष्ट रंग जिसे किसी ने कभी नहीं देखा है तथा अश्रुत स्वर जिसे किसी ने कभी नहीं सुना है, हम सब के लिए आयँ-बायँ के समान निरर्थक है। इसलिए बर्कले का दावा है कि हमें किसी भी वस्तु का बोध करा दो जो अज्ञात या अप्रत्यय के रूप में संभव हो सकती है। यदि कोई कहे कि जमीन में गड़ा हुआ धन अज्ञात रहता है, तो यहाँ बर्कले का कहना है कि यदि यह अज्ञात हैं तो आलोचक को इसका कैसे पता मिला? अतः, कोई भी वस्तु अज्ञात या अप्रत्यय के रूप में संभव नहीं हो सकता। यहाँ एक और आपत्ति की जा सकती है कि चाँद का दूसरा हिस्सा, जो

हमारे सामने नहीं आता है, हमारे लिए अदृष्ट हैं तो क्या इसकी सत्ता भी स्वीकार नहीं की जा सकती हैं ? यहाँ बर्कले का कहना हैं कि चाँद का ओझल भाग भी प्रत्यय है, परन्तु यह साक्षात् प्रत्यय न होकर अनुमित (inferred) है । अत:, उन सब को भी प्रत्यय के अदर गिनना चाहिए जो साक्षात् प्रत्यय के द्वारा प्रयोगात्मक रीति से अनुमित हो । यदि हम ठीक समय पर किसी रीति से ऐसे स्थान पर पहुँच जायँ जहाँ से चाँद का ओझल भाग दीख सकेगा तो निःसन्देह यह प्रत्यय हो जाएगा । इसलिए बर्कले का कहना है कि विश्व की समस्त वस्तुयें प्रत्यय होने के कारण मानसिक हैं और प्रत्यय को छोड़कर इनकी सत्ता संभव नहीं है । यहाँ इनकी उक्ति है "Some truths there are so near and obvious to the mind that a man need only open his eyes to see them. Such I take this important one to be viz., that all the choir of heaven and furniture of the earth, in a word all those bodies which compose the mighty frame of the world, have not any subsistence without a mind that their *being is to be perceived or known*.." (*)

IV परन्तु प्रत्ययनिष्क्रिय हैं और इसलिए संवेदित प्रत्ययों को छोड़कर कुछ और सत्ता है जो प्रत्यय प्राप्त करता है पर जो स्वयं प्रत्यय नहीं है । यह है आत्मा । वस्तुओं की सत्ता उनके सम्बन्ध के प्रत्ययों में निहित है, पर आत्मा की सत्ता *percipi* में न होकर *perceiving* क्रिया या *percipere* में है, अर्थात् आत्मा की सत्ता इसकी सक्रियता में है । बर्कले ने आत्माओं के ज्ञान के संबन्ध में लिखा है:"But besides all that endless variety of ideas or objects of knowledge there is likewise *something which knows or perceives them, and exercises diverse operations*, as willing, imagining, remembering about them. This perceiving, active being is what I call Mind, Spirit, Soul, or Myself."(†)

* principles—11, 6 फिर देखें 22-23
†Principles 11. 2

†अत:, बर्कले यहाँ पर वर्त्तमानकालिक प्रमाणयोग्यता या प्रमाणक्षमता (verifiability) के सिद्धांत की पूर्वछाया को हमारे सामने रख रहे हैं जिसके आधार पर वस्तुओं की वास्तविकता जाँची जा सकती है ।

अतः, बर्कले के अनुसार केवल आत्मा ही एक पदार्थ है और प्रत्यय उस पर निर्भर करते हैं। इसलिए आत्मा और आत्मिक प्रत्यय के अतिरिक्त किसी अन्य चीजों की सत्ता नहीं है। इसलिए बर्कले के दर्शन को अध्यात्मवाद (spiritualism) कहते हैं। चूँकि जनसाधारण तथा दार्शनिक भी भौतिक पदार्थ की सत्ता को मानते हैं, इसलिए बर्कले ने जड़वाद (materialism) की अति तीक्ष्ण आलोचना की है और जबतक हम जड़वाद को उखाड़कर न फेंक दें तबतक हम अध्यात्मवाद की नींव पक्की नहीं कर सकते हैं। इसलिए अब हम बर्कले के द्वारा जड़वाद की आलोचना का अध्ययन करेंगें।

भौतिकवाद अथवा जड़वाद की आलोचना

बर्कले के अनुसार जड़ पदार्थ की वास्तविकता तीन प्रमुख बातों पर निर्भर करती है, अर्थात् (क) अमूर्त्त बोधित प्रत्यय (ख) प्राथमिक तथा गौण-गुणों के भेदों और (ग) प्रत्ययों के स्पष्टीकरण पर। बर्कले इन तीनों बातों की आलोचना निम्नलिखित रूप से करते हैं।

1 जड़ पदार्थ की वास्तविकता अमूर्त्त बोधन (abstraction) पर निर्भर करती है। परन्तु अमूर्त्त बोधन अनाधिकार प्रक्रिया है और इसलिये जड़ पदार्थ की वास्तविकता भी अप्रमाणित है। अब अमूर्त्त बोधन की त्रुटियों को हम तभी जान सकते हैं जब हम इसकी प्रक्रिया को जानें और इस प्रक्रिया का उल्लेख इस प्रकार से किया जा सकता है।

(क) हम अनेक सरल गुणों के सम्मिश्रण से बनी हुई वस्तुओं को देखते हैं।

(ख) उनके किसी एक गुण को वस्तुओं से पृथक् करके अमूर्त्त बोधित प्रत्यय की रचना करते हैं जैसे, घास के हरेपन को हम उसके रूप, आकार, चिकनाहट इत्यादि से अलग कर लेते हैं और हरेपन के अमूर्त्त बोधित प्रत्यय की रचना करते हैं।

(ग) फिर हम इसे और भी अधिक सामान्य बना सकते हैं। हम हरे-पन, लालपन, नीलेपन इत्यादि के सामान्य धर्म रंगपन को इन अमूर्त्त बोधित प्रत्ययों से पृथक् करके अति सामान्य प्रत्यय बना सकते हैं।

(घ) जिस प्रकार से गुणों का अमूर्त्त बोधन होता है उसी प्रकार से सहभावी (co-existent) गुणों के सम्मिश्रण से बनी वस्तुओं का भी

अमूर्त बोधन किया जा सकता है। हम राम, श्याम, यदु इत्यादि के सामान्य गुणों को उनके अन्य गुणों से पृथक कर लेते हैं और 'मानवता' के अमूर्त बोधित सामान्य प्रत्यय की रचना करते हैं। "....wherein it is true there is included colour, because there is no man but has some colour, but then it can be neither white, nor black, nor any particular colour, because there is no one particular colour wherein all men partake (*)। फिर भी मानव में सभी वर्णों के व्यक्तियों का बोध होना चाहिये।

उपर्युक्त अमूर्त बोधित प्रत्यय (abstract idea) की आलोचना बर्कले ने विस्तारपूर्वक की है (†) बर्कले की पहली आलोचना को समसामयिक शब्दों में अनाधिकार या दोषपूर्ण अमूर्त बोधन (vicious abstraction) कहा जा सकता है। इसे reification का भी दोष कहा जाता है, अर्थात् किसी गुण को हम वास्तविक सत्ता से निकाल लेने के बाद भी हम सोचते हैं कि यह उसी प्रकार से सत्तात्मक (existent) हैं जिस प्रकार से वह वास्तविक वस्तु सत्तात्मक है जिससे इस गुण को पृथक किया गया है। यह ठीक है कि लाल गुलाब वास्तविक पदार्थ है, परन्तु यह समझना कि इसका लालपन भी वास्तविक है, दोषपूर्ण अमूर्त बोधन होगा। यहाँ वास्तविकता से अर्थ है वह जो संवेद्य (sensible) हो, अर्थात् देश-काल में रहकर इन्द्रिय ग्राह्य हो। बर्कले का कहना है कि अमूर्त बोधित गुण अवियोज्य (inseparably) रीति से अन्य गुणों से लिपटा हुआ रहता है, जैसे घास का हरापन उसके अन्य गुणों के साथ रहता है। अब इस बात की क्या गारन्टी है कि अमूर्त बोधित गुण अन्य गुणों से अलग रहकर भी वास्तविक हो सकता है? परन्तु अमूर्त बोधक हमें इस आपत्ति का कोइ संतोषजनक उत्तर नहीं देते हैं। इसलिये अमूर्त बोधन का सिद्धान्त अनधिकार तथा मनगढ़न्त हैं इसलिये यह अमान्य सिद्धान्त है।

पुनः लौक के अनुसार त्रिभुज का सामान्य प्रत्यय वह है जो न तो समद्विबाहु, न तो समत्रिबाहु और असमबाहु ही के लिये सत्य हो, फिर इन सभी में लागू हो। अब यह कहना है कि त्रिभुज का सामान्य प्रत्यय किसी भी

---

* Introduction to principles-Sec. 9.
† Ibid.P-. See. 9. 24

प्रकार के त्रिभुज में लागू न हो और फिर सभी में लागू हो, असंगत बात है। अतः अमूर्तबोधित प्रत्यय को मान लेने से आत्मविरोधी बातों को मानना पड़ता है जिसे कोई स्वीकार नहीं कर सकता है।

अपितु, बर्कले ने इसे मनोवैज्ञानिक ढंग से भी असिद्ध ठहराया है। उन्होंने कहा है कि यदि हम 'मानव' के विषय में सोचते हैं तो हमारे सामने कोई एक प्रतिमा चली आती है और यह प्रतिमा काले की होगी या गोरे की, लम्बे की या नाटे इत्यादि की होगी। परन्तु कोई भी प्रतिमा ऐसी नहीं हो सकती है जो काले–गोरे, नाटे-लम्बे, मोटे, दुबले इत्यादि सभी को अपने में समेट ले। परन्तु अमूर्त्तबोधित प्रत्यय वह है जो सभी प्रकार के व्यक्तियों का बोध कराये, जो किसी भी प्रतिमा के आधार पर संभव नहीं हो सकता है। "For myself, I find I have indeed a faculty of imagining, or representing to myself, the idea of those *particular* things I have perceived,..Likewise the idea of man that I frame to myself must be either of a white, or a black, or a tawny, a straight, or a crooked, a tall, or a low, or a middlesized man. I cannot by any effort of thought conceive (imagine) the *abstract* idea above described" (Introduction to the Principles-Sec. 10)

जड़ पदार्थ का प्रत्यय भी इसी अमूर्त्तबोधन से बना है। जड़ पदार्थ वह है जो स्थावर भी हो और गतिशील भी, कड़ा भी हो और मुलायम भी इत्यादि। इन सबों का बोध भी कराये और फिर इनमें से किसी एक प्रकार के पदार्थ विशेष में निहित भी न हो। फिर जड़ पदार्थ बिना किसी आत्मा के चिन्तन या प्रत्यय के संभव नहीं है। परन्तु अमूर्त्तबोधक जड़ पदार्थ को आत्मा के चिन्तन से अलगकर समझते हैं कि इसकी वास्तविकता बिना किसी के चिन्तन के संभव है। अतः, जड़ पदार्थ अनधिकार अमूर्त्तबोधन का उदाहरण है और इसलिए यह असिद्ध धारणा है।

पाठक यहाँ स्वयं देख सकते हैं कि अमूर्त्तबोधित प्रत्यय की आलोचना जो बर्कले ने की है वह सही नहीं है। अब जो दोषपूर्ण अमूर्त्तबोधन के विषय बर्कले ने बताया है वह बहुत अंशों में ठीक है और इसका प्रभाव आगे चलकर

काफी हुआ है। परन्तु बर्कले का यह कहना कि अमुर्त्त बोधित प्रत्यय इसलिये संभव नहीं है कि इसकी प्रतिमा नहीं हो सकती हैं, ठीक नहीं है। उनकी युक्ति तभी ठीक जँचती जब सामान्य प्रत्यय और प्रतिमा दोनों एक ही प्रक्रिया होती । परन्तु सामान्य प्रत्यय के होने में प्रतिमा केवल आलम्बन-मात्र है। सामान्य प्रत्यय की विशेषता है कि इसमें अर्थ (meaning) होता है जिसके कारण यह अनेक वस्तुविशिष्टों में लागू होता है। यह ठीक है कि 'मानव के सामान्य प्रत्यय में किसी व्यक्तिविशेष की प्रतिमा हो, पर यह प्रतिमा अर्थ का वाहन या यान (vehicle) है जिससे प्रतिमा अनेक व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं। अतः, सामान्य प्रत्यय कोरी प्रतिमा नहीं, वरन् यह प्रतिनिधि प्रतिमा होती है। बर्कले ने अमूर्तबोधित प्रत्यय को आलोचना करने में सामान्य प्रत्यय को केवल प्रतिमा मान लिया है जो इनकी गलती है।

यह ठीक है कि यदि हम लौकीय ज्ञान-मीमांसा को मान लें तो सामान्य प्रत्यय की रचना कठिन हो जाती है। सामान्य प्रत्यक्ष से यह साफ ध्वनित होता है कि अनेक गुणों में कुछ धर्म 'सामान्य' (common) हों। पर यदि हम मान लें कि सरल गुण पृथक और असामान्य होते हैं तो उनके बीच सामान्य गुण किस प्रकार सम्भव हो सकते हैं ?

फिर लौक ने बताया है कि सरल प्रत्ययों की तुलना से उनके बीच के भेद तथा सादृश्य को हम प्राप्त करते हैं। परन्तु लाल-पीले तथा गरम-ठंढ़े के बीच का भेद तथा साम्य स्वयं सरल संवेदित (sensed) धर्म तो है नहीं, तो इन्हें किस प्रकार से संवेदना तथा आत्मचिन्तन (reflection) से प्राप्त किया जाय और बिना भेद तथा साम्य के सामान्य प्रत्यय संभव नहीं हो सकते हैं। अतः, लौक के संवेदवाद (sensationism) के आधार पर सामान्य प्रत्यय की व्याख्या करनी कठिन है। इसलिए सामान्य प्रत्ययों के सम्बन्ध में स्वयं लौक की व्याख्या दोषपूर्ण नहीं थी परन्तु संगत रीति से यह व्याख्या उसकी ज्ञानमीमांसा से नहीं सिद्ध की जा सकती है।

बर्कले ने भी सरल प्रत्ययों की पृथकता को स्वीकार किया है और इसलिए वे सामान्य प्रत्यय की लौकीय व्याख्या को स्वीकार नहीं करते हैं। परन्तु सामान्य प्रत्ययों के बिना ज्ञान प्राप्त करना असंभव है और स्वयं बर्कले ने लिखा है कि उन्होंने अमूर्त्त बोधित प्रत्यय की न कि सामान्य प्रत्यय की आलोचना की है। "And here it is to be noted that I do not deny abso-

lutely that there are general ideas, but only that there are any abstract general ideas; ..(*)। फिर उन्होंने इसी प्रकरण में लिखा है, "It is, I know a point much insisted on that all knowledge and demonstration are about universal notions to which I fully agree † यदि मान लिया जाय कि सामान्य प्रत्यय हैं तो इनकी व्याख्या किस प्रकार से की जाय ? बर्कले ने Principles में नामवाद nominalism की मदद ली और इसके अनुसार नाम दे देने से कोई एक विशेष प्रत्यय या प्रतिमा अनेक वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करने लगती है। परन्तु आयुवृद्धि के साथ बर्कले को नामवाद संतोषजनक प्रतीत नहीं हुआ और अन्त में उन्होने प्लेटोवाद को ही अपनाया था अर्थात् बर्कले के लिए सामान्य प्रत्यय की समस्या समस्या ही रह गयी है।

देकार्तीय तथा लौकीय ज्ञान-मीमांसा पर आधारित जड़-पदार्थ की आलोचना:—बर्कले का कहना है कि यदि जनसाधारण जड़-पदार्थ की सत्ता स्वीकार करें, तो क्षम्य है, पर दार्शनिकों को इस भ्रम से मुक्त होना चाहिये। परन्तु देकार्त तथा लौक दोनों अपनी ज्ञानमीमांसा में स्वीकार करते हैं कि मानव-ज्ञान से परे जड़-पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता है। उनके अनुसार मानव ज्ञान के अन्दर जो प्रत्यय है वे इस जड़-पदार्थ की नकलें या प्रतिलिपियाँ (Copies) हैं। परन्तु प्रतिलिपि-सिद्धान्त सर्वथा दोषपूर्ण हैं। यदि हम केवल साक्षात् रीति से ही प्रत्यय को जानें और कभी भी साक्षात् रीति से जड़-पदार्थ का प्रत्यय न करें तो हम कैसे कह सकते हैं कि हमारे प्रत्यय सही या गलत नकलें या प्रतिलिपियाँ हैं ? हम उसी समय में किसी भी नकल को सही या गलत ठहरा सकते हैं जब हम मूल (original) और नकल दोनों को साक्षात् रीति से जानकर मिलान कर सकते हैं। अब चूँकि लौक तथा देकार्त की उपकल्पना के अनुसार हम जड़-पदार्थ का साक्षात प्रत्यय नहीं कर सकते हैं इसलिए नकल के साथ इसका मिलान नहीं किया जा सकता है। अत: प्रतिलिपि-सिद्धान्त पर आधारित जड़-पदार्थ की धारणा सर्वथा दोषपूर्ण ठहरती है।

* Introduction to the Principles. sec. 12.

†Introduction to the Principles. sec. 15.

††इस सम्बन्ध में अध्ययन के लिए देखें Johnston, G. A., Development of Berkeley's Philosophy, ..PP. 124-141. फिर देखें Morris, C. S. *Locke, Berkeley, Hume PP. 86-96*

फिर देकार्त और लौक ने माना है कि प्राथमिक (Primary) गुण जड़-पदार्थ में यथार्थ में पाये जाते हैं, परन्तु गौण (secondary) गुण द्रष्टा पर ही निर्भर या आश्रित देखें जाते हैं। परन्तु प्राथमिक और गौण गुणों का भेद युक्तिसंगत नहीं मालूम देता है। वास्तव में देखा जाय तो प्राथमिक गुण उतना ही अधिक मन-आश्रित रहता है जितना गौण गुण। इसलिए प्राथमिक गुण, गौण गुण के समान ही मन-आश्रित प्रत्यय होने के कारण मानसिक है। इसे निम्नलिखित ढंग से स्पष्ट किया जा सकता है।

विस्तार, ठोसपन तथा आकार इत्यादि को प्राथमिक गुण माना जाता है पर ये प्राथमिक गुण, गौण गुणों के साथ अवियोज्य रीति से लिपटे हुए रहते हैं। जैसे रंगपन के साथ विस्तार देखा जाता है। बिना रंग का कोई भी त्रिभुज, चतुर्भुज या कोई भी आकार नहीं देखने में आता है। अब यदि प्राथमिक गुण इस प्रकार से गौण गुणों से लिपटे हुए दिखाई पड़ें, तो हम कैसे कह सकते हैं कि गौण गुणों से परे प्राथमिक गुण संभव हो सकते हैं। वास्तविकता तो यही है कि प्राथमिक और गौण गुण दोनों अवियोज्य (inseparaple) हैं और दोनों समजातीय हैं। यदि गौण गुण मनाश्रित हैं तो उसी प्रकार प्राथमिक गुण भी मन-आश्रित तथा मानसिक मानें जायेंगे।

फिर गौण गुणों में सापेक्षता (relativity) होने के कारण, लौक इन्हें मन-आश्रित समझते हैं। उदाहरणार्थ एक ही ताप का पानी बाँयें तथा दाहिने हाथ को कम या अधिक गरम मालूम दे सकता है। पर यही सापेक्षता तो आकार तथा गति में देखने में आती हैं। रेलगाड़ी की गति मुसाफिरों के लिए सामने से आती हुई गाड़ी की आधार-भूमि में अधिक और एक ही दिशा में चलती हुई गाड़ी के प्रसंग में कम मालूम देती है। फिर गोल पैसा, ठीक इसके ऊपर नजर गड़ाने से गोल और समकक्ष धरातल से देखने पर अण्डवृत (elliptical) दिखाई देता है। अतः, प्राथमिक गुणों को भी सापेक्ष रहने पर मन-आश्रित समझना चाहिए और इन्हें गौण गुणों से भिन्न नहीं समझना चाहिए।

पुनः, प्राथमिक गुण भी उसी प्रकार इन्द्रियों पर निर्भर रहते हैं जिस प्रकार गौण गुण इन्द्रियों पर आश्रित रहते हैं। यदि बिना आँखों के हम रंग की संवेदना नहीं प्राप्त कर सकते हैं, तो ठीक इसी प्रकार बिना स्पर्श तथा बिना दृष्टि-संवेदना के हम विस्तार, दूरी इत्यादि को नहीं जान सकते हैं। इस सम्बन्ध में बर्कले की विशेष देन '*The New Theory of vision*'

में दी गई है । अतः, प्राथमिक गुण, गौण गुणों के समान इन्द्रियों पर निर्भर रहने के कारण द्रष्टा पर आश्रित रहते हैं ।

अतः, बर्कले के अनुसार उपर्युक्त उक्तियों से सिद्ध होता है कि प्राथमिक और गौण गुणों का भेद युक्तिसंगत नहीं है । वास्तव में सभी गुण मन के प्रत्यय-मात्र हैं । चूँकि प्रत्यय मानसिक हैं, इसलिए सभी गुण मन-आश्रित तथा मानसिक ही हैं ।

111 **जड़-पदार्थ की धारणा का अतिसामान्य खण्डन:**—यदि जड़-पदार्थ की धारणा सत्य हो तो वह निम्नलिखित युक्तियों पर आधारित हो सकती है ।

(१) जड़-पदार्थ प्रत्यक्ष हैं ।

(२) यदि जड़-पदार्थ साक्षात् प्रत्यक्ष पर आधारित न हो, तो यह अनुमित (inferred) होगा और यदि यह अनुमित हो तो यह इन युक्तियों पर आश्रित होगा ।

(३) यदि जड़ पदार्थ की धारणा प्रत्यक्ष और अनुमित न हो, तो धार्मिक, नैतिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण से इसकी उपयोगिता होगी ।

(क) जड़-पदार्थ हमारे प्रत्ययों के सदृश हैं,

(ख) यदि जड़-पदार्थ प्रत्ययों के समान सिद्ध न हो, तो यह प्रत्यय का कारण होगा ।

(ग) यदि (क) और (ख) प्रमाणित न हो, तो शायद यह प्रत्ययों का निमित्त हेतु, (instrumental cause) होगा, या

(घ) यह प्रत्ययों का संयोग या प्रसंगात्मक (occasional) हेतु होगा ।

बर्कले ने इन सब पक्षों का खण्डन कर दिखलाया है कि जड़-पदार्थ की धारणा किसी भी प्रकार से युक्तिसंगत नहीं है । हम अब प्रत्येक पक्ष की छानबीन करेंगे ।

जड़-पदार्थ का प्रत्यक्षज्ञान:—यदि जड-पदार्थ संवेदना तथा आत्मनिरीक्षण के आधार पर प्रत्यक्ष हो तो यह रंग, स्पर्श, भाव, उद्वेग इत्यादि हो सकता है । यदि यह आँखों के द्वारा जाना जाता हो तो यह लाल-पीले इत्यादि रंग में रंगा हुआ होगा । यदि यह कान से जाना जाता हो, तो वह कर्कश, मधुर इत्यादि आवाज होगी । परन्तु स्वयं लौक ने स्वीकार किया है कि जड़-पदार्थ इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता हैं क्योंकि यह अज्ञात रहता है । फिर यदि

जड़-पदार्थ इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात भी हो, तो संवेदनाओं के समान परिवर्तनशील तथा क्षणभंगुर होगा । परन्तु जड़-पदार्थ को अपरिवर्तनशील, स्थायी तथा शाश्वत समझा जाता है । अतः, जड़-पदार्थ प्रत्यय नहीं हो सकता है । फिर यदि जड़-पदार्थ प्रत्यक्ष हो तो यह प्रत्यय होगा और प्रत्यय मानसिक है, इसलिए जड़-पदार्थ मन से परे स्ववन्त्र सत्ता न होकर वास्तव में मानसिक ही है ।

यदि जड़-पदार्थ प्रत्यक्ष न हो तो यह अनुमित सत्ता होगी । अब यदि जड़-पदार्थ अनुमित हो तो यहाँ तर्क दिया जा सकता है कि यह प्रत्ययों के समान (like) है । परन्तु यह तर्क निराधार होगा क्योंकि जड़-पदार्थ और प्रत्यय में कोई समानता नहीं है । प्रत्यय परिवर्तनशील है, पर जड़-पदार्थ अपरिवर्तनशील समझा जाता हैं । फिर प्रत्यय अनुभूत विषय नहीं हैं, पर जैसा लौक ने कहा है जड़-पदार्थ अनुभूत विषय नही है । अतः, यदि जड़-पदार्थ प्रत्ययों की समानता पर अनुमित हो, तो यह युक्तिसगत न होगा ।

फिर यदि जड़-पदार्थ अनुमित हो तो कहा जाता है कि यह प्रत्यय के समान तो नहीं है, पर यह प्रत्ययों का उत्पादक है । पर इस तर्क को भी हम स्वीकार नहीं कर सकते हैं । पहली बात हैं कि प्रत्यय मानसिक हैं और जड़-पदार्थ को ठीक इसका विपरीत माना जाता हैं । ऐसी दशा में मन और जड़ के पारस्परिक सम्बन्ध को कैसे स्पष्ट किया जा सकता है ? स्वयं लौक ने माना है कि मन और जड़ का सम्बन्घ बुद्धिगम्य (intelligible) नहीं है । इसलिए जड़ पदार्थ को मानसिक प्रत्यय का कारण या उत्पादक नहीं समझा जा सकता है क्योंकि कारण-कार्य में समानता होनी चाहिये और इनके पारस्परिक सम्बन्ध को बुद्धिगम्य होना चाहिये । अपितु. बर्कले अपने युग की विचारधारा के अनुसार जड़-पदार्थ को निष्क्रिय समझते थे । इसलिए उन्होंने जड़-पदार्थ को उत्पादक कारग नहीं माना है क्योंकि केवल सक्रिय (active) सत्ता ही उत्पादक हो सकती है । अतः, जड़-पदार्थ प्रत्ययों का अनुमित उत्पादक नहीं समझा जा सकता है ।

यदि जड़-पदार्थ को उत्पादक नहीं समझा जा सकता है तो क्यों नहीं इसे प्रत्ययों का निमित्त कारण (instrumental cause) ही मान लिया जाय ? "Though matter may not be a cause ?" says Hylas, "Yet what hinders its being an instrument subservient

to the supreme Agent in the production of our ideas?" परन्तु ईश्वर के लिए निमित्त कारण की क्या आवश्यकता है ? वहीं पर निमित्त कारण की जरूरत पड़ जाती है जहाँ पर संकल्प—मात्र से न कार्य उत्पन्न हो। परन्तु ईश्वर का संकल्प-मात्र (mere will) किसी भी कार्य को उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त है और इसलिये जड़-पदार्थ को प्रत्यय के उत्पादन में निमित्त आधार मानना बेकार है।

परन्तु यदि जड़-पदार्थ न तो प्रत्यय का उत्पादक हो और न यह उसका निमित्त कारण हो तो क्यों नहीं इसे प्रत्यय-उत्पादन में प्रसंग-मात्र (occasion) मान लिया जाय ? अभी तक हमलोगों ने देखा है कि जड़-पदार्थ न तो संवेदित गुण है, न यह प्रत्ययों का कारण है और न प्रत्ययों के समान ही है। अतः, यह प्रत्ययों के उत्पादन में प्रसंग या अवसर-मात्र हो तो यह अज्ञात, निष्क्रिय, निर्गुण द्रव्य हो सकता है। परन्तु ऐसी दशा में बिना किसी गुण के द्रव्य को मानना उसी प्रकार दोषपूर्ण है जिस तरह से बिना द्रव्य के गुण की सत्ता को मानना अमान्य है। फिर इस प्रकार के अज्ञात, निर्गुण, निष्क्रिय द्रव्य को शून्य के सिवा और क्या समझा जा सकता है ? पुनः, जड़-पदार्थ का प्रत्यय-उत्पादन में प्रसंग-मात्र से क्या अर्थ लगाया जा सकता है ? शून्य-सम निष्क्रिय जड़-पदार्थ न तो कारण, न तो निमित्त आधार ही हो सकता है और न किसी भी कार्य के उत्पादन में इसके पहले या बाद या साथ-ही-साथ पाया जा सकता है। इसलिये जड़-पदार्थ को प्रत्यय-उत्पादन में प्रसंग भी नहीं माना जा सकता है।

अतः, हम इस निष्कर्ष पर आये कि जड़-पदार्थ को किसी भी प्रकार से अनुमित नहीं समझा जा सकता है। तो क्या इसे किसी भी प्रकार से उपयोगी धारणा समझी जा सकती है ? अब अज्ञात, निर्गुण, निष्क्रिय पदार्थ की धारणा से किस प्रकार का सैद्धान्तिक (theoretical), बौद्धिक तथा व्यावहारिक लाभ संभव है ? यह शून्यवत् धारणा है जिसमें अमूर्त्त-बोधित प्रत्यय का दोष चरम सीमा में देखा जाता है। फिर यदि हम मान लें कि गुणों को आलम्बन (support) चाहिए और इसलिए अज्ञात जड़-पदार्थ को गुणों आश्रय माना जाय तो इसमें अपरिमित प्रत्यागमन (regressus ad infinitum) या अनवस्था का दोष आ जाता है। यदि गुणों को आश्रय चाहिए और यह आश्रय जड़-पदार्थ हो, तो फिर इस जड़-पदार्थ को भी आश्रय चाहिए

और इसके आश्रय को भी आश्रय चाहिए, इत्यादि । अतः, जड़-पदार्थ की धारणा से किसी भी प्रकार का युक्तिसंगत सैद्धान्तिक लाभ नहीं मिलता है।

फिर जड़-पदार्थ की धारणा से व्यावहारिक लाभ न होकर केवल हानि की ही संभावना होती है। जड़-पदार्थ को शाश्वत समझ लेने पर ईश्वरीय सत्ता की अक्षुण्णता में कमी आ जाती है। साथ ही यह भी धारणा होने लगती है कि विश्व की समस्त घटनायें जड़-पदार्थ से ही संचालित होती हैं। इस प्रकार के जड़वाद को स्वीकार कर लेने से नास्तिकवाद फैलता है और व्यक्तियों की ईश्वर में आस्था शिथिल पड़ जाती है। परन्तु ईश्वर सभी प्रकाश और कल्याण का श्रोत है और ईश्वर से विमुख होकर मानव अंधकारमय पाप में फँस जायगा। अतः, जड़-पदार्थ को मान लेने पर धार्मिक तथा नैतिक पतन की पूरी संभावना रहती है। फिर यदि जड़ हो तो इसका सम्बन्ध मन या आत्मा से किस प्रकार का हो सकता है? देकार्त, स्पिनोजा, लाइबनित्स तथा लौक के विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार की पेचीदी समस्या का समाधान होना कठिन हो जाता है। तो क्यों नहीं जड़-पदार्थ की धारणा को ही छोड़ दिया जाय जिससे इस प्रकार की समस्या ही हमारे सामने न आवे? अन्त में, यदि जड़-पदार्थ हो भी, तो यह अज्ञात रहता है और इसलिए जड़-पदार्थ की धारणा स्वीकार कर लेने से अज्ञेयवाद तथा संशयवाद (scepticism) को अपनाना पड़ता है जिसे दर्शन में संतोषजनक नहीं माना जा सकता है। इसलिए हमें जड़-पदार्थ की धारणा को छोड़कर अनुभूत विषय को अपनाना चाहिये और अनुभूत विषय आत्मा और उसके प्रत्यय हैं। पर आत्मा और उसके प्रत्यय आध्यात्मिक सत्तायें हैं। अतः, अध्यात्मवाद एकमात्र युक्तिसंगत सिद्धान्त है।

बर्कले की ज्ञान-मीमांसा

बर्कले की ज्ञान-मीमांसा, लौक के अनुभववाद पर आधारित है। इस ज्ञान-मीमांसा की मुख्य बातों को निम्नलिखित रीति से स्पष्ट किया जा सकता है।
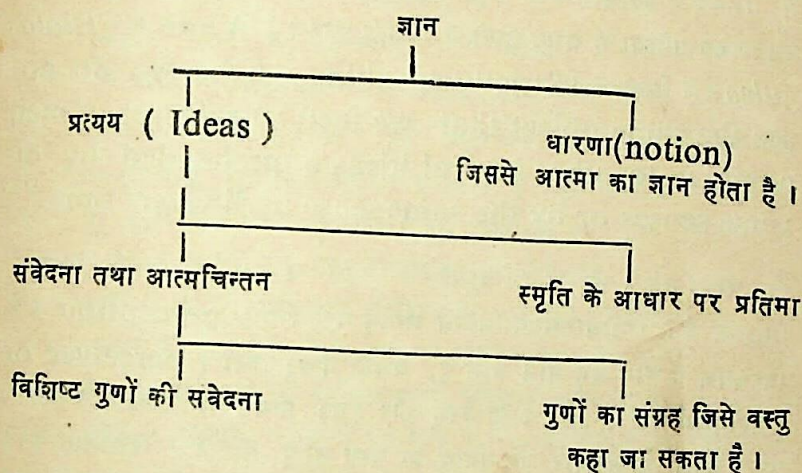
यहाँ बर्कले ने प्रतिमा और प्रत्यय के बीच भेद किया है । प्रतिमायें संवेदनाओं की अपेक्षा क्षीण हुआ करती हैं । फिर संवेदनाओं में सामंजस्य, व्यवस्था तथा स्थिरता पायी जाती है; परन्तु प्रतिमा अव्यवस्थित तथा क्षणभंगुर होती है । अपितु, संवेदनाओं में बाध्यता होती है जिसके कारण हम चाहें या न चाहें हमें उस ओर ध्यानस्थ रहना पड़ता है । परन्तु प्रतिमायें हमारी इच्छाओं के अनुसार आती जाती रहती हैं । बर्कले के द्वारा किया गया भेद आधुनिक मनोविज्ञान में सही नहीं उतरता है, क्योंकि प्रतिमा दर्शन (eidetic imagery) में इतनी सजीवता (liveliness) पायी जाती है कि इसे संवेदनाओं के समान ही प्रबल समझना चाहिए। फिर भ्रम (delusion) में जो प्रतिमायें देखने में आती हैं वे हमारी इच्छाओं पर निर्भर नहीं रहती हैं । फिर भी बर्कले का किया गया भेद साधारणतया सही ही समझा जायगा ।

बर्कले के अनुसार प्रत्यय हमें साक्षात् रूप से प्राप्त होते हैं और उनके ग्रहण करने में हमारा मन निष्क्रिय माना गया है । लौक तो मानते थे कि सरल प्रत्ययों के प्राप्त करने में हमारा मन निष्क्रिय रहता है, पर यौगिक तथा मिश्रित प्रत्ययों की रचना में मन सक्रिय होता है । परन्तु बर्कले के अनुसार, वस्तु जिसे सरल प्रत्ययों का संग्रह समझा जाता है, हम साक्षात् रीति से निष्क्रिय भाँति से प्राप्त करते हैं । लेकिन आयुवृद्धि के साथ बर्कले को मन की रचनात्मक प्रक्रिया को स्वीकार करना ही पड़ा । बात यह है कि वस्तुओं की संवेदनायें भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं, पर वस्तुओं को हम स्थायी तथा बहुत अंशों

में एकरूप में स्वीकार करते हैं। यह एकरूपता (sameness) मन की रचनात्मक प्रक्रिया से संभव होती है। यही कारण है कि बर्कले ने (*Dialogules*) में लिखा है "Strictly speaking, Hylas, we do not see the same object that we feel··therefore····men combine together several ideas apprehended by diverse senses or by the same sense at different times"*

परन्तु बर्कले की ज्ञानमीमांसा की सबसे अधिक विशेषता प्रत्यय-सिद्धान्त में है। साधारणतया प्रत्यय अर्थात वस्तुबोध (perception) के विश्लेषण में तीन अंग माने जाते हैं, अर्थात् (क) द्रष्टा (perceiver or percipient), (ख) बाह्य वस्तु और (ग) प्रत्यय या इन्द्रिय संवेदना। परन्तु बर्कले के अनुसार जड़-पदार्थ या वस्तु तो है ही नहीं इसलिए इनके 'प्रत्यय' में (क) और (ग) के ही दो अंग संभव हो सकते हैं। पर क्या (घ) अंग की अवहेलना की जा सकती है ?

बर्कले अपने मत को पुष्ट करने के लिए जनसाधारण बुद्धि (common-sense) की दुहाई दिया करते थे। परन्तु जनसाधारण प्रत्यय को वस्तु नहीं मानते हैं। उनके अनुसार संवेदित गुण बराबर वस्तु की ओर संकेत करते हैं, पर वे स्वयं वस्तु नहीं होते हैं। जैसे, यदि हम मोटर के भोंपु की आवाज सुनें, तो इस को ही हम न तो भोंपू समझते हैं और न इसे मोटर ही समझते हैं। आवाज केवल भोंपू मोटर इत्यादि वस्तु की संकेत करती है। अतः, प्रत्यय स्वयं वस्तु नहीं है, परन्तु बर्कले ने बाह्य वस्तु की अवहेलना करके प्रत्यय को वस्तु मान लिया है। आगे चलकर हम देखेंगे कि बर्कल ने अपने प्रत्यय सिद्धान्त को थोड़ा सुधारा है। उन्होंने अपनी प्रौढ़ावस्था में स्वीकार किया है कि प्रत्यय स्वयं वस्तु नहीं है। जिसका हमें प्रत्यय होता है वह ईश्वर के मन में आदिरूप (archetypal ideal) है। पर यह मत प्लेटोवाद हो जायगा न कि लौकीय अनुभववाद। आदिरूपीय प्रत्यय के मान लेने पर बर्कले की ज्ञान-मीमांसा में बहुत बड़ा अन्तर चला आता है, पर बर्कले ने अपनी पुरानी ज्ञान-मीमांसा को ज्यों-की-त्यों रख छोड़ा है और इस पुराने रूप में बर्कले की ज्ञान-मीमांसा सर्वथा दोषपूर्ण है क्योंकि इसके अनुसार प्रत्यय ही वस्तु है।

---

*Dialogues I.pp 463-464 फिर देखें p 469

आत्म-ज्ञान

बार-बार बर्कले ने बताया है कि आत्मा स्वयं प्रत्यय नहीं है, पर हमें आत्मा के सम्बन्ध में धारणा (notion) ही सम्भव हो सकती है,....so far I can see, the words *will, soul, spirit,* do not stand for different ideas, or in truth, for any idea at all, but for something which is very different from ideas, and which, being an Agent, cannot be like unto, or represented by, any idea whatsoever." (०)। बर्कले को यहाँ notion शब्द को इसलिए काम में लाना पड़ा कि यदि आत्मा भी प्रत्यय हो तो यह क्षणभंगुर, परिवर्त्तनशील प्रत्यय के समान क्षणिक सत्ता हो जायगी। बर्कले ने इस बात पर ध्यान दिया है कि आत्मा को क्षणिक प्रत्ययों का प्रहत्रामात्र न समझा जाय (*)। हम देखेंगे कि ह्यूम ने आत्मा को नित्य नूतन तथा क्षणभंगुर प्रत्ययों का अविच्छिन्न प्रवाह समझा है। परन्तु आत्मा को प्रत्ययों का प्रवाह-मात्र समझ लेने से कोई स्थायी तत्त्व नहीं बचता हैं। और बिना किसी स्थायी ज्ञान को स्वीकार किये ज्ञान-मीमांसा की व्याख्या नहीं हो सकती है। अतः, ह्यूम के भावी संशयवाद से बचने के लिए, बर्कले ने आत्मा को प्रत्यय नहीं माना हैं।

अब यदि आत्मा का हमें प्रत्यय नहीं होता है तो हम इसे किस प्रकार से जानते हैं? बर्कले ने बताया है कि हम आत्मा को नोशन के आधार पर जानते हैं। अब प्रश्न उठता है कि नोशन (†) क्या हैं और यह प्रत्यय से किस भाँति भिन्न है? यहाँ बर्कले को चाहिये था कि वे 'नोशन' पद की व्याख्या करते। उन्होंने ऐसा नहीं किया है। सिर्फ उन्होंने बताया है कि नोशन का विषय है (क) आत्मा, (ख) मानसिक प्रक्रियायें और (ग) उनके बीच या प्रत्ययों के बीच का सम्बन्ध (relation)।

०Principle 11. Sec. 27 फिर देखें Sec. 140, 142

* देखें Dialogues I. 449—51

† अंगरेजो में idea और notion में कोई भेद नहीं है। इसलिए हिन्दी में नोशन शब्द का अनुवाद 'सामान्य प्रत्यय' से किया जा सकता है। पर भाषा को सुबोध बनाने के लिए नोशन ही शब्द को काम में लाया गया है।

सरजेण्ट (Sergent) के अनुसार, बर्कले ने प्रत्यय और नोशन के बीच इस प्रकार भेद किया है—(१) प्रत्यय संवेद्य (sensible)है, पर नोशन बौद्धिक प्रक्रिया का परिणाम है। (२) फिर प्रत्ययों से विशिष्टों (Particulars) का ज्ञान मिलता है, पर नोशन से सार्वभौमिकता (universality) का ज्ञान मिलता है। (३) पुनः प्रत्यय, मानव और पशु में एक समान होता है, परन्तु नोशन केवल मानवों में ही संभव होता है।

बात यह है कि बर्कले के युग का जड़वाद विज्ञानों पर आधारित था और विज्ञानों में सामान्य प्रत्ययों (concepts) की प्रधानता पायी जाती है। अतः, जड़वाद के जड़ विज्ञान के विरुद्ध आवाज उठाकर बर्कले ने सामान्य प्रत्ययों का खंडन करके माना है कि ज्ञान संवेदनात्मक (sensationistic) ही हो सकता है। परन्तु संवेदनात्मकता को स्वीकार करने पर आत्मा प्रत्ययों का प्रवाह-मात्र हो जाती है और इस पक्ष को बचाने के लिए उन्होंने इसे प्रत्ययों से एकदम भिन्न माना है। "Spirits and ideas are things so wholly different, that when we say 'they exist' 'they are known' or the like, these words must not be thought to signify anything common to both natures." (*)। जितना ही अधिक विचार उन्होंने आत्मा के प्रति किया है उतना ही अधिक उन्हें प्रत्ययों और नोशन में भेद मालूम दिया। आगे चलकर उन्होंने प्लेटो की रचनाओं का अच्छा अध्ययन किया और प्लेटो तथा वैज्ञानिक परम्परा के प्रभाव में आकर उन्हें बुद्धि और संवेदना के बीच प्राकारिक अन्तर मालूम पड़ा। अन्त में अपने पहले के संवेदनावाद के विपरीत उन्होंने सामान्य प्रत्ययों को ही प्रधानता दी है। अपने अन्तिम काल में उनकी उक्तियों में प्लेटोवाद के साथ काण्टीय विचारों की पूर्वछाया दिखायी देती है।, 'Strictly the sense knows nothing......As understanding perceiveth not, that is, doth not hear, or see, or feel, so sense knoweth not, and althougth the mind may use both sense and fancy, as means whereby to arrive at knowledge, yet sense or soul, so far forth

*Principles II. I42

as sensitive, knoweth nothing." (Siris III.271.)। इससे पता चलता है कि बर्कले को ही अपना संवेदनावाद पसन्द नहीं हुआ था और यदि वे अपने विचारों का नये सिरे से निर्माण करते तो वे लौकीय अनुभववाद को न अपनाकर प्लेटोवाद ही को अपनाते। बात यह है कि बर्कले प्रत्ययवादी तथा अध्यात्मवादी थे और अध्यात्मवाद, संवेदनावाद (sensationalism) पर आधारित नहीं हो सकता है। यही कारण है कि प्रौढ़ावस्था के साथ उन्हें संवेदनावाद फीका मालूम देने लगा। पर चूँकि उनका लक्ष्य अपने विचारों के निष्कर्ष से था, न कि युक्तियों के माध्यम से, इसलिए उन्होंने संवेदनावाद, पर आधारित युक्तियों के माध्यम को बदलना न चाहा।

बर्कले के अनुसार तीन प्रकार की आत्मायें (spirits) हैं, अर्थात्(क) मैं, (ख) मुझे छोड़कर अन्य आत्मायें जो मेरे समान ही सीमित या परिमित हैं, और (ग) अपरिमित ईश्वर। आत्माओं का सार उनकी सक्रियता (activity) में देखा जाता है। मैं अपनी सत्ता को सहज प्रत्यक्ष (intuition) के आधार पर जानता हूँ। मैं सक्रियता को दो बातों में देखता हूँ। पहली बात यह है कि मैं जब चाहूँ, किसी प्रतिमा को अपने मन-पट पर ला सकता हूँ; और दूसरी बात है कि मैं अपने संकल्प (will) के अनुसार अपने शरीर के अंगों को हिला-डुला सकता हूँ।

अपने को छोड़कर अन्य सीमित आत्माओं को मैं साक्षात् रीति से न जानकर, साम्यानुमान (analogy) ही के आधार पर जान सकता हूँ। मैं देखता हूँ कि अन्य आत्मायें भी मेरे ही समान क्रियाओं का सम्पादन करती हैं तो मैं अनुमान लगाता हूँ कि वे भी मेरे ही समान आध्यात्मिक हैं। जैसे, मैं अपने संकल्प के अनुसार शारीरिक अंगों के द्वारा मेज बनाता हूँ और जब मैं पाता हूँ कि मेरी मेज के समान दूसरी भी मेज बनी हुई है तो मैं अनुमान करता हूँ कि वह दूसरी मेज भी मेरे समान संकल्प रखनेवाली आत्मा से बनायी गयी होगी।

पाश्चात्य दर्शन में अधिकांश विचारकों ने अन्य आत्माओं की सत्ता को साम्यानुमान पर आधारित समझा है। परन्तु समसामयिक शामुएल अलेक्जैण्डर (*) और काफका ऐसे गेस्टाल्टवादियों (†) का कहना है कि अन्य आत्माओं

* Space, Time and Deity—Vol. II.—p 31.
†Koffka. K. 'Principles of Gestalt Psychology'--ChapV11I.

को हम साक्षात् प्रत्यक्ष के आधार पर जानते हैं । आगे चलकर हम देखेंगे कि अन्य आत्माओं को अनुमित मान लेने में कठिनाई आ जाती है ।

असीम ईश्वर को हम निम्नलिखित रीति से जानते हैं । (१) मेरे अन्दर अनेक भावनायें या प्रत्यय उत्पन्न होते हैं जिन पर मेरा कोई अधिकार नहीं है । तो ये प्रत्यय किस प्रकार से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् इनका क्या उत्पादक हो सकता है ? चाहे यह उत्पादक (अ) जड़-पदार्थ होगा, या (ब) अन्य प्रत्यय ही होंगे, या (स) सीमित या असीमित आत्मा होगी । अब जड़-पदार्थ और अन्य प्रत्यय निष्क्रिय ही हैं और ये मेरे अन्दर के प्रत्यय-प्रवाह के सक्रिय उत्पादक नहीं हो सकते हैं । तब आत्माओं से ही ये प्रत्यय उत्पन्न किये जा सकते हैं । परन्तु सीमित आत्माओं की रचनाओं में इतनी स्थिरता और व्यापकता नहीं आ सकती है । फिर नदी, पहाड़, भूकम्प इत्यादि ऐसे प्रत्यय हैं जो सभी सीमित आत्माओं की इच्छाओं से परे और स्वतंत्र दीखाते हैं । इसलिते ईश्वर ही वास्तव में सभी प्रत्ययों की उत्पादक शक्ति है । हमारा यह बिश्वास सृष्टि के सौंदर्य, उसकी विशालता, पूर्णता तथा आश्चर्यजनक सामंजस्य को देखकर और भी अधिक जम जाता है । यदि हम अन्य सीमित आत्माओं की सत्ता को उनके क्षीण तथा क्षणभंगुर प्रत्ययों के आधार पर अनुमित करते हैं, तो ईश्वर की सत्ता को तो हमें बड़े आसानी से जानना चाहिए क्योंकि वह प्रबल, स्थायी, व्यवस्थित प्रत्ययों को हमारे अन्दर हर समय उत्पन्न करता रहता है । "*And after the same manner we see God*; all the difference is that, whereas some one finite and narrow assemblage of ideas denotes a particular human mind whithersoever we direct our view, we do at all times and in all places perceive manifest tokens of the Divinity—we see everything hear, feel, or anywise perceive by sense, being a sign or effect of the power of God; ....." (Principles 11. 148)

चूँकि बर्कले केवल ईश्वर ही को सभी प्रत्ययों का उत्पादक मानते हैं, इसलिए वे वाह्य जगत् में किसी भी वस्तु को दूसरी वस्तु का कारण नहीं मानते हैं । उनके अनुसार एक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय का उत्पादक नहीं है, पर एक प्रत्यय के रहने का

चिह्न-मात्र है । "The fire which I see is not the cause of the pains I suffer upon approaching it, but the mark that forewarns me of it" (Principles I1. 65) अतः ह्यूम की भाँति, बर्कले भी जगत् में कारण-कार्य के सम्बन्ध को नहीं पाते हैं। ईश्वर ही ने प्रत्ययों के बीच स्थायी तथा समरूप व्यवस्था उत्पन्न की है । इसलिये प्राकृतिक नियम ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर करते हैं, पर इसमें मनमानी नहीं है । ईश्वर का विधान स्थायी है ताकि हम प्रत्ययों की भाषा सीखकर इनके अनुसार कार्य करें । फिर प्राकृतिक नियमों को खोजकर उनकी नकल करें और यंत्रों की रचना कर अपने जीवन को सुखी कर सकें (*) ।

बर्कले आत्मवादी थे और इसमें उनका विश्वास इतना दृढ़ था कि उन्होंने आत्माओं के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए विशेष चेष्टा नहीं की है । पर यदि हम उनकी बतायी उक्तियों पर ध्यान दें तो वे हमें सही नहीं जँचेगी । बर्कले के अनुसार आत्म-ज्ञान सहज प्रत्यक्ष (intuition) के आधार पर होता हैं । परन्तु आगे चलकर ह्यूम तथा काण्ट की गम्भीर खोजों के अनुसार स्थायी अहमात्मा को हम अनुभव के आधार पर नहीं प्राप्त करते हैं। फिर अन्य आत्माओं को हम किस प्रकार से जान सकते हैं ? बर्कले का कहना है कि हम अन्य सीमित आत्माओं को उनके द्वारा उत्पादित प्रत्ययों के आधार पर जानते है । परन्तु ये उत्पादित प्रत्यय, अन्य प्रत्ययों के समान निष्क्रिय हैं । तो निष्क्रय उत्पादित प्रत्ययों के आधार पर सक्रिय आत्माओं की सत्ता को कैसे प्रमाणित कर सकते हैं ? अब यदि प्रत्ययों के आधार पर अनुभूत जड़ पदार्थ की सत्ता प्रमाणित नहीं हो सकती है, तो इसी युक्ति के आधार पर अन्य सीमित आत्माओं की सत्ता, साक्षात् प्रत्यक्ष पर न आधारित रहने के कारण, सिद्ध नहीं की जा सकती है । यही तर्क ईश्वर की सत्ता में भी लागू होता हैं । ईश्वर का अस्तित्व भी उत्पादित प्रत्ययों पर आधारित है; और चूँकि ये उत्पादित प्रत्यय निष्क्रिय हैं; इसलिये ठीक इसके विपरीत सारगुणावाले सक्रिय ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं हो पाती हैं । स्वयं बर्कले ने बताया है कि ईश्वर की सत्ता और उसका ज्ञान मानव सत्ता और ज्ञान से भिन्न हैं (†) । इस दशा में ईश्वर की सत्ता मानव

* Principles, section 11. 60-64

†Fraser, A. C. 'Selections from Berkeey'—pp. 258-6I

प्रत्यय के आधार पर और भी कम युक्तिसंगत हो जाती है। यहाँ पर ईश्वर की आत्मा अपरिमित और अनूठी हैं और इस प्रकार की आत्मा हमें कभी भी प्रत्यक्ष नहीं होती है। अतः, इस प्रकार की आत्मा की सत्ता अनुमेय भी नहीं हो सकती है।

बर्कले का अध्यात्मवाद तथा प्रत्ययवाद

esse-percipi

अध्यात्मवाद के अनुसार आत्मा ही परम सत्ता है। चूँकि बर्कले के अनुसार आत्मा और उसके प्रत्यय ही एक मात्र सत्तायें है, इसलिये बर्कले के दर्शन को अध्यात्मवाद कहा जा सकता है। परन्तु इस अध्यात्मवाद की जड़ esse est percipi के सिद्धान्त पर आधारित है। इसलिए इसे प्रत्ययवाद(idealism) भी कहा जा सकता है। प्रत्ययवाद के अनुसार परम सत्ता वह है जिसे युक्तिसंगत मानसिक विचारों की राशि कहा जा सकता है। अब बर्कले का कहना है कि समस्त विश्व प्रत्यय है और इस दृष्टिकोण से इसे प्रत्ययवाद कहा जा सकता है।

यदि सभी कुछ प्रत्यय हो और प्रत्यय से बर्कले का अर्थ वस्तुबोध (perception) हो तो यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि सभी वस्तुओं को प्रत्यय मानकर वर्कले ने जगत् को काल्पनिक बना दिया है। परन्तु इस आपत्ति का समाधान करते हुए बर्कले ने बताया है कि सभी वस्तुओं को प्रत्यय मान लेने पर भी वास्तविकता (reality) और कल्पना (imaginary) का भेद रह जाता है। वास्तविक जगत् वह है जिसमें स्थायी, व्यवस्थित तथा नियमानुकूल प्रत्यय हों; और कल्पना वह है जिसमें अनिश्चित, क्षणिक तथा असम्बद्ध प्रत्यय हों। जब कहा जाता है कि सभी वस्तु प्रत्यय हैं, तो इससे इसी बात पर जोर दिया जाता है कि वही वास्तविकता है जो हमें पूर्णतया अनुभूत हो। यदि हम अनुभूत को वास्तविक मान लें, तो यहीं पर कल्पना का पूरा स्थान देखने में आयेगा। अतः, सभी वस्तुओं को प्रत्यय मानने से वास्तविकता की पूरी संरक्षा होती है।

लेकिन दूसरी विशेष आपत्ति की जा सकती है कि प्रत्यय मन में रहते हैं और यदि सभी वस्तुएँ प्रत्यय हों तो सभी वस्तुएं मन की आन्तरिक दशाएँ हो जायंगी। पर यथार्थ में हमें वस्तुएँ मन के परे और बाहर दीखती हैं, तो क्या

वास्तव में वस्तुएँ मन के बाहर नहीं हैं ? इस आपत्ति का समाधान करते हुए बर्कले बताते हैं कि प्रत्यय मन में अवश्य हैं, पर ये काल्पनिक न होकर वास्तविक हैं और इस अर्थ में वस्तुएँ मानव मन से परे, स्वतन्त्र और बाहर है । जब हम वस्तुओं को मन के प्रत्यय बताते हैं तो यहाँ इससे इतना ही बोध होता है कि कोई भी प्रत्यय मन के चिन्तन का विषय(objects)है, न कि यह मन का गुण(attribute) या धर्म है, और न यह कि प्रत्यय होने के नाते वस्तुएँ मन में उसी तरह रहती हैं जिस प्रकार से वस्त्र बौक्स के अन्दर होते हैं। प्रत्यय और मन में ज्ञेय, ज्ञाता का सम्बन्ध है । अब यह स्पष्ट हैं कि ज्ञेय, ज्ञाता से परे हैं और इस तरह वस्तुएँ भी मन से परे, स्वतन्त्र और बाहर हैं । अब निम्नलिखित रूप से हम वस्तुओं के बाहरीपन (externality) को समझ सकते हैं :

(१) पहली बात हैं कि वस्तुएँ मन के इस अर्थ में बाहर या परे हैं कि ये मन के विषय या ज्ञेय पदार्थ हैं जिसे मानव ज्ञाता जानने की कोशिश करता है। इस दृष्टिकोण से बर्कले वस्तुओं को आन्तरीकृत (internalised) न करके वास्तव में प्रत्ययों का बाह्यीकरण (externalisation) करते हैं । "I am not for changing things into ideas but rather ideas into things" (Dialogues 1.—p.463)

(२) फिर वस्तुएँ इस माने में बाहर हैं कि वे व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर नहीं रहती हैं । यदि हम प्रकाश में अपनी आँखों को खोलें तो हम चाहें या न चाहें जिस वस्तु का जो भी रंग होगा वह हमें संवेदित होगा । उसी प्रकार से ताप, ठंढ़, आवाज इत्यादि हमारी इच्छाओं पर निर्भर न रहने के कारण प्रत्यय स्वतन्त्र तथा बाहर कहे जाते हैं ।

(३) फिर वस्तु को इसलिए भी बाहर कहा जाता है कि वह किसी एक व्यक्ति ही के प्रत्यय पर निर्भर नहीं रहती है । हो सकता है कि कोई एक वस्तु किसी एक व्यक्ति के मन में न हो, पर वह अन्य व्यक्तियों के मन में हो सकती है ।

(४) पर विशेषतया वस्तुओं को व्यक्तियों के मन के बाहर इसलिए कहा जाता है कि वे ईश्वर के द्वारा उत्पादित की जाती हैं और प्रत्ययों का उत्पादक ईश्वर सभी सीमित आत्माओं और उनके मन से परे हैं, और इसलिए सभी वस्तु मानव मन से परे, स्वतन्त्र और बाहर हैं ।

(५) शायद जिन वस्तुओं को मानव, प्रत्यय के रूप में ग्रहण करते हैं वे गौण हैं क्योंकि इनका आदिरूप (archetypes) ईश्वर के मन में रहता है। अब चूंकि वस्तुओं का आदिरूप मानवों से बाहर और स्वतन्त्र है, इसलिए यथार्थ में वस्तुएँ हमारे मन से बाहर हैं।

यदि प्रत्यय ही वस्तु है तो क्या हम प्रत्यय ही पीते और खाते हैं ? वास्तव में बात यही है, पर कहने की शैली मुहावरेदार होनी चाहिए। इसलिए हमें आम जनता की भाषा में बोलना चाहिए, पर हमारे विचारने की शैली पंडित की होनी चाहिए। पर यदि प्रत्यय ही वस्तु हो, और यदि मानव प्रत्यय क्षणभंगुर, परिवर्त्तनशील तथा अस्थायी हो, तो वस्तुएँ भी क्षणिक और अस्थायी ठहरेंगी। इस आपत्ति का समाधान करते हुए बर्कले बताते हैं, कि प्रत्यय वस्तु हैं, पर प्रश्न उठता है कि किसका प्रत्यय ? एक ही समय और एक ही व्यक्ति के प्रत्यय को वस्तु नहीं कहा जा सकता है। ऐसा प्रत्यय जिसके हर समय होने की सम्भावना हो वही वस्तु होगा, आर्थात् जिस प्रत्यय के होने की स्थायी संभावना (Permanent possibility) हो वही वस्तु होगा। फिर हो सकता है कि यदि एक ही व्यक्ति को कोई अमुक प्रत्यय न हो तो यह अन्य व्यक्तियों के मन में हो सकता है। जैसे, इस समय यदि मैं घर से बाहर चला जाऊँ, तो अपने घर की मेज मैं नहीं देख पाऊंगा। फिर भी यह मेज अन्य व्यक्तियों की प्रतीति में हो सकती है। इसलिए अन्य व्यक्तियों के मन में रहनेवाले प्रत्यय को वस्तु कहा जा सकता है और इस प्रकार से प्रत्यय क्षणभंगुर और इतना अस्थायी नहीं दीख पड़ेगा। परन्तु सीमित आत्माओं की चेतना सभी वस्तुओं को जारी रखने में असमर्थ हो सकती है और इसलिए वास्तव में प्रत्यय जिसे हम वस्तु समझते हैं वे ईश्वर के स्थायी, शाश्वत तथा सर्वकालीन मन में विराजते हैं और इस दृष्टिकोण से प्रत्यय स्थायी, शाश्वत और व्यवस्थित रहते हैं और इसी प्रकार के प्रत्यय को हम वस्तु कह सकते हैं। अन्त में बर्कले के अनुसार प्रत्यय ईश्वर के मन में आदिरूप (archetypes) की दशा में रहते हैं जिसे मानव मन नकल करता हैं। अत:, बर्कले का संवेदनावाद प्लेटो के प्रत्ययवाद में परिणत हो जाता है।

यदि हम बर्कले की युक्तियों पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यय वस्तु है, पर ये ईश्वर के मन के आदिरूपात्मक प्रत्यय हैं। इस तरह ईश्वर की शरण लेने पर ही बर्कले सिद्ध कर पाये हैं कि वस्तु का सार या तत्त्व उसके

प्रत्यय पर निर्भर करता है। पर बर्कले ने मानव प्रत्यय अथवा संवेदनावाद से ही अपने प्रत्ययवाद को प्रारम्भ किया था और अब हम इस निष्कर्ष पर आये हैं कि मानव प्रत्यय नहीं, पर ईश्वरीय प्रत्यय ही वस्तुओं का सार या तत्त्व है। पर क्या मानव और ईश्वरीय प्रत्यय एक समान हैं? ईश्वर के प्रत्यय उत्पादक सृष्ट्यात्मक (creative) तथा स्थायी हैं, पर मानव प्रत्यय उनके गौण प्रतिलिपि या नकल हैं जो क्षीण, अस्थायी, अक्रमबद्ध तथा क्षणिक है। फिर ईश्वर को मानव के समान इन्द्रिय नहीं है, और मानव प्रत्यय इन्द्रियों पर आधारित रहते हैं। "God perceives nothing by sense as we do....God knows or hath ideas but his ideas are not conveyed to him by senses as ours are (Dialogues I. 459)। ऐसी दशा में यदि हम मानव संवेदना को प्रत्यय कहें तो ईश्वरीय ज्ञान को प्रत्यय के नाम से नहीं पुकारा जा सकता है। अतः, ईश्वरीय और मानव प्रत्यय में जातीय अथवा प्राकारिक अन्तर है। इस अवस्था में यदि ईश्वरीय प्रत्यय वस्तु हों तो मानव प्रत्ययों को हम वस्तु नहीं कह सकते हैं। बर्कले ने ईश्वरीय प्रत्ययों को ही वस्तु कहा है, क्योंकि मानव प्रत्ययों के आधार पर वस्तुओं का बाह्यपन तथा स्थायित्व नहीं स्पष्ट किया जा सकता है। पर क्या ईश्वरीय प्रत्यय को वस्तु मान लेने से बर्कले के प्रत्ययवाद की रक्षा होती हैं?

ईश्वरीय प्रत्यय शाश्वत, कालातीत तथा शुद्ध आदिरूप में पाये जाते हैं, पर प्रश्न उठता है कि मानव इस प्रकार के इन्द्रियातीत (non-sensible) प्रत्ययों को अपनी इन्द्रियों से कैसे जान सकते हैं? जब भी कोई व्यक्ति ईश्वरीय प्रत्ययों को जानेगा तो वह मानवीय प्रत्यय होगा, न कि ईश्वरीय; क्योंकि मानव, मानव तल और मानव मार्ग ही का अनुसरण कर सकता है। अतः यदि ईश्वरीय प्रत्यय हों भी तो मानव ईश्वरीय प्रत्यय को उनके आदिरूप में नहीं जान सकते हैं। इस रीति से यदि हम मान भी लें कि (esse) या वस्तु-सार उसके ईश्वरीय प्रत्यय पर निर्भर करता है तो यह ऐसा प्रत्यय है जो मानव अनुभूति से परे है, और इसलिए बर्कले का प्रत्ययवाद संशयवाद में परिणत हो जाता है। अतः बर्कले के *esse est percipi* की आधार-शिला अधूरी और संशययुक्त हो जाती है।

क्या बर्कले विषयीगत (Subjective) प्रत्ययवादी थे?

विषयीगत (Subjective) और बिषयगत (Objective), दो प्रकार का प्रत्ययवाद माना जाता है। विषयी और विषय, ज्ञान-प्रसंग में आते

हैं । ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता से परस्पर संयोग से उत्पन्न होता हैं । वह ज्ञान जो ज्ञाता या विषयी पर ही आधारित हो उसे विषयीगत ज्ञान कहा जाता है। जैसे, लौक के अनुसार गौण गुण विषयी पर आधारित रहता है । परन्तु वह ज्ञान जो ज्ञेय या विषय पर ही अवलम्बित हो विषयगत कहा जाता है। यहाँ ज्ञेय या विषय की सत्ता को ज्ञान की सत्तासे परे तथा स्वतंन्त्र माना जाता हैं। लौक के प्रसंग में हमने देखा है कि प्राथमिक गुण को विषयगत कहा गया है ।

उस प्रत्ययवाद को विषयीगत कहा जायगा जिसके अनुसार प्रत्यय, ज्ञाता अथवा विषयी (subject, knower or pereciver) पर ही आधारित रहता है । संगत रूप से यदि कोई मानें कि प्रत्यय वस्तु है और प्रत्यय विषयीगत है, तो अन्य ज्ञाता भी किसी एक ही विषयी के प्रत्यय हो जाते हैं और वह सिद्धान्त जिसके अनुसार सभी वस्तुयें केवल एक व्यक्ति या ज्ञाता के प्रत्यय मानी जाती हैं, एकात्म-सत्तावाद (solipsism) कहा जाता है । दर्शन के इतिहास में किसी विचारक ने खुलकर एकात्मसत्तावाद को नहीं अपनाया है और निस्सन्देह बर्कले को एकात्मसत्तावादी नहीं कहा जा सकता हैं । पर क्या उन्हें विषयीगत प्रत्ययवादी कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर बर्कले के प्रत्यय-सिद्धान्त पर निर्भर करता है । यदि वे प्रत्यय को आत्मनिष्ठों या आत्मगत मानते हों तो वे विषयीगत होंगे और यदि वे विषयी से परे प्रत्ययों की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं, साधारणतया उन्हें विषयगत प्रत्ययवादी कहना चाहिए ।

हमलोगों ने पहले ही देखा है कि बर्कले के अनुसार प्रत्यय आत्मनिष्ठ नहीं हैं । उन्होंने प्रत्ययों का बाह्यीकरण किया है, अर्थात् माना है कि व्यक्तियों से परे प्रत्ययों की सत्ता है । प्रत्यय मन का विषय है, न कि मन का धर्म है । कल्पना से भिन्न वास्तविक प्रत्यय व्यक्तियों अथवा ज्ञाताओं से परे हैं और वे स्थायी, शाश्वत तथा सुदृढ़ नियमों से जकड़े हुए हैं । फिर वे व्यक्तियों की इच्छाओं पर निर्भर नहीं रहते हैं । साथ-ही-साथ बर्कले यह भी मानते हैं कि उन्हें छोड़कर अन्य विषयी या ज्ञाता भी हैं । अन्त में, उनका कहना है कि वास्तव में सभी प्रत्यय ईश्वर के शाश्वत तथा कालातीत मन में हैं और इसलिए मानवों के लिए सभी वैयक्तिक प्रत्यय स्वतन्त्र, विषयनिष्ठ तथा अतिव्यक्तिक (trans-subjective) है । अतः, साधारण अर्थ में बर्कले को विषयगत (objective) प्रत्ययवादी कहना चाहिए । परन्तु साधारण अर्थ से भिन्न विषयगत

प्रत्ययवाद का पारिभाषिक या विशेष अर्थ है और इस विशेष अर्थ में बर्कले को विषयगत प्रत्ययवादी नहीं कहा जा सकता है। हेगेल के प्रत्ययवाद को विषयगय प्रत्ययवाद का नमूना माना जाता है और इस विषयगत प्रत्ययवाद के तीन मुख्य लक्षण हैं, अर्थात् (१) इसमें ईश्वर और विश्व का अवियोज्य सम्बन्ध कहा जाता है, (२) वस्तुओं की सत्ता प्रत्यय न होकर सामान्य प्रत्यय या धारणा को (concepts or categories) माना जाता है, और (३) मानव तथा ईश्वरीय विचार में प्राकारिक अन्तर न मानकर केवल परिमाणगत ही अन्तर को स्वीकार किया जाता और इन तीनों लक्षणों में बर्कलीय प्रत्ययवाद हेगेलीय प्रत्ययवाद से भिन्न होने के कारण विषयगत न कहलाकर विषयीगत समझा जाता है। अब हम इन तीनों लक्षणों की व्याख्या करके दिखलायेंगे कि बर्कले का प्रत्ययवाद विषयगत न होकर, विषयीगत कहलायेगा।

हेगेल के अनुसार परम सत्ता एक निरपेक्ष (absolute) प्रत्यय है जो विकासात्मक है। इसका विकासवाद (thesis), प्रतिवाद (anti-thesis) और युक्तिवाद या समन्वय (synthesis) के साथ द्वन्द्वात्मक (dialectical रीति के अनुसार होता जाता है। इसी द्वन्द्वात्मक विधि के फलस्वरूप वर्त्तमान विश्व विकासतमक रूप में है। इस निरपेक्ष प्रत्यय को इश्वर भी कहा जा सकता है। अतः, ईश्वर के द्वारा विश्व की रचना होती जाती है। दूसरे शब्दों में ईश्वर और विश्व दोनों अवियोज्य रीति से आबद्ध हैं। विश्व, ईश्वर का ही रूप है और दोनों का सम्बन्ध उसी प्रकार का है जिस प्रकार का सम्बन्ध चित्रकार का चित्र से या कवि का कविता से है। कवि उसी क्षण तक कवि हैं जिस क्षण तक कविता करता रहता है और चित्रकार तभी तक चित्रकार है जब तक वह चित्र वनाता रहता है। उसी प्रकार से ईश्वर निरन्तर सृष्टिकर्त्ता के रूप में निरन्तर सृष्टि की रचना करता रहता है। बिना चित्र के चित्रकार नहीं, और बिना कविता के कवि सम्भब नहीं हो सकता है। उसी तरह से विना सृष्टि के सृष्टिकर्त्ता ईश्वर भी सम्भव नहीं हो सकता है। अतः, यदि बिना ईश्वर के विश्व सम्भव नहीं है, तो बिना विश्व के ईश्वर भी सम्भव नहीं है। इसलिए हेगेलीय विषयगत प्रत्ययवाद के अनुसार ईश्वर और विश्व का पारम्परिक अवियोज्य (inseparable) सम्बन्ध है। परन्तु बर्कले के अनुमार बिना ईश्वर के विश्व सम्भव नहीं है, पर बिना विश्व के ईश्वर की सत्ता हो सकती है, क्योंकि विश्व का अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है और यदि

ईश्वर की इच्छा बिना विश्व के रहने की हो, तो यह सम्भव है। अब चूँकि बर्कले ईश्वर और विश्व के बीच अवियोज्य सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते हैं, इसलिए इनके प्रत्ययवाद को दार्शनिक अर्थ में विषयगत नहीं कहा जा सकता है।

फिर हेगेलीय प्रत्ययवाद के अनुसार संवेदित प्रत्यय को वास्तविक पदार्थ नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण है कि एक ही चाँद की संवेदना भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न मालूम देती है। फिर एक ही व्यक्ति को भी भिन्न-भिन्न समय में चाँद की संवेदना भी भिन्न-भिन्न रहती है। इस अवस्था में यदि संवेदना को प्रत्यय कहा जाय और प्रत्यय को वस्तु कहा जाय तो किसी भी विषय में मतैक्य कैसे होगा ? और यदि मतैक्य न हो तो ज्ञान की अतिव्यक्तिकता कैसे होगी ? वास्तव में विषयगतता (objectivity) वह है जिसमें सभी ज्ञाता को एक ही विषय मालूम दे। इसलिए हेगेल के अनुसार सामान्य प्रत्यय अथवा मूलधारणायें (categories) ही वस्तु हैं। देश, काल, कारण-कार्य इत्यादि मूलधारणायें हैं जो सभी व्यक्तियों में एक रूप में पायी जाती है और इन्हीं मूल धारणाओं से वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान बनता हैं। इसलिए हेगेल के अनुसार वही वास्तविक है जो युक्ति संगत है और वही युक्ति-संगत है जो वास्तविक भी है (real is rational, and the rational is real)। अतः, बर्कले के प्रत्यय मनोवैज्ञानिक संवेदनायें हैं, परन्तु हेगेल के प्रत्यय विचार-निष्ठ मूल धारणायें हैं जिन्हें हम तार्किक सत्तायें कह सकते हैं। अतः, बर्कले के प्रत्ययवाद में सापेक्षता तथा विषयीगतता उसे कहा जाता है जो कुछ ही ज्ञाताओं को सत्य मालूम दे, पर जा सार्वभौमिक रूप से सभी ज्ञाताओं को सत्य न मालूम दे। परन्तु हेगेल के प्रत्यय सभी व्यक्तियों में समान होने के कारण सार्वभौमिक माने जाते हैं। इस दृष्टिकोण से भी बर्कले का प्रत्ययवाद विषयगत समझा जायेगा।

फिर बर्कले के अनुसार ईश्वरीय प्रत्यय वस्तुयें हैं और उनके अनुसार ये मानव प्रत्ययों से एक दम भिन्न हैं। परन्तु ऐसा मान लेने से अज्ञेयवाद तथा संशयवाद का स्थान रह जाता है। परन्तु हेगेल के अनुसार ईश्वरीय विचार और मानव विचार में केवल परिमाण का ही अन्तर है। मानव ईश्वर ही की सीमित-अभिव्यक्ति है और इसलिए मानव विचार भी ईश्वरीय विचार की सीमित अभिव्यक्ति है। यह ठीक है कि ईश्वरीय विचारपूर्ण है और अतिमूर्त अवस्था में पाये जाते हैं, परन्तु मानव विचार, ईश्वर की तुलना में अधिक
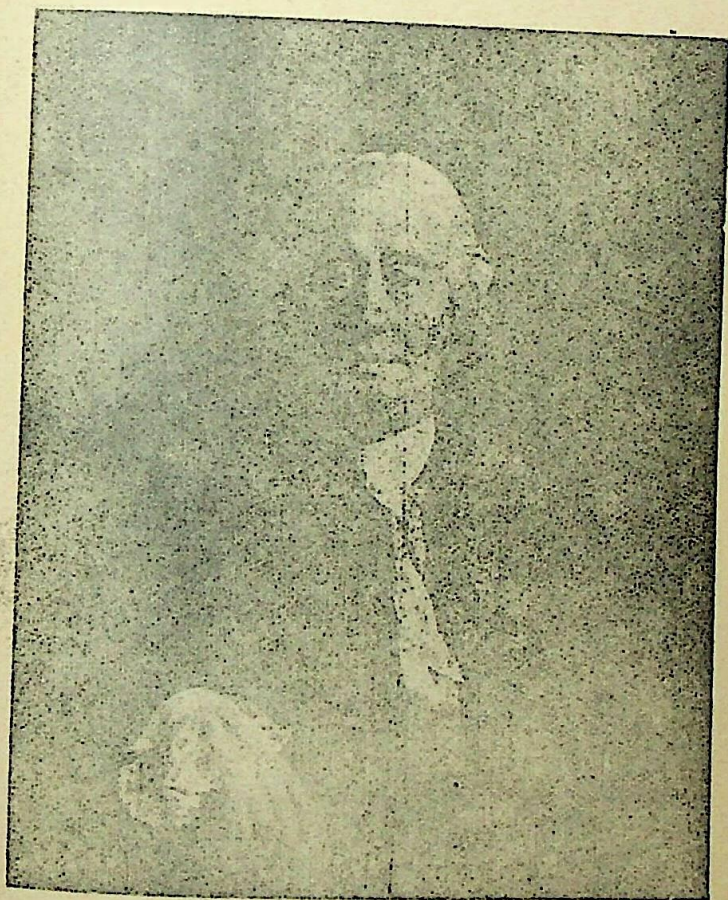
DAVID HUME (1711 to 1776)
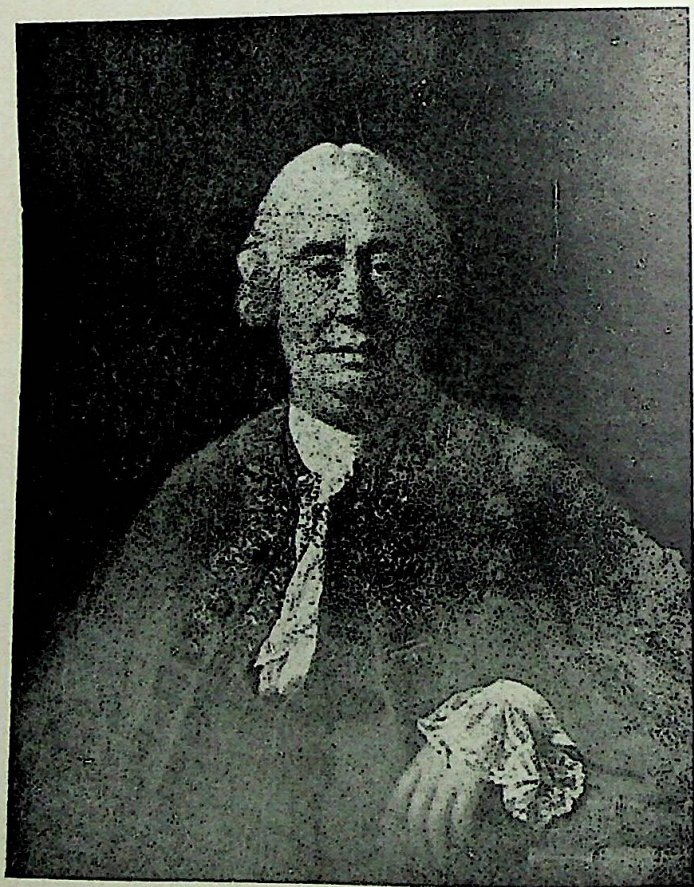
DAVID HUME (1711 to 1776)

अमूर्त तथा अधूरे हैं। जितना ही अधिक मानव विचारों में विकास आता जायगा और वे उन्नत और युक्तिपूर्ण होते जायेंगे उतने ही अधिक परिमाण में ईश्वरीय विचार के समीप पहुँचते जायँगे।

अतः, बर्कले के प्रत्ययवाद को साधारणतया विषयगत कहा जा सकता है, परन्तु दर्शन के इतिहास में 'विषयगत प्रत्ययवाद' का विशेष अर्थ है और इस अर्थ में बर्कलीय प्रत्ययवाद को विषयीगत मानना अधिक संगत होगा।

डेविड ह्यूम (१७११-१७७६)

आपका जन्म स्कॉटलैंड में २६ अप्रैल, १७११ में हुआ था और आपका देहान्त २५ अगस्त १७७६ में हो गया। आप बृटिश समसामयिक विचारकों में अति प्रखर आलोचक माने जाते हैं और तार्किक अनुभववाद में आप का नाम बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। परन्तु यद्यपि ह्यूम को अ-बौद्धिकवादी (anti-intellectualist) तथा प्रत्यक्षवादी (positivist) कहा जा सकता है, तथापि आधुनिक दर्शन के इतिहास में आपके विचार को संशयवाद (scepticism) माना गया है और इसी रूप में ह्यूम ने काण्ट को दार्शनिक निद्रा से जगाया था। हम आगे चलकर निर्णय करेंगे कि वास्तव में ह्यूम के दर्शन को क्या कहा जा सकता है, पर अब हम इनकी मुख्य कृतियों के आधार पर इनके मौलिक सिद्धान्तों की व्याख्या करेंगे।

डेविड ह्यूम दर्शन और इतिहास के विद्वान थे और ये इनकी मुख्य रचनायें हैं: Treatise of Human Nature(1734-37),Essays(174-1 42), Enquiry concerning Human understanding (17-48), Enquiry into the principles of morals (1751), Natural history of Religion (1757), History cf England (1754-1762), इत्यादि।

ह्यूम के दर्शन की आधारशिला या नींव

लॉक और बर्कले ने ज्ञान-मीमांसा के बीज-तत्व (elements) को जानने के लिए मनोवैज्ञानिक विधि की मदद ली थी। ह्यूम भी उसी परम्परा को

अपनाते हैं । परन्तु ये यथासम्भव लॉक बर्कले के मूल को सरल और संगत बनाने की कोशिश करते हैं । ह्यूम के अनुसार ज्ञान की रचना में दो ही प्रकार के बीजतत्त्व पाये जाते हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष (impression) और उसका प्रत्यय । प्रत्यय (idea) से अर्थ है प्रत्यक्ष की प्रतिमा (images) या उसकी नकल । संवेदनाओं को ह्यूम ने मुख्य माना है । आत्मचिन्तन, संवेदनाओं की नकल नहीं है , पर संवेदनाओं की तुलना में उसे गौण कहा जायगा ।

प्रत्यक्ष को मूल तथा प्राथमिक बीजतत्त्व कहा गया है और प्रत्यय (idea) को उसकी नकल बतायी गई है । बिना अनुरूप प्रत्यक्ष के प्रत्यय सम्भव नहीं हो सकते हैं । अतः, प्रत्यक्ष पहले होता है, तब उसका प्रत्यय हो सकता है । जहाँ भी सरल प्रत्यय होगा वहाँ उसके अनुरूप अवश्य ही प्रत्यक्ष को भी रहना चाहिए । परन्तु हम सरल प्रत्ययों को जोड़कर यौगिक अथा मिश्रित प्रत्यय बना सकते हैं, जैसे, उड़न-खटोला का प्रत्यय । अब मिश्रित प्रत्यय के लिए जरूरी नहीं है कि यह वास्तव में प्रत्यक्षों की नकल हो । फिर प्रत्यक्ष, प्रत्ययों की अपेक्षा सतेज, सजीव तथा प्रबल होते हैं और उनकी अपेक्षा प्रत्यय निस्तेज तथा क्षीण होते हैं ।

लॉक ने माना था कि संवेदनाओं का उत्पादक कारण, जड़-जगत् को समझना चाहिए । बर्कले ने जड़-पदार्थ को अस्वीकार किया हैं, पर प्रत्ययों या संवेदनाओं को मानसिक माना है । ह्यूम ने बताया है कि संवेदनाएँ जिन्हें हम निश्चय रीति से जानते हैं, न तो भौतिक ही समझी जा सकती हैं और न मानसिक ही ।* रसेल, मूर, इत्यादि वर्त्तमानकालिक विचारकों के अनुसार, हम निश्चित तथा अननुमित बीज-तत्त्व को संवेदित वस्तु (sense -datum) कह सकते हैं । इन्हें हम तटस्थ वस्तु कह सकते हैं, जिनसे हम जड़ तथा मन, दोनों प्रकार के द्रव्यों का रचना कर सकते हैं ।

---

* यहाँ ह्यूम का कहना है कि हम नहीं कह सकते हैं कि: Whether impression "arises immediately from the obiect, or are produced by the creative power of the mind or are derived from the author of our being." (Selby—Bigge, 'Hume's Treatise' — p. 84)

ह्यूम का प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि जहाँ भेद (difference) किया जा सकता है, वहाँ पृथकता या पार्थक्य (separation) भी अवश्य होता है (what is distinguishable, is separable)। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी प्रत्यक्ष एक दूसरे से अलग और पृथक सरल अवयव के रूप में पाये जाते हैं। चूँकि सरल अवयव की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है; और अणुओं को सरल, शाश्वत द्रव्य माना जाता है, इसलिए ह्यूम के संवेदना वाद को संवेदन अणुवाद भी कहा जाता है। चूँकि प्रत्यक्ष निरवयव सरल बीजतत्त्व (elements) है, इसलिए किसी भी दो सरल प्रत्यक्षों में आन्तरिक अथवा अनिवार्य सम्बन्ध नहीं हो सकता है। परन्तु बिना प्रत्ययों तथा प्रत्यक्षों के बीच सम्बन्ध स्थापित किये हुए ज्ञान सम्भव नहीं है। इसलिए ह्यूम ने माना है कि प्रत्यक्षों तथा प्रत्ययों के बीच आन्तरिक सम्बन्ध न होकर बाह्य सम्बन्ध सम्भव है। इस प्रकार के सम्बन्ध को, ह्यूम ने साहचर्य-सम्बन्ध (relation of association) कहा है। अतः, आगे चलकर हम देखेंगे कि ह्यूम के अनुसार प्रत्ययों में तार्किक या आन्तरिक सम्बन्ध न होकर केवल बाह्य की सम्बन्ध पाया जाता है। यह बाह्य साहचर्य सम्बन्ध हमारी आदत और कल्पना पर निर्भर करता है। परन्तु जब तक हम प्रत्ययों के बीच आन्तरिक सम्बन्ध न मानें, तब तक किसी भी ज्ञान को जो इनके सम्बन्ध पर आधारित रहता है अनिवार्य तथा असन्दिग्ध नहीं कहा जाता है। यही कारण है कि ज्ञान को बाहरी सम्बन्ध पर आधारित मान लेने पर ह्यूम के विचार में संशयवाद (Scepticism) आ जाता है।

ह्यूम के अनुसार, ज्ञान की इमारत प्रत्यक्ष और उनके अनुरूप प्रत्यय पर खड़ी हुई है। हम अपनी कल्पना को आकाश और पाताल तक क्यों नहीं दौड़ा दें, परन्तु उनकी रास इन प्रत्यक्ष और प्रत्यय की सीमा से बाहर नहीं जा सकती है। "Let us chase our imagination to the heavens, or to the utmost limits of the universe; we never really advance or step beyond ourselves, nor can conceive and kind of existence, but these perceptions, which have appeared in the narrow compass." (Selby-Bigge-Ibid-p. 67) परन्तु हमें देखना है कि मन अपनी रचनात्मक प्रक्रिया से नवीन प्रत्ययों का निर्माण करता है या नहीं। यह ठीक है कि वर्त्तमानकालिक मनोविज्ञान में गेस्टाल्टवादियों ने ह्यूमी अनुवाद का मुँहतोड़ जवाब दिया है। परन्तु यदि हम गेस्टाल्टवादियों की बात छोड़ भी दें, तोभी ह्यूम की रचना

से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्ययों के निर्माण में मन नवीन रचना कर सकता है जिसे हम प्रत्ययों की नकल नहीं कह सकते ।

ह्यूम ने बड़े परिश्रम और सावधानी से सिद्ध करने की कोशिश की है कि कोई भी सरल प्रत्यय बिना उसके अनुरूप प्रत्यक्ष के सम्भव नहीं है । परन्तु इस अपवादरहित सिद्धान्त में उन्होंने स्वयं एक अपवाद की सम्भावना दिखाई है । यदि नीले रंग की दस मात्राएँ या उपरंग (shades) हो और किसी को एक उपरंग को छोड़कर अन्य सभी उपरंग को दिखाया जाय, तो उस उपरंग का जिसे नहीं दिखाया गया है, वह प्रत्यय कर ले सकता हैं (†)। अतः, यहाँ बिना प्रत्यक्ष के भी सरल प्रत्यय सम्भव हो सकता है, परन्तु ह्यूम ने इसे ऐसा अनूठा उदाहरण माना है कि "tis scarce worth our observing, and does not merit that, for it alone, we should alter our general maxim." परन्तु यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि अवसर पड़ने पर मनहीके आधार पर नवीन प्रत्यय की रचना की जा सकती है जो हमें प्रत्यक्ष से ही प्राप्त नहीं होता है ।

फिर यदि हमें किसी रंग विशेष का प्रत्यय हो तो क्या इससे किसी एक विशेष उपरंग ही का बोध होता है, या उस रंग के अनेक उपरंगों का बोध होता हैं ? लौक के अनुसार किसी एक रंग विशेष का प्रत्यय अनेक रंगों और उपरंगों का प्रतिनिधित्व करता है । जनसाधारण के लिए भी यह स्पष्ट है कि हमारा प्रत्यय कितना ही विशिष्ट (particularised) क्यों न हो, यह एक से अधिक रंगों का बोध करता है । यह ठीक हैं कि ह्यूम ने प्रत्ययों को प्रत्यक्षों की नकल माना है, पर क्या वास्तव में ह्यूम ने दिखला दिया है कि इन दोनों में लिपि और प्रतिलिपि का सम्बन्ध हैं ? उनकी पहली कसौटी है कि प्रत्यक्ष सजीव और सतेज है, और प्रत्यय निस्तेज तथा क्षीण है । पर स्वयं ह्यूम ने बताया है कि ज्वर, पागलपन तथा भ्रांति में प्रत्यक्ष की अपेक्षा प्रत्यय ही अधिक सजीव और सतेज दीखता है (*) । फिर प्रत्ययों को प्रत्यक्षों की की प्रतिलिपियां हम केवल स्मृति ही के अधार पर दिखा सकते हैं, परन्तु क्या स्मृति के आधार पर हम प्रत्यक्ष का साक्षात्कार कर सकते हैं ? स्मृति के द्वारा केवल प्रत्यय ही मिल सकता है, न कि प्रत्यक्ष, "it being imposs-

† Ibid—P-2

* Selby-Bigge.Ibid-pp. 5-6

ible to recall the past impression in order to compare them with our present ideas, and see whether their arrangement be exactly similar."(**)। ऐसी अवस्था में हम कसे कह सकते हैं कि प्रत्यय, प्रत्यक्ष की नकल है? अतः, हमें मानना पडता है कि प्रत्ययों में मन की रचना पाई जाती है और यह कहना है कि ये केवल क्षीण तथा पूर्व प्रत्यक्षों की ही ध्वनिमात्र है, ठीक नहीं जँचता है । पर यदि हम मान लें कि प्रत्ययो में, प्रत्यक्षों के अतिरिक्त कुछ और अंश हो सकते हैं, तो प्रत्यक्षों पर आधारित अनुभववाद का खण्डन हो जाता है।

फिर ह्यूम ने माना है कि प्रत्यक्ष सरल तथा स्वाधीन हैं। ऐसी अवस्था में प्रत्यक्षों तथा उनकी क्षीण प्रतिलिपि प्रत्ययों के बीच कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं हो सकता है। पर क्या प्रत्यक्ष और उसके प्रत्यय में सम्बन्ध है ? ह्यूम ने उनके बीच सही नकलपन या प्रतिलिपित्व का सम्बन्ध माना है। पर क्या यह सम्बन्ध आन्तरिक है या बाहरी ? जहाँ तक हम अटकल लगा सकते हैं, ह्यूम इनके सम्बन्ध को आन्तरिक ही मानेंगे। परन्तु हम कैसे जानें कि इनके बीच का सम्बन्ध आन्तरिक है ? प्रत्यक्ष से ही यह सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सकता हैं, क्योंकि भेद तथा सादृश्य स्वयं किसी प्रत्यक्ष से जाने नहीं जा सकते हैं। प्रत्यक्ष से हमें केवल रंग, ताप या भाव, संवेग आदि का ही ज्ञान हो सकता है, न कि इनके बीच भेद तथा सादृश्य का । इस प्रकार के ज्ञान को हम बौद्धिक कहते हैं जिसे मन की देन कहना चाहिए। इस प्रकार का ज्ञान संवेनाओं से सम्बद्ध अवश्य रहता है, पर इसे सम्वेदना तथा प्रत्यक्ष (impression) नहीं कहा जा सकता है।

पुनः, ह्यूम का कहना है कि हम प्रत्यक्ष को अलग-अलग करके जानते हैं और वे एक दूसरे से पृथक रहते हैं। यदि उनके बीच सम्बन्ध स्थापित कर हम ज्ञान की रचना करते हैं तो यह सम्बन्ध बाहरी तथा आकस्मिक सहचार पर निर्भर करता है। सहचार के दो नियमों को ह्यूम ने माना है, अर्थात् सामीप्य (contiguity) और सादृश्य (similarity) के नियम। सामीप्य

** Selby--Bigge--Ibid-9.—35

नियम के अनुसार यदि दो या दो से अधिक प्रत्यक्ष एक साथ या एक के बाद दूसरा आवे तो इस प्रकार की परिस्थिति के बार-बार दुहराये जाने पर उनमें ऐसा सम्बन्ध हो जाता है कि एक हमारे सामने प्रस्तुत हो तो दूसरा भी उभड़ पड़ता हैं। जैसे, सूर्य और ताप, बार-बार एक साथ पाया जाता हैं और उनके बीच हम सहचार का सम्बन्ध देखते हैं। पर इससे तो स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य और ताप अलग-अलग नहीं, पर एक साथ अनुभूत होते हैं। जबतक प्रत्यक्ष एक साथ अनुभूत न हो, तो उनके बीच सहचार नहीं हो सकता है और इसे मान लेने से ह्यूम के प्रत्यक्षों की पृथकता (separateness) का सिद्धान्त टूट जाता है। ह्यूम ने सादृश्य-नियम पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। यदि वे ध्यान देते तो उन्हें स्पष्ट हो जाता है कि दो सदृश्य प्रत्ययों के बीच जरूरी नहीं हैं कि वे एक साथ अनुभूत हो और ऐसी दशा में यदि बुद्ध, ईसा और गांधी में सम्बन्ध हो तो इसे आन्तरिक सम्बन्ध कहा जायगा। ऐसी अवस्था में लेयर्ड का कहना ठीक ही जँचता है कि "Perception must be *similar* in order to be associated by *similarity* and.. they must *have been contiguous* in order to be associated by contiguity." अतः, ह्यूम के प्रत्यक्षों के सम्बन्ध में पृथकता का सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं है। पर हमें देखना है कि जब ह्यूम प्रत्यक्षों को पृथक-पृथक मानते हैं तो वे इनके बीच किस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कर ज्ञान की व्याख्या करते हैं।

ज्ञान में पायी जानेवाली मुख्य धारणाओं (categoriees) की समीक्षा

बिना प्रत्ययों और प्रत्यक्षों को सम्बद्ध किये हुए ज्ञान सम्भव नहीं है और इसलिए ह्यूम ने भी इनके बीच के सम्बन्ध की व्याख्या की है। इन्होंने सामान्य रीति से प्रत्यक्षों के बीच सम्बन्ध को दो वर्गों में बांट दिया है। पहले वर्ग में वे सब सम्बन्ध आते हैं जिनका सम्बन्ध केवल प्रत्ययों (ideas) से ही है, और दूसरे वर्ग में वे सब सम्बन्ध आते हैं जिनका सम्बन्ध यथार्थ वस्तुओं से है। सुबोध करने के लिए ह्यूम के सम्बन्धों को इस प्रकार दिखाया जा सकता है।
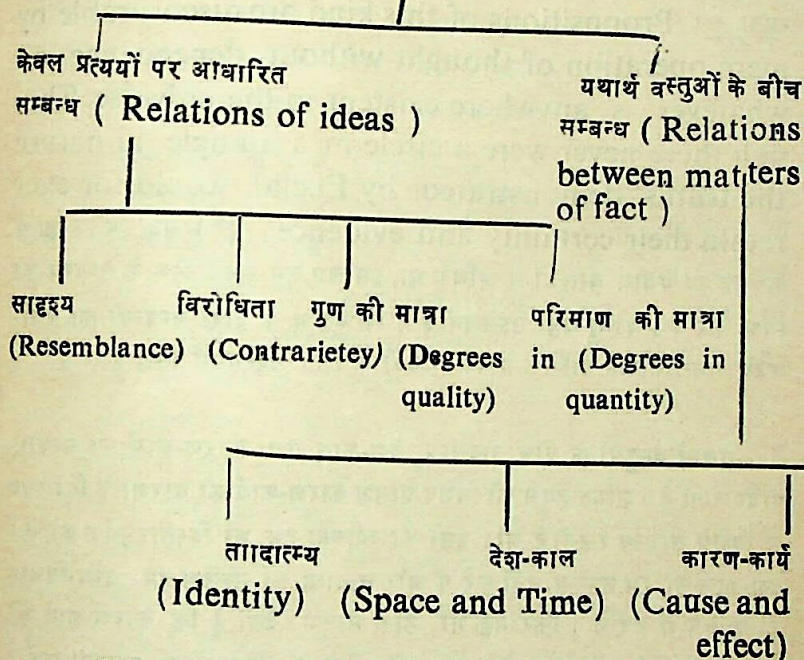
प्रत्ययों के बीच आधारित सम्बन्ध ज्यामितिक, बीजगणित और अंकगणित में पाये जाते हैं। ये सम्बन्ध सहज प्रत्यक्ष (intuition) तथा प्रदर्शनात्मक (demonstration) युक्तियों के द्वारा स्थापित किये जाते हैं। ह्यूम के अनुसार ज्यामिति में हमारे निष्कर्ष पूर्णतया असंदिग्ध नहीं हो पाते हैं। केवल बीजगणित और अंकगणित में ही निष्कर्ष असंदिग्ध तथा अनिवार्य देखने में आते हैं। इनमें असंदिग्ध ज्ञान इसलिए पाया जाता है कि इनमें अतिस्पष्ट प्रत्यय काम में लाये जाते हैं। "We are possessed of a precise standard (here) by which we can judge the equality and proportion of numbers" (*)। परन्तु ह्यूम के अनुसार, बिना प्रत्यक्ष के प्रत्यय संभव नहीं हैं, तो गणित शास्त्र के परिस्पष्ट और एकदम सही-सही प्रत्यय आये कहाँ से ? यहाँ ह्यूम चुप्पी लगा जाते हैं। परन्तु ह्यूम साफ-साफ लिखते हैं कि प्रत्ययों के बीच के सम्बन्ध से अनिवार्य

Selqy—Bigge Ibid—p. 71

तथा असंदिग्ध ज्ञान अवश्य मिलता है, पर उनका सम्पर्क यथार्थ वस्तुओं से नहीं रहता है। 'Propositions of this kind are discoverable by mere operation of thought without dependence on whatever is anywhere existent in the universe. Though there never were a circle or a triangle in nature the truths demonstrated by Euclid would for ever retain their certainty and evidence" (*) अब चूँकि ह्यूम का उद्देश्य यथार्थ वस्तुओं से अधिक था, इसलिए हम उनके बीच के सम्बन्ध को स्पष्ट करेंगे। परन्तु यहाँ उल्लेखनीय है कि यूह्म के द्वारा सम्बन्धों का वर्गीकरण समसामयिक तार्किक प्रत्यक्षवादियों के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है

यथार्थ वस्तुओं के बीच तादात्म्य, देश-काल तथा कारण-कार्य का सम्बन्ध पाया जाता है। शायद ह्यूम की विशेष प्रसिद्ध कारण-कार्य की धारणा के विश्लेषण से विशेष सम्बन्ध रखती है और इसी की व्याख्या हम भी विस्तारपूर्वक करेंगे। देश-काल का हम उल्लेख नहीं करेंगे और तादात्य का उल्लेख हम द्रव्य-विचार ही के रूप में करेंगे। फिर यह भी ठीक मालूम देता है कि कारण-कार्य की व्याख्या के पहले हम द्रव्य के सम्बन्ध में ह्यूम के विचारों की व्याख्या करें।

द्रव्य-विचार—कोई भी प्रत्यय, जिसका सम्बन्ध वास्तविक पदार्थों से है, अपने अनुरूप प्रत्यक्ष पर आधारित रहना चाहिए। यदि द्रव्य (substance) का प्रत्यय हो तो इसे भी किसी निश्चित प्रत्यक्ष पर आधारित होना चाहिये, नहीं तो इसे सही प्रत्यय नहीं समझा जायगा। द्रव्य वह है जो गुणों का आश्रय (support) हो। हमें देखना है कि यह किस संवेदना या आत्मचिन्तन पर आधारित है। यदि यह संवेदना पर आधारित हो तो यह रंग, ताप, घ्राण इत्यादि होगा। परन्तु कोई भी द्रव्य को रंग, ताप इत्यादि नहीं गिनता है। फिर यदि द्रव्य का प्रत्यय आत्मचिन्तन पर आधारित हो तो यह कोई भाव, संवेग इत्यादि होगा। परन्तु द्रव्य को कोई भाव, संवग इत्यादि भी नहीं मानता

Huxley, T. 'Hume'—P. 117, जिनमें ह्यूम की उक्ति का उद्धरण है।
†† देखें David Hume on Human Nature and the Understanding' edited by A. tlew, Collier Classics, —1962—p. 47

है । अतः, द्रव्य-प्रत्यय किसी भी प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता है । इसलिए यह मनगढ़ंत दार्शनिकों की कल्पना है । तब इस प्रत्यय की वास्तविकता क्या है ? वास्तव में द्रव्य सरल प्रत्ययों का संग्रह-मात्र है जिसे हम अपनी कल्पना के द्वारा इकठ्ठा करके कोई एक नाम देकर काम में लाते हैं ।

यदि द्रव्य काल्पनिक अथवा मनगढ़न्त वस्तु हो, तो न जड़ और न आध्यात्मिक द्रव्य सत्य कहा जा सकता है । ह्यूम बर्कले के जड़-द्रव्य की आलोचना स्वीकार कर लेते हैं, पर वे बर्कले के द्रव्य-खंडन को उसकी चरम सीमा तक पहुँचा देते हैं । ह्यूम का कहना है कि जिस युक्ति के आधार पर जड़-द्रव्य को अस्वीकार किया जाता है, उसी युक्ति के आधार पर स्वात्मा का भी खंडन किया जा सकता है । हम अपनी स्थायी आत्मा को आत्मचिन्तन के आधार पर नहीं पाते हैं । हम अपनी सत्ता की कितनी अधिक खोज क्यों न करें, यह कभी भी हमारी अनुभूति में प्रतीत नहीं होती है । यदि आत्मनिरीक्षण के आधार पर हम अपनी आत्मा को जानने की कोशिश करें, तो, हम स्थायी स्वात्मा की सत्ता न पाकर सुख-दुःख, संवेग, भाव इत्यादि ही को अनुभून कर पाते हैं । पर ये तो क्षणिक, परिवर्त्तनशील ही आत्म-प्रत्यक्ष हैं, और स्थायी आत्मा कहाँ देखने में आती है? 'For my part, when I enter most intimately into what I call *myself*, I always stumble on some particular perception or other, of heat or cold, light or shade, love or hatred, pain or pleasure. I never can catch *myself* at any time without a perception······If any one upon serious and unprejudiced reflection, thinks he has a different notion of himself, I must confess I can reason no longer with him" (*) अतः, जिसे हम आत्मा कहते हैं वह आत्मचिन्तित प्रत्यक्षों की राशि ही है और स्थायी आत्मा-द्रव्य अनुभूत नहीं है । रसेल ने ह्यूम के आत्म-द्रव्य के खंडन को महत्त्वपूर्ण माना है, क्योंकि इससे द्रव्य-सिद्धान्त का पूर्णतया खंडन हो जाता है, और मानव अमरता की बुनियाद समाप्त हो जाती है । ज्ञान-मीमांसा के दृष्टिकोण से इस निष्कर्ष से सिद्ध हो जाता है कि उद्देश्य विधेय (subject predicate

* Selby-Bigge—Ibid p. 252

की धारणा मौलिक नहीं है । अब जो भी द्रव्य-खंडन का महत्त्व समझा जाय, कम-से-कम इस खंडन से ह्यूमी संदेहवाद पुष्ट हो जाता है जिसको दूर करने के लिए काण्टीय तथा प्रत्ययवादियों का प्रयास दर्शन के इतिहास में देखने को मिलता है । इसलिए दार्शनिक विचार-विकास में ह्यूम का किया हुआ द्रव्य-खंडन विशेष स्थान रखता है ।

ह्यूम के द्वारा की गयी कारण-कार्य की समीक्षा

ह्यूम के लिए कारण-कार्य का सम्बन्ध विशेष स्थान रखना है क्योंकि इसका सम्बन्ध यथार्थ पदार्थों से रहता है । फिर इसी के आधार पर साक्षात् प्रत्यक्षों से परोक्ष के संभाव्य प्रत्यक्षों की ओर हम प्रगति करते हैं और प्रत्यक्ष सम्बन्धी सार्वभौमिक नियमों की स्थापना करते हैं । जैसे, हम नियम बनाते हैं कि सभी वस्तुओं में गुरुत्वाकर्षण की शक्ति है या मलेरिया कुनैन से अच्छा होता है । यदि वस्तुओं और गुरुत्वाकर्षण में वास्तव में सम्बन्ध हो, तो हमारा नियम सत्य ठहरता हैं, अन्यथा नहीं । विज्ञानों में नियमों की स्थापना की जाती हैं और नियम का सम्बन्ध, कारण-कार्य से है । यदि कारण-कार्य की धारणा सिद्ध ठहरती है तो वैज्ञानिक नियम भी सत्य ठहरते हैं, नहीं तो वे भी संदेहात्मक ही ठहरेंगे ।

यदि कारण-कार्य का सम्बन्ध सही हो तो इसे प्रत्यक्ष पर आधारित होना चाहिए । अतः, हमें देखना है कि यह किस यथार्थ प्रत्यक्ष पर आधारित है। क्या कोई ऐसा गुण वस्तुओं में है जिसकी वजह से हम कहते हैं कि वे 'कारण' हैं ? पर ऐसा कोई गुण हमें नहीं दीख पड़ता है, क्योंकि हम अनेक विभिन्न वस्तुओं को कारण समझते हैं जिनमें कोई भी गुण सामान्य रीति से नहीं पाये जाते हैं । अब यदि वस्तुओं में कोई ऐसा गुण नहीं है जिसकी वजह से हम उन्हें कारण समझते हैं तो शायद वस्तुओं के बीच ऐसा सम्बन्ध होगा जिसकी वजह से हम एक वस्तु को दूसरी वस्तु का कारण समझते है । पहली बात है कि जिन वस्तुओं को हम कारण-कार्य समझते हैं उनमें सामीप्य का सम्बन्ध पाया जाता है । जैसे, सूर्य और ताप, ज्वाला और धाँह इत्यादि । फिर कारण कार्यवाली वस्तुओं में पूर्वापर (succession) सम्बन्ध पाया जाता है । कारण पूर्व होता हैं और तब उसके बाद कार्य आता है । अतः सामीप्य और पूर्ववर्तिता (Priority) दो घटनाओं के बीच ऐसे सम्बन्ध हैं जो कारण-कार्य की धारणा में मौजूद कहे जा सकते है । इन दो सम्बन्धो को छोड़कर कर तीसरा महत्वपूर्ण सम्बन्ध भी इसमें मौजद समझा जाता हैं और वह है शक्ति या अनिवार्य लगाव

(Power or necessary connection) । कारण में समझा जाता कि कोई एक शक्ति है जिससे यह कार्य उत्पन्न करता हैं । हमें देखना है कि वास्तव में क्या कोई ऐसा प्रत्यक्ष है जिसपर 'उत्पादकशक्ति या अनिवार्य लगाव' को आधारित रखा जा सकता है ? यदि हम कैरम या बिलिअर्ड की गोटियों में कारणात्मक लगाव को देखें तो पाते हैं कि एक गोटी में दूसरी गोटी के धक्के से गति उत्पन्न होती है । परन्तु हम धक्का देनेवाली और धक्का खानेवाली गोटी में नहीं पाते हैं कि धक्का देनेवाली गोटी से कोई शक्ति निकलकर धक्का खाने-वाली गोटी में घुस जाय । कारण-कार्य की धारणा में उत्पादक शक्ति तथा अनिवार्य लगाव को ही मुख्य लक्षण माना जाता है । परन्तु इन्हें हम किसी भी प्रत्यक्ष पर आधारित नहीं पाते हैं (†) । अब शायद कारण-कार्य की समस्या समाधान हो जाय यदि हम इन दो निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दे सकें ।

(१) हमारे लिये यह कहना क्यों जरूरी हो जाता है कि बिना कारण के कोई भी धारणा नहीं हो सकती है ?

(२) क्यों हम कहते हैं कि अमुक वस्तु अवश्यमेव दूसरी वस्तु का कारण होगी ?

ऐसा हम क्यों कहते हैं कि बिना किसी कारण के घटना नहीं हो सकती हैं ? लौक के अनुसान यह प्रागनुभव (a priori) सिद्धान्त है । परन्तु ह्यूम प्रागनुभव तथा सहज प्रत्ययों की संभावना स्वीकार नहीं करते हैं, और इस-लिए उनके लिए उपर्युक्त सिद्धान्त का कोई आधार नहीं मालुम देता है । उनका कहना है कि इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिये जितने भी प्रमाण दिये गये हैं वे दोषपूर्ण हैं (*) । वास्तव में यह जरूरी नहीं है कि जहाँ भी कार्य या घटना हो उसका कोई अमुक कारण अवश्य हो । कारण-कार्य दो भिन्न

---

† यही बात लौक ने भी बताय थ, पर उन्होंने कहा था कि हम अपना संकल्पात्मक (voluntary) प्रक्रिया में उत्पादक शक्ति का अनुभव करते हैं । ह्यूम ने इस प्रसंग को नहीं उठाया क्योंकि वे स्थायी आत्मा के अस्तित्व ही को स्वीकार नहीं करते हैं और इसलिए उनके लिये संकल्पकर्त्ता की सत्ता ही नहीं है ।

* Selby—Bsgge Ibid, p.80-81

प्रत्यय हैं और इसलिए वे पृथक भी हैं (the distinguishable is also separable)। हमारे लिए यह सोचना जरूरी नहीं है कि आग से ताप हो, क्योंकि हम कल्पना कर सकते हैं कि आग से ताप न मिलकर हमें ठंढक मिले।

जहाँ तक हमलोगों ने अनुभव के आधार पर कारण की उत्पादक शक्ति तथा अनिवार्य लगाव को जानना चाहा, वहाँ तक हम इन्हें प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त नहीं कर पाये हैं, तो हमें जानना चाहिये कि क्यों हम एक वस्तु को दूसरी वस्तु का कारण समझते हैं। जहाँ तक हमारा अनुभव होता है, वहाँ तक हम देखते हैं कि जब हम एक प्रकार की वस्तु को पहले देखते हैं और एक दूसरे प्रकार की वस्तु को बाद में देखते हैं, तो बार-बार इन्हें पूर्वापर सम्बन्ध में देखकर पूर्ववर्त्ती वस्तु को कारण और अनुवर्त्ती (posterior) वस्तु को कार्य कहते हैं। उदाहरणार्थ हम आग को जब-जब देखते हैं, तब-तब हम ताप का भी अनुभव करते हैं। इसलिये हम आग को कारण और ताप को कार्य समझते हैं। अतः, हमलोगों को पता लग गया है कि नित्य संयोग (constant conjunction) के आधार पर हम एक वस्तु को कारण और दूसरी वस्तु को कार्य कहते हैं (*)। तो क्या यह निष्कर्ष युक्तिसंगत (rational) है या कल्पनामात्र है? यदि यह निष्कर्ष युक्तिसंगत होगा तो इसी आधार पर हो सकता है कि प्राकृतिक घटनाएँ समरूप (uniform) होती हैं और अनदेखी घटनाएँ, देखी हुई घटनाओं के समान होती हैं। इसलिए आग और ताप की देखी हुई घटनाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि भावी, अनदेखी 'आग-ताप' की घटनाओं के बीच भी अवश्यमेव यही कारण-कार्य का सम्बन्ध होगा। पर क्या यह तर्क ठीक है? नहीं, क्योंकि हम कैसे कह सकते हैं कि अनदेखी घटनाएँ देखी हुई घटनाओं के समान होंगी? इसलिए नित्य संयोग के आधार पर कारण-कार्य का सम्बन्ध युक्तिसंगत नहीं है। इसलिए इसकी रचना हमारी कल्पना से ही संभव हो सकती है।

पहले तो हमें कल्पना के आधार पर अनिवार्य लगाव होने में संदेह होने लगता है। यदि एक बार के प्रत्यक्ष से हमें अनिवार्य लगाव का सम्बन्ध न मालूम दे तो बार-बार उसी प्रकार की घटनाओं की अनुभूति से कैसे एक नवीन गुण की रचना हो सकती है? बार-बार के दुहराये जाने पर यदि किसी वस्तु में

† Ibid—P. 87

गुण वर्त्तमान हो तो उसे भाँप लेने-की क्षमता अवश्य दृढ़ हो जा सकती है, पर पुनरावृत्ति (repetitions) से किसी नये गुण का प्रादुर्भाव या उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अनिवार्य लगाव का गुण वस्तुनिष्ठ नहीं है, इसलिए कितनी ही बार हम वस्तुओं का अनुभव क्यों न करें, इसे हम उनमें नहीं देख सकते हैं। परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य हैं। यद्यपि पुनरावृत्ति से वस्तुगत गुणों का निर्माण नहीं हो सकता है तोभी इसका बिशेष प्रभाव हमारे मन पर पड़ सकता है (A constant conjunction can never produce a *new quality in the object*, but it produces an effect on the mind) प्रभाव इसका यह है कि वस्तुओं के नित्य संयोग से हमारे अन्दर मानसिक आदत हो जाती है जिसकी वजह से यदि एक वस्तु हमारे सामने आये तो हम दूसरी वस्तु की प्रतीक्षा करने लगते हैं। यदि आग और ताप को बार-बार हम अनुभूत करते हों, तो हमारे अन्दर मानसिक प्रतीक्षा की ऐसी आदत हो जाती है कि आग को देखते ही हम ताप की कल्पना करने लगते हैं। अतः, कारण-कार्य के अनिवार्य लगाव का सम्बन्ध वस्तुनिष्ठ नहीं, परन्तु आत्मनिष्ठ (subjective) है। हमारे अन्दर ऐसी बाध्यता आ जाती है कि एक वस्तु को देखकर हम अवश्य ही दूसरी वस्तु की प्रतीक्षा करने लगते हैं।

यदि हम कारण-कार्य के सम्बन्ध कीउत्पादन-प्रक्रिया पर ध्यान दें तो इसमें दो अंग देखे जाते हैं, अर्थात् घटनाओं के बीच नित्य संयोग का होना और फिर सहचार नियमों से संचालित मानसिक कल्पना में अनिवार्य प्रतीक्षा का होना। परन्तु यदि ह्यूम की व्याख्या को हम मान लें, तो वास्तव में घटनाओं के बीच वस्तुगत अनिवार्यता का सम्बन्ध देखने में नहीं आयेगा। इसलिए वैज्ञानिक नियम जो वस्तुगत सम्बन्धों पर आधारित हैं, कभी भी असंदिग्ध नहीं ठहर सकेंगे। यही कारण है कि ह्यूम की विचारधारा को संदेहवाद कहा जाता है। पर संदेहवाद युक्तिसंगत नहीं ठहरता है क्योंकि कम-से-कम इसमें भी मान लिया जाता हैं कि 'सभी ज्ञान संदेहात्मक हैं' और यह असंदिग्ध सिद्धान्त है। फिर यदि हम मान लें कि अनिवार्यता वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ (subjective) है, तो में कम-से-कम ह्यूम इस इस बात को स्वीकार करते हैं कि मानसिक आदत में अनिवार्य रीति से अनिवार्यता है। इसलिए ह्यूम का सिद्धान्त कि किसी भी घटना अनिवार्यता नहीं है, असिद्ध ठहरता है। यदि वस्तुओं में अनिवार्यता न हो, तो ह्यूम को मानसिक प्रतीक्षाओं में भी अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करना

चाहिए था । परन्तु ह्यूम मानसिक प्रतीक्षा में अनिवार्य आदत को स्वीकार कर इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि संदेहवाद (scepticism) युक्तिसंगत नहीं हो सकता है ।

बाह्य जगत् के अस्तित्व में हमारे विश्वास की व्याख्या

प्रायः लोग समझते हैं कि एक बाह्य और स्थायी जगत् है जिसकी सत्ता ज्ञाता से परे और स्वतन्त्र है, परन्तु जिसे संवेदनाओं के द्वारा जाना जा सकता है । परन्तु ह्यूम ने पहले ही सिद्ध कर दिया है कि जड़-द्रव्य तथा मन-द्रव्य, दोनों ही कल्पनिक हैं । इसलिए बाह्य जगत् की अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती है । यदि इसकी कोई वास्तविकता है, तो यह हमारी कल्पना पर आधारित है । पर इस निष्कर्ष को न अपना कर कुछ विचारक समझते हैं कि संवेदनाओं की सजीवता तथा हमारी इच्छाओं से स्वतन्त्रता के आधार पर उनके कारण के रूप में, बाह्य जगत् को स्वीकार किया जा सकता हैं । परन्तु ह्यूम के अनुसार इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। पहली बात है कि कारण कार्य की धारणा काल्पनिक सिद्ध हो चुकी है और इसके आधार पर हम नहीं कह सकते हैं कि हमारी सजीव संवेदनाओं के कारण बाह्य जगत् है, फिर संवेदना की सजीवता से या उन्हे हमारी इच्छाओं से परे मान लेने पर भी किसी स्वतन्त्र जगत् की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती है। इसकी वजह है कि हमारे भाव, संवेग,सुख-दुख इत्यादि अति तीक्ष्ण हो सकते हैं और फिर वे हमारी इच्छाओं से परे भी रहते हैं, तोभी उन्हे कोइ बाह्य जगत् का कार्य नहीं मानता है। इसलिए जो भी प्रमाण देकार्त तथा लौक ने बाह्य जगत् की स्वतन्त्र सत्ता के पक्ष में दिया है, वह निराधार है । इतलिए हयूम का कहना है कि हमें मान लेना चाहिए कि बाह्य जागत् हमारी कल्पना की रचना है । इस रचना का क्या आधार है ?

संवेदनाओं की नित्यता (constancy) तथा उनकी क्रमबद्ध संबद्धता (coherence) से ही हमारे मन में स्थायी, स्वतन्त्र जगत् की सत्ता स्वीकार करने की प्रवृत्ति (prepensity या झुकाव उत्पन्न हो जाता है । हम नदी पहाड़ या घर की ओर दृष्टि करते हैं और फिर जब आँखे मूँदने के बाद हम उन्हें फिर देखते हैं तो हम उन्हे उसी दशा में पाते हैं जिस दशा में उन्हें पहले देखा था । अतः, इन वस्तुओं की हमें नित्य समान संवेदना होती रहती है, इसी से हम इन्हे स्थायी और स्वतन्त्र मानते हैं। फिर जलती हुई लकड़ी को छोड़कर

जब हम दूर चले जाते हैं और फिर लौटकर उसे राख के रूप में पाते हैं जो उसकी क्रमबद्ध अवस्था है। अतः संवेदनाओं की नित्यता तथा क्रमबद्ध सम्बद्धता से हमारे मन में झुकाव हो जाता है जिसके अनुसार हम जगत की स्थायी सत्ता स्वीकार कर लेते हैं। प्रारम्भ में यह कल्पना केवल कामचलाऊ हुआ करती है, पर जब बार-बार इस पूर्वकल्पना की पुष्टि होती जाती है, तब स्थायी तथा स्वतन्त्र जगत् की कल्पना दृढ़ बन जाती है। अतः हम संवेदनाओं की नवीनता, परिवर्त्तशीलता और क्षणभंगुरता की अवहेलना करके समान संवेदनाओं को एक ही तरह की संवेदना समझकर स्थायी जगत् की धारणा कल्पित कर लेते हैं। परन्तु यदि हम अपनी बुद्धि दौड़ायें तो स्पष्ट हो जायगा कि स्थायी जगत् का अस्तित्व भ्रम है क्योंकि संवेदनाएँ एकमात्र सत्य हैं। वे क्षणभंगुर तथा स्थायी हैं। परन्तु मानसिक झुकाव जो संवेदनाओं की नित्यता तथा क्रमबद्धता से उत्पन्न होता है, हमें स्थायी जगत् के भ्रम में डाले रहता है। "This propension to bestow an identity on our resembling perceptions, produces the fiction of a continued existence ; since that fiction, as well as the identity, is really false, as is acknowledged by all philosophers and has no other effect than to remedy the interruption of our perceptions, which is the only circumstance that is contrary to their identity" ( )। अतः, जब दार्शनिक अपनी बुद्धि की मदद लेता है तो उसे स्पष्ट हो जाता है कि अनित्य संवेदना ही सत्य है और जब वह अपनी कल्पना की आदत में पड़कर काम करता है तो वह स्थायी जगत् की सत्ता को मान लेता है। अतः, मानव इन दोनों विरोधी बातों को स्वीकार किये रहते हैं। ह्यूम के लिए यह बात केवल बाह्य जगत् के लिए सत्य नहीं हैं, पर वे समझते हैं कि व्यावहारिक जीवन के लिए परम्परा और कल्पना ही ठीक हैं, क्योंकि दार्शनिक विचार युक्तिसंगत अवश्य है, पर यह फीका और असत्य-सा मालूम देता है। अब ह्यूम के विचार के प्रति इस युक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि ह्यूम के अन्दर संदेहवाद भी था और साथ-ही-साथ कल्पना पर आधारित व्यावहारिक जीवन की वास्तविकता को भी वे स्वीकार करते थे। इसलिए हमें जानना है कि क्या वे वास्तव में सन्देहवादी (sceptic) थे ?

1 Selby-Bigge-Ibid-p. 211

ह्यूम का सन्देहवाद (scepticism)

ह्यूम को समसामयिक समालोचक संदेहवादी कहने में हिचकते हैं । इसका कारण है । स्वयं ह्यूम ने अपने विषय में लिखा है कि वे संदेहवादी नहीं थे । इस स्थल पर दो बातें हैं । ह्यूम मानते थे कि प्रत्यक्ष और प्रत्यय पर आधारित उनका अनुभववाद सही है । वह यह भी मानते थे कि सहचार के नियम को स्वीकार करना चाहिए । फिर वे समझते थे कि custom (परम्परा) और imagination (कल्पना) से वह ज्ञान मिल सकता है जिसे जीवन-यापन में पर्याप्त समझा जा सकता है । यदि हम उपर्युक्त ह्यूम के मन्तव्यों को स्वीकार करें, तो हमें कहना चाहिए कि ह्यूम सन्देहवादी नहीं थे । पर ह्यूम की विचार-धारा का दूसरा भी पक्ष है । उन्होंने दिखाया है कि बुद्धि और समझ से प्रत्यक्ष और प्रत्यय के आधार पर असंदिग्ध ज्ञान संभव नहीं है । चूँकि दर्शन में समझ ही के द्वारा ज्ञान निर्धारित किया जाता है, इसलिए दर्शन के दृष्टिकोण से उन्हें सन्देहवादी कहा जा सकता है । परन्तु यहाँ भी उन्हे शुद्ध सन्देहवादी नहीं गिनना चाहिए क्योंकि उनका कहना है कि यदि हम प्रकृति के इशारे पर चलें तो बुद्धि के द्वारा स्थापित सन्देह छूट जाता है । अतः, इस दृष्टिकोण से ह्यूम सन्देहवादी नहीं, पर वे अपने युग के दर्शन के आलोचक थे । दबी जुबान से अबौद्धिकता (anti-intellectualism) का नारा उन्होंने उठाया है, पर चूँकि उनका यह पक्ष पुष्ट नहीं हो पाया है, इसी से लोग ह्यूम को सन्देहवादी ही के रूप में मानते आते हैं ।

अतः, हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि ह्यूम के विचार में भावात्मक या रचनात्मक (positive or constructive) तथा नकारत्मक या खंडनकारी (negative or destructive) दो पक्ष देखने में आते हैं । उनका खंडनकारी पक्ष परिपूर्ण है और रचनात्मक पक्ष क्षीण है । इसलिए उन्हे सन्देहवादी नहीं कहकर दर्शन का आलोचक पुकारना चाहिए । उनका निष्कर्ष सन्देहात्मक है, पर सन्देहवाद नहीं । ह्यूम के विचार के इस मूल्यांकन को ध्यान में रखते हुए हम उनके सन्देहात्मक या खंडनकारी मत का उल्लेख करेंगे ।

ह्यूम के अनुसार impressions और ideas एकमात्र ज्ञान के मान्य अंग हैं । इन्हीं impressions और ideas की कसौटी किसी प्रकार के ज्ञान

की सत्यता आँकी जा सकतीं हैं । चूँकि प्रत्यक्ष क्षण-प्रति-क्षण बदलते रहते हैं, इसलिए स्थायी द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है । अतः, हमें जड़ और आत्मिक द्रव्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करना चाहिए । चूँकि आत्मिक द्रव्य सत्य नहीं है, इसलिए हमें स्थायी ज्ञाता को भी नहीं ग्रहण करना चाहिए । परन्तु यदि क्षण-प्रति-क्षण ज्ञाता बदलता जाय तो ज्ञाता के द्वारा किस प्रकार से स्थायी, सर्वकालिक तथा सार्वभौमिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ? यदि हम मान लेते कि घटनाओं या प्रत्यक्षों (impressions) के बीच अनिवार्य सम्बन्ध है, तो शायद इसी सार्वभौमिक तथा अनिवार्य सम्बन्ध के आधार पर स्थायी ज्ञान की इमारत उठाई जा सकती । पर इसकी भी संभावना ह्यूमी विचार में छोड़नी पड़ेगी क्योंकि ह्यूम के अनुसार कारण-कार्य का अनिवार्य सम्बन्ध वस्तुगत नहीं है । अतः, ह्यूम के दर्शन का निष्कर्ष है सर्वम् क्षणिकम् । इसलिए इसे शून्यवाद भी कहा गया है । देकार्त, लौक और बर्कले ने दर्शन की विशाल आधुनिक इमारत खड़ी की थी, पर ह्यूम ने उसकी नींव को कच्ची ठहरा दी है । उनके हथौड़ों के आघात से वह इमारत ध्वस्त होकर श्मसान बन गयी है । पर यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि ह्यूम गणितिक ज्ञान को असंदिग्ध मानते थे और इसलिए दर्शन की इमारत के खंडहर में अभी भी कुछ संरक्षित भाग खड़ा हुआ है ।

ज्यामितिक ज्ञान को ह्यूम ने असंदिग्ध नहीं माना है क्योंकि वे समझते थे कि यह वास्तविक या काल्पनिक आकारों के प्रत्यक्ष पर आधारित रहता है और प्रत्यक्ष के द्वारा कोई भी असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है । हाँ, आप बीजगणित और अंकगणित के निष्कर्षों को अनिवार्य और असंदिग्ध मानते थे, परन्तु यहाँ भी ह्यूम ने कहा है कि हमारी शक्ति इतनी क्षीण है कि यहाँ भी गलती हो जाने की पूरी गुंजाइश है । इसलिए "having thus found in every probability, beside the original uncertainty inherent in the subject, a new uncertainty derived from the weakness of the faculty, which judges and having adjusted these two together, we are obliged by our reason to add a new doubt derived from the possibility of error in the estimation we make of truth and fidelity of our faculties" (*)

* Selby-Bigge-Ibid-p. 182

तो क्या यह कहना ठीक है कि ह्यूम के दर्शन में 'Nothing remains ? The vast structure of philosophy crumbles to dust. In him philosophy finds itself in the midst of ruins of its own making.' संदेहवाद युक्तिसंगत नहीं हो सकता है क्योंकि संदेह अपने ही संदेह पर संदेह करने लगता है और इस प्रकार से उसका संदेह छूट जाता है। यही कारण है कि ह्यूम ने लिखा है कि संदेहवाद के विरुद्ध में तर्क करना व्यर्थ है क्योंकि वास्तव में कोई शुद्ध संदेही नहीं हो सकता है और इसलिए उन्होंने अपने को भी संदेहवादी नहीं माना है। "Should it here be asked.......whether I be really one of those sceptics, who hold that all is uncertain, and that our Judgment is not in *any thing* possessed of *any* measures of truth and falsehood; I should reply, that this question is entirely superfluous, and that neither I, nor any other person was ever sincerely and consistently of that opinion."[1]

ह्यूम का कहना है कि यदि हम अपनी बुद्धि या समझ (reason) पर भरोसा रखें, तो संदेहवाद अनिवार्य रीति से हमें ग्रहण करना पड़ेगा। इसलिये संदेहवाद से बचने के लिये हमें बुद्धि के जालों से बचना चाहिये। कभी-कभी तो ह्यूम अतिरूप में अ-बौद्धिक हो जाते हैं, जैसे इस युक्ति से झलकता है, "Carelessness and inattention alone can afford us any remedy." संदेहवाद से बचने की विधि है कि हम प्रकृति के दिये हुए ज्ञान को ग्रहण करें। प्रकृति ने केवल हमें साँस लेने की शक्ति या संवेदनाओं के प्राप्त करने की ही क्षमता नहीं दी है, पर सोचने की भी शक्ति दी है[2] और हमें चाहिये कि हम प्रकृति के इशारे पर चलें। उनकी यह प्रसिद्ध उक्ति है: "Most fortunately it happens, that since reason is incapable of dispelling these clouds, nature her-

1 Ibid-p. 183
2 Ibid-p, 183

self suffices to that purpose, and cures one of this philosophical melancholy and delirium....I dine, I play a game of backgammon, I converse and am merry with my friends; and when after three or four hours' amusement, I return to these speculations, they appear so cold and strained, and ridiculous that I cannot find in my heart to enter in them any further." [1] ।

परन्तु केवल इतना ही कहने से काम नहीं चल सकता है कि हमें प्रकृति के दिये गये प्रकाश से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। हमें जानना चाहिए कि उस प्रकाश का क्या स्वरूप है जिससे ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस विषय पर ह्यूम ने अपने विचारों को हमारे सामने स्पष्ट नहीं किया है। पर जब हम कारण-कार्य तथा द्रव्य के खण्डन पर ध्यान देते हैं जिसे ह्यूम ने हमारे सामने रखा है तो बार-बार संदेहवाद से बचने के लिए उन्होंने कहा है कि reason(बुद्धि,समझ) से नहीं, पर custom और imagination से ही ज्ञान संभव हो सकता है। अब ह्यूम जिसे custom और imagination कहते हैं वह मनोवैज्ञानिक सत्यता है। अतः ह्यूम के अनुसार, तर्कशास्त्र से नहीं पर मनोवैज्ञानिक नियमों के अनुसार से ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ह्यूम के अनुसार सहचार (association) मनोवैज्ञानिक नियमों में मुख्य है और यदि सहचार पर ज्ञान आधारित हो तो किसी दो व्यक्तियों में एक ही प्रकार सहचार नहीं हो सकता है और इसलिए सहचार पर आधारित ज्ञान भी सार्वभौमिक नहीं हो सकता है। हाँ, कामचलाऊ ज्ञान मिल सकता है और ह्यूम का कहना है कि हमें इसी प्रकार के ज्ञान से संतोष कर लेना चाहिए: "....we might hope to establish a system or set of opinions which if not true (for that perhaps is too much to be hoped for), might at least be satisfactory to the human mind, and might stand the test of the most critical examination."[2]

---

1 Selby-Bigge Ibid-p. 269
2 इस विषय में देखें, Selby-Bigge,-Ibid pp. 270, 272

अतः, उपर्युक्त कथन से हमें मानना पड़ता है कि ह्यूम संदेहवादी नहीं थे, पर संदेहवाद से बचने का जो उपाय उन्होंने बताया है उस पर उन्होंने पूरा प्रकाश नहीं डाला है। यही कारण है कि समालोचक ह्यूम के रचनात्मक विचारों को उस अंश में नहीं पाते हैं जिस अंश में वे उनकी खंडनात्मक युक्तियों की भरमार को देखते हैं। पर वास्तव में ह्यूम संदेहवादी नहीं थे।

यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या आवश्यक है कि अनुभववाद संदेहवाद में परिणत हो जाय ? (*) यह ठीक है कि अनुभववाद का यथार्थ प्रारम्भ लौक की गवेषणाओं से हुआ और उन्हीं की विचारधारा में संदेहवाद अस्फुट रूप में था। इस का कुछ और अधिक विकास बर्कले के चिन्तन में देखने में आता है और संदेहवाद की चरम सीमा ह्यूम के विचारों में देखने में आता है। इसी से ह्यूम के संदेहात्मक निष्कर्ष को अनुभववाद का अन्तिम परिणाम कहा गया है (†)। पर हमें देखना है कि लौकीय अनुभववाद क्यों संदेहवाद में परिणत हो गया है। इसका विशेष कारण है कि लौकीय अनुभववाद की नींव अनुभववादा थी और इसका आदर्श बुद्धिवादी था। लौक के अनुसार ज्ञान को अनिवार्य, असंदिग्ध तथा सार्वभौमिक होना चाहिये। परन्तु ह्यूम ने स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्यक्ष पर आधारित ज्ञान अनिवार्य, असंदिग्ध तथा सार्वभौमिक नहीं हो सकता है। पर क्या यह आवश्यक हैं कि वही ज्ञान के नाम से पुकारा जाय जो अनिवार्य और असंदिग्ध हो ? कम-से-कम समसामयिक (contemporary) अनुभववाद की दो मुख्य धारायें हैं। एक को प्रयोजनवाद (pragmatism) और दूसरे को तार्किक अनुभववाद (logical empiricism) कहा जाता है; और इन दोनों में से कोई भी धारा इसे स्वीकार नहीं करती है कि ज्ञान को अनिवार्य तथा असंदिग्ध समझा जाय। इनके अनुसार हम किसी भी वास्तविक ज्ञान को तभी ज्ञान कह सकते हैं जिनके सत्य होने की संभावना विशेष रूप से हो। स्वयं ह्यूम ने स्पष्ट कर दिखाया है कि केवल प्रत्ययों ही के बीच रहनेवाले ज्ञान में अनिवार्यता और

---

* इसे प्रायः पूछा जाता है, Must empiricism end in scepticism ?

† इस विषय में लोकोक्ति है "Hume's ScePticism is the logical out come of the empiricism of Locke."

असंदिग्धता पायी जाती है, जैसा, गाणतिक युक्तियों में देखने में आता है। पर उन्होंने स्पष्टतया लिखा है कि इस प्रकार का असंदिग्ध ज्ञान यथार्थ वस्तुओं के सम्बन्ध में प्राप्त नहीं किया जा सकता है; और वह ज्ञान जो यथार्थ वस्तुओं से सम्बन्ध रखता है कभी भी अनिवार्य नहीं हो सकता है। ह्यूम के इस निर्णय को तार्किक अनुभववादी पूर्णतया अपनाते हैं (†)। इसलिए यदि हम मान लें कि संभाव्य ज्ञान भी ज्ञान है, तो अनुभववाद को संदेहवाद में परिणत होने की संभावना नहीं रहती है। अतः, यह आवश्यक नहीं है कि अनुभववाद का अन्तिम परिणाम संदेहवाद हो।

ह्यूमी और तर्कनिष्ठ अनुभववाद

पुस्तक के प्रथम ही अध्याय में हमलोगों ने कहा है कि **समसामयिक** अनुभववाद विशेषतया आकृत्यन्तरवादी है, अर्थात् इसके अनुसार दो ही प्रकार के अर्थपूर्ण वाक्य हैं, (१) गणित तथा तर्कशास्त्र के विश्लेषक वाक्य, और (२) तथ्यात्मक विज्ञानों के संश्लेषक वाक्य। जैसा कहा जा चुका है[1], यह ह्यूम की उक्तियों पर ही आधारित है :

"यदि हम अपने हाथ में, उदाहरणार्थ ईश्वर-दर्शन या स्कूल तत्वमीमाँसा-सम्बन्धी, किसी प्रति (Volume) को लें और पूछें, क्या इसमें परिमाण या संख्या विषयक अमूर्त तर्कनायें हैं ? नहीं। क्या इसमें तथ्य और वास्तविकता-विषयक प्रयोगात्मक तर्कनायें हैं ? नहीं। तब इसे अग्नि विसर्जन कर दो क्योंकि अन्यथा इसमें गल्प तथा भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है (2)।" समसामयिक तर्कनिष्ठ अनुभववाद ह्यूम के इसी आकृत्यन्तर वाद पर आधारित है और एरने इस बात को अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Language, Truth and Logic के प्रथम संस्करण के प्राक्कथन के प्रारम्भ में कही है। यही बात आज भी हॅम्पशायर ने 'David Hume:

---

† देखें Ayer, A. J. 'Logic, Truth and Language' का 'Introduction'।

1. देखें पृ० 36

2. David Hume on Human Nature and the Understanding, edited by A. flew, Collier classics, 1962—P. 163

A symposium' के Hume's place in philosophy नामक शीर्षक में कही है। इसके अनुसार ब्रिट्रेन के समसामयिक दर्शन में अभी भी ह्यूम का प्रबल प्रभाव है (1)। लेकिन फिर भी ह्यूम और समसामयिक अनुभववाद में कई स्थलों पर भारी भेद है।

(१) पहली बात है कि समसामयिक अनुभववाद तर्कनिष्ठ कहा जाता है और ह्यूम का अनुभववाद विशेषतया मनोवैज्ञानिक अध्ययन कहा जायगा।

(२) फिर चूँकि ह्यूम ने विशेषकर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपनी दार्शनिक विचारधारा स्थापित की इसलिये उन्होंने गणित की अनिवार्यता और उसकी पूर्वानुभविकता का संतोषजनक स्पष्टीकरण नहीं किया है।

ह्यूम की मनोवैज्ञानिकता— ह्यूम के अनुसार सभी विज्ञान एक मौलिक विज्ञान पर आधारित हैं और वह है मानव का विज्ञान।'

"गणित, प्रकृति-दर्शन और नैसर्गिक धर्म भी कुछ दूर तक मानव-विज्ञान पर निर्भर रहते हैं, क्योंकि ये मानव की ज्ञान-चेतना पर आधारित रहते और उनकी शक्तियों तथा मन:शक्तियों के द्वारा निर्मित होते हैं। यह कहना असंभव है कि इन विज्ञानों में कितना सुधार और परिशोधन हो सकता है यदि हम पूर्णतया मानव समझ की सीमा और उसकी शक्ति से अवगत हो जायं और काम में लाये जानेवाले प्रत्ययों और युक्तियों में व्यवहृत प्रक्रियाओं की व्याख्या कर पायें।"*

फिर उनकी उक्ति है :

"And, as the science of man is the only solid foundation for the other sciences, so, the only solid foundation we can give to this science itself must be laid on experience and observation."†

---

१. Edited by D. F. Pears, Macmillan & Co, 1963 P—1

*David Hume on Human Nature and the Understanding, p-172

†Ibid—P. 173

अब, ह्यूम और समसामयिक अनुभववादी दोनों ऐन्द्रिय सरल प्रत्यय को तथ्यात्मक प्रकथनों की अर्थपूर्णता की कसौटी मानेंगे। प्रमाणीकरण-सिद्धान्त के अनुसार अर्थपूर्णता की कसौटी अन्त में निरीक्षणीय (Observables) को ही माना जायगा और ह्यूम भी इस प्रसंग में छाप (impression) को ही कसौटी मानते हैं!

"When we entertain, therefore any suspicion that a philosophical term is employed without any meaning or idea (as is but too frequent), we need but enquire, *fromd what impression is that supposed idea derived* ?"*

परन्तु दोनों के बीच मौलिक अन्तर है। समसामयिक अनुभववाद तार्किक कसौटी को, न कि मनोवैज्ञानिक आधार को अपनाता है। समसामयिक अनुभववाद के अनुसार हमें किसी निरीक्षणीय की ओर उंगली दिखाकर बताना है कि अमुक प्रत्यय या प्रकथन का यह अर्थविशेष है और इसके अनुसार किसी प्रत्यय की उत्पत्ति दिखाकर किसी तथ्यात्मक प्रकथन का अर्थ निरूपण नहीं किया जा सकता है। यह अन्तर ह्यूम के कारण-कार्य के प्रत्यय-विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। जब ह्यूम को कारण-कार्य के अनुरूप कोई सरल छाप नहीं मिली तो उन्होंने दिखाने की कोशिश की कि इस भावना की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है। उन्होंने अन्त में बताया है कि मानव मन का यह सार-गुण है कि किसी अनुभूति के बार-बार दुहराये जाने पर इसमें प्रतीक्षा की ऐसी गहरी प्रवृत्ति या झुकाव उत्पन्न हो जाता है कि आग के देखते ही हमें ताप की भावना अंकुरित हो जाती है। अन्त में ह्यूम के अनुसार सभी घटनाओं में कारण-कार्य का सम्बन्ध देखना केवल मानव मन की कल्पना की उपज है। अब ह्यूम की मनोवैज्ञानिक व्याख्या सत्य है या असत्य, यह बालमनोवैज्ञानिक निश्चित कर सकता है। पर इसे समसामयिक अनुभववादी तर्कनिष्ठ व्याख्या नहीं गिनेगा। तर्क के दृष्टि से हमें देखना है कि क्या ऐसी अनुभूति है जिसकी ओर उंगली दिखाकर हम बतायें कि यह कारण-कार्य के प्रत्यय की

---

*David Hume on Human Nature and Understanding—pp. 36-37. इसीसे मिलते-जुलते उद्धरण के लिये फिर देखें पृ० 291-292

कसौटी हो सकती है याँ नहीं। समसामयिक अनुभववादी ह्यूमी व्याख्या के भावात्मक पक्ष को स्वीकार नहीं करेगा। हाँ, वह मानता है कि ह्यूम के नकारात्मक मत को स्वीकार कर लेना चाहिये जिसके अनुसार ऐसा कोई प्रत्यय नहीं, ऐसी कोई वास्तविक छाप नहीं है जिसके आधार पर कारण-कार्य को मूलधारणा को स्थापित किया जा सकता है।

ह्यूम ने मूलधारणओं पर जिन्हें कान्ट ने पदार्थ (category) कहा है विशेष ध्यान नहीं दिया। उनको देखना चाहिये था कि ये पदार्थ तथ्यात्मक प्रत्यय नहीं है और न ये अनुभूतिजन्य सामान्यीकरण (Generalisation) हैं। इन्हें समसामयिक अनुभववादी भाषा का व्यापक नियम मानते हैं। द्रव्य, कारण-कार्य, भाव, अभाव इत्यादि वे पदार्थ हैं जिन्हें मानव ने भाषा-व्यवहार का नियम मान लिया है और इन्हें अभी भी सभी विचारक इसलिये काम में ला रहे हैं कि इनसे विचार-विनिमय तथा व्यवहार में सफलता मिलती आ रही है। लेकिन ह्यूम की यह गलती थी कि उन्होंने इन पदार्थों को भी अनुभूतिजन्य मानसिक टेक या आदत ही माना है।

'Hume does not draw any absolute distinction between the modes to which our mind conforms itself in thought and behaviour, recognising them as rules to which any thinking *must* conform, and mere habits and uniformities in our thought and behviour.....

"Against Hume Kant argued that the human mind is the source of rules which it imposes, both in thought and in action on the raw material of experience. The proper work of philosophy is to make explicit the inner connexions between these rules that govern all our thought and action."*

† S.N. Hampshire '*Hume's place in philosohpy*,' in '*David Hume: A symposium*' —P. 7

चूंकि ह्यूम की विधि मनोवैज्ञानिक थी इसलिये किसी भी तथ्यात्मक प्रकथन की अर्थपूर्णता को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने बार-बार 'मन के अन्तर्विषय' (Contents of the mind) की दुहाई दी है। परन्तु सम-सामयिक अनुभववादी किसी भी प्रकथन के अर्थनिरूपण के लिए भाषा-विश्लेषण करता है और यदि ह्यूम भाषा-विश्लेषण पर ध्यान देते तो उन्हें अपनी कमियाँ दिखायी पड़ने लगतीं। उन्हें स्पष्ट हो जाता कि तार्किक दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्यय (idea) नहीं, वरन् सरल वाक्य, मूल वाक्य वस्तुप्रदर्शक (ostensive) वाक्य ही तात्विक अंश हैं जिनके द्वारा जटिल ज्ञानात्मक वाक्यों या प्रकथनों की रचनायें की जा सकती हैं। अब यदि वे प्रकथनों का विश्लेषण करते तो उन्हें स्पष्ट हो जाता कि प्रकथनों को उच्च तथा निम्न श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। द्रव्यविचार या कारण-कार्य का पदार्थ उच्च भाषा के प्रकथन हैं और 'रोटी से पेट भरता है' यह भाषा निम्न स्तर का वाक्य है। ह्यूम की यह गलती थी कि वे कारण-कार्य अथवा द्रव्य-विचार के प्रकथनों को आनुभविक अथवा निम्नस्तर भाषा के रूप में समझते थे। निम्न स्तर के प्रकथन वे हैं जो अनुभूति को व्यक्त करते हैं जैसे, यह मेज काली है, या यह कलम लाल है। परन्तु यदि हम मेज के कालेपन या कलम के लालपन की बात न करके स्वयं वाक्यों के सम्बन्ध में ही विचार करने लग जायँ तो जो कुछ व्यक्त करेंगे उसे उच्च स्तर की भाषा में कहना होगा। आगे चलकर कान्ट और रसेल ने बताया है कि पदार्थ-विश्लेषण आनुभविक भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता है और उनका विश्लेषण और अर्थनिपरूण उच्च भाषा के प्रकथनों के आधार पर करना पड़ता है।

फिर आगे चलकर पिअर्स ने बताया है कि मनोवैज्ञानिक विधि के पालन करने ही के कारण ह्यूम व्यक्तिवाचक प्रकथनों की व्याख्या नहीं कर पाये हैं[1]। परन्तु उससे अधिक ह्यूम की बड़ी कमी यह है कि वे गाणतिक प्रकथनों की व्याख्या नहीं कर पाये हैं और कहीं-कहीं पर उन्होंने वड़ी भूलें की हैं।

गाणतिक वाक्यों की व्याख्या :—हमलोगों ने देखा है कि ह्यूम ने आकृत्यन्तरवादी अनुभववाद के अनुरूप प्रकथनों को गणित के विश्लेषक और

1. David Hume: A symoposium—PP. 20-21

तथ्यात्मक विज्ञानों के संश्लेषक वाक्यों में बाँटा है। उन्होंने तर्कशास्त्र के पदार्थ-मूलक प्रकथनों को सफा कर दिया है क्योंकि उन्होंने इन तार्किक वाक्यों के महत्व को नहीं समझा था। पर उन्हें गाणतिक वाक्यों की सही व्याख्या करनी चाहिये थी जिसे उन्होंने गलत किया है।

ह्यूम के अनुसार गाणतिक प्रकथनों में अनिवार्यता पायी जाती है और इन्हें उन्होंने पूर्वानुभविक तथा अमूर्त तर्कना या समझ की देन कहा है। इन प्रकथनों की विशेषता यह है कि इनके आधार पर या इनसे वास्तविक जगत् का तथ्यात्मक ज्ञान नहीं मिल सकता है। फिर उन्होंने यह भी बताया है कि केवल प्रत्ययों के आपसी सम्बन्ध पर ही गाणतिक प्रकथनों की अनिवार्यता निर्भर करती है। उनके अनुसार विश्लेषक वाक्य इसलिये अनिवार्य हैं कि हम इनके विपक्ष में सोच ही नहीं सकते हैं।

"When demonstration convinces me of any proposition, it not only makes me conceive the proposition, But also makes me sensible that it is impossible to conceive anything contrary. What is demonstratibly false implies a contradiction, and what implies a contradiction cannot be conceived" (*)

इसके विपरीत संश्लेषक अथवा तथ्यात्मक प्रकथन वे हैं जिनका सम्बन्ध वास्तविक घटनाओं से है। वास्तविक घटना कितनी ही अधिक अनुभूतिसिद्ध क्यों न हो, पर हम हमेशा इनके विपक्ष के रहने की सम्भावना सोच सकते हैं (†)। जैसे, जल तरल होता है और अग्नि से ताप मिलता है। ये अनुभव से सिद्ध प्रकथन हैं और दैनिक जीवन में हम बराबर इन्हें सत्य मानकर चलते हैं। पर हम कल्पनाकर सकते हैं कि अग्नि से ताप न मिलकर ठंढक मिले और जल तरल न होकर वाष्पमय हो।††

---

* David Hume on Human Nature and the Understanding. p. 52.

† P. 295

†† वही-पृ. १६१

But with regard to any matter of fact, however strong the proof may be from experience, I can always conceive the contrary though I cannot always belerive it, *

यह ठीक है कि ह्यूम के द्वारा स्पष्ट किये गये विश्लेषक तथा तथ्यात्मक प्रकथनों का भेद सही है। क्या उन्होंने प्रागनुभविक तथा गाणतिक प्रकथनों की सही व्याख्या की है? यह ठीक है कि ह्यूम के अनुसार प्रागनुभविक तथा कारण कार्य कि अनिवार्यता में भेद है, पर इस भेद पर उन्होंने कोई प्रकाश नहीं डाला है। गाणतिक प्रकथनों की अनिवार्यता को उन्होंने पूर्वानुभविक तर्कना पर आधारित कहा है और बताया है कि यह अनिवार्यता समझ (understanding) की प्रक्रिया पर निर्भर करती है:

"....the necessity which makes two times two equal to four, or three angles of a triangle equal to two right ones, lies only in the act of the understanding by which we consider and compose these ideas."†

इसकी तुलना में उन्होंने बताया है कि कारण-कार्य की अनिवार्यता मन के झुकाव पर या बीती अनुभूति से प्रभावित आत्मा की अपनी ही प्रवृत्ति पर आधारित रहती है। पर ह्यूम ने स्पष्ट नहीं किया है कि कारण-कार्य की मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता जो मनकी अपनी प्रकृति पर निर्भर करती है और समझ (understanding) की अनिवार्यता एक ही है या भिन्न? ह्यूम के बाद मिल ने बताया है कि गाणतिक अनिवार्यता भी अनुभूति के बार-बार दुहराये जाने पर ही प्राप्त होती है। हम लोगों ने दो और दो आम को मिलकर चार होते बहुत बार देखा है और यही कारण है कि हम मानव की सामूहिक और अपवाद-रहित अनुभूति के आधार पर संख्या, परिमाण तथा ज्यामिति के प्रकथनों के बीच अनिवार्यता स्थापित करते हैं। ह्यूम स्पष्ट रीति से नहीं कहते हैं कि गाणतिक अनिवार्यता भी कारण-कार्य की अनिवार्यता के समान

---

* वही-पृ. २९५. फिर देखें पृ ४७, ५०

† David Hume on H. T. and understanding—p. 210.

सहचार पर आधारित है या नहीं ? एक स्थलपर अस्पष्ट रूप से उन्होंने कहा है कि गाणतिक प्रकथन भी अनुभूति से ही प्राप्त किये जाते हैं [1]।

परन्तु पिअर्स का यहाँ कहना है कि शायद ह्यूम मिल के समान सहचार-वादी न हों। तोभी शायद उनका मत हो सकता था कि सहचार रीति से कारण-कार्य की अनिवार्यता और पूर्वानुभविक रीति से गाणतिक प्रक्रियाओं की अनिवार्यता, दोनों मानव प्रकृति के अन्तिम तथ्य हैं और इसलिये दोनों अनिवार्यतायें अन्त में अनुभव पर ही आधारित होती हैं। अन्तर इतना ही है कि पूर्वानुभविक अनिवार्यता या गाणतिक प्रकथनों की अनिवार्यता अधिक व्यापक अनुभव पर, अर्थात् मानव-प्रकृति के अति व्यापक तथ्य पर और कारण-कार्य की अनिवार्यता सहचार-सम्बन्धी संकीर्ण अनुभूति पर टिकी हुई कही जायगी [2]।

ह्यूम की यह भूल थी कि वे समझते थे कि ज्यामिति के प्रमेयों का वैध-पन प्रतिमा और वास्तविक संवेदनाओं से प्राप्त किया जाता है और इसीसे ह्यूम ज्यामितिक प्रकथनों को पूर्णतया अनिवार्य नहीं मानते थे।

' The reason why I impute any defect to geometry, is, because its original and fundamental principles are derived already from appearances" [3]।

फिर उन्होंने बताया है कि गणित के बीजगणित और अंकगणित की अनिवार्यता असंदिग्ध है, पर यह प्रत्ययों की स्पष्टता तथा परिस्पष्टता पर निर्भर रहती है। परन्तु यह स्पष्टता और परिस्पष्टता कैसे प्राप्त की जाती है, इस पर ह्यूम ने सिर्फ इतना ही कहा है कि हमारे सभी प्रत्यय छापों से प्राप्त किये जाते हैं और इसलिए स्पष्ट तथा परिस्पष्ट प्रत्यय भी छापों से ही प्राप्त होते हैं [4]।

---

1. वही-पृ १५५—१५७
2. देखें David Hume.A Sysposium—पृ २४-२६, विशेषकर पृ० २८-२९।
3. David Hume on Human Nature and the Understanding P. 189.
4 वही पृ १९०

अब समसामयिक अनुभववादी ह्यूम के उस मतको मान्यता नहीं देंगे जिसके अनुसार गणितिक प्रकथन अनुभूति से प्राप्त किये जाते हैं। समसामयिक अनुभववाद के अनुसार गणितिक प्रकथन पदों की परिभाषा से निगमित होते हैं। यदि हम 'बरसाती दिन' का सही अर्थ समझते हों तो हमें मानना पड़ेगा कि यह 'आर्द्र' भी होगा। उसी प्रकार यदि हम त्रिभुज, रेखा इत्यादि पदों को समझते हों तो ज्यामिति के स्वयंसिद्धो तथा निगमन के नियमों के अनुसार इसके प्रमेयों को भी संगत रीति से प्राप्त कर सकते हैं। यही कारण है कि ह्यूम की मनोवैज्ञानिकता से अपने को बचाने के लिए समसामयिक अनुभववादी 'तर्कनिष्ठ' शब्द को जोड़ देते हैं।

ह्यूम के दर्शन का मूल्यांकन

ह्यूम के संदेहवाद की समीक्षा करते हुए हमलोगों ने देखा है कि ह्यूम की विचारधारा में भावात्मक और अभावात्मक दो पक्ष पाये जाते हैं और ये दोनों पक्ष दर्शन के विकास में महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। ह्यूम के संदेहवादी निष्कर्ष को दूर करने के लिए रीड और काण्ट ने अपना भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किया है और काण्ट ने स्वयं ह्यूम की इस देन को स्वीकार किया है। फिर ह्यूम के भावात्मक पक्ष में अनेक धारायें अस्फुट रूप से पायी जाती हैं जिनका विकास पाश्चात्य दर्शन के भावी विचारों में देखने में आता है। हमलोगों ने देखा है कि ह्यूम के अनुसार तर्कशास्त्र से नहीं, वरं मनोविज्ञान से ही जीवन संचालित होता है। इस रूप में समसामयिक फ्रायड, फ्रेंकृत्सी इत्यादि मनोविश्लेषक (analysts) का कहना है कि दर्शन की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है क्योंकि यह दार्शनिकों की दमित वृत्तियों की प्रतीकमय अभिव्यक्तिमात्र है। परन्तु इस अर्थ में शायद ही ह्यूम ने कहा होगा कि मनोविज्ञान से ही जीवन सचालित होता है। शायद उनके कथन का अर्थ कि मानव ज्ञानबुद्धि या समझ से नहीं, पर मूलप्रवृत्ति, भाव तथा संवेग इत्यादि से नियंत्रित होता है। यह बात समसामयिक प्रयोजनवाद में देखी जाती है और प्रयोजनवादी अपने मत के समर्थन में प्रायः ह्यूम की उक्तियों का उद्धरण करते हैं। फिर जब ह्यूम बताते हैं कि मनोविज्ञान ही ज्ञान का आधार है तो उनके कथन का अभिप्राय है कि हमें प्रकृति के इशारे से चलना चाहिए। प्रिगल पैटिसन ने लिखा है कि प्रकृतिवाद निम्न श्रेणी का भी हो सकता है

और उच्च श्रेणी का भी । जब ह्यूम बताते हैं कि हमें प्रकृति के इशारे से चलना चाहिए तो वे मानव बुद्धि को प्राकृतिक नहीं मानते हैं । ऐसी दशा में वे निम्न प्राकृतिकवाद को सही मानते हैं । निम्न प्रकृतिवाद वैज्ञानिकता पर आधारित है । अत: ह्यूम के विचारों में वैज्ञानिक प्रकृतिवाद अस्फुट रूप से मौजूद है ।

परन्तु समसामयिक विचार में ह्यूम का महत्व तार्किक प्रत्यक्षवाद में विशेष समझा जाता है, क्योंकि तार्किक प्रत्यक्षवाद के समान ह्यूम असंदिग्ध ज्ञान को गणित में ही सीमित रखते हैं और वास्तविक पदार्थ के ज्ञान को संभाव्य ही मानते हैं । फिर तार्किक प्रत्यक्षवाद के समान, आप पदार्थ की सत्ता नहीं मानते हैं और अतीन्द्रिय (supersensuous) ईश्वर तथा आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करते हैं । अतः ह्यूम को सन्देहवादी न मानकर, प्रत्यक्षवादी ही समझना उचित होगा ।

अतः, ह्यूम के भावात्मक और अभावत्मक दोनों पक्षों से दार्शनिक विचार में अच्छा विकास आया है और यही कारण है कि आधुनिक दर्शन में ब्रिटिश विचारकों में ह्यूम को विशेष स्थान दिया जाता है ।

इमानुएल काण्ट (सन् १७२४-१८०४)

आधुनिक दर्शन के उच्चतम कोटि के विचारक इमानुएल काण्ट का जन्म अप्रील २२, १७२४ में जर्मनी के कोनित्सवर्ग नगर में हुआ था । आपका परिवार धार्मिक परम्परा से प्रभावित था और उसकी स्थायी छाप आपकी रचना पर पड़ी है । आप शिक्षक की हैसियत से १७५५ ई० में कोनित्सवर्ग विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए और १७७० में दर्शन के अध्यापक के पद पर सम्मानित किये गये । दर्शन के अतिरिक्त गणित, पदार्थ-विज्ञान, भूगोल इत्यादि का भी आप अध्यापन करते थे और इन विषयों की आपको अच्छी जानकारी थी । आप आजन्म ब्रह्मचारी रहे । आपका देहान्त फरवरी १२,१८०४, में हो गया ।

वास्तव में 'काण्ट' न लिखकर 'कान्त' ही लिखना चाहिये । पर परम्परा बलीयसी होती है ।
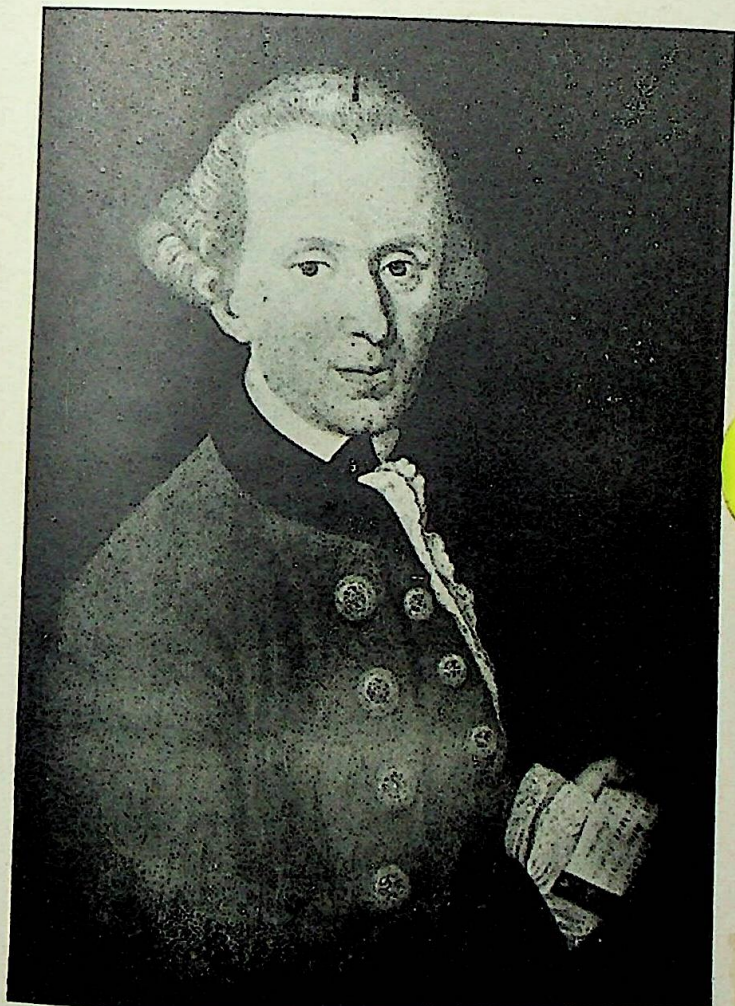
IMMANUEL KANT (1724 to 1804)

आपके सरल तथा शुद्ध जीवन और आप के क्रांतिकारी विचार में कभी मुठ-भेड़ नहीं हुई। आजीवन आपका समय अध्ययन, अध्यापन तथा दार्शनिक रचनाओं में बीता। आप की मुख्य रचनाएँ ये हैं :—

Critique of Pure Reason (1781), Prolegomena to Any Future Metaphysics(1783), Fundamental Principles of the Metaphysic of Morals (1785). Critique of Practical Reason (1788), Critique of Judgment (1790), Religion within the Limits of Reason Alone (1793), Metaphysics of Morals (1796-97).

काण्ट की समस्या

पूर्वकाण्टीय दर्शन में बुद्धिवाद (rationalism) और अनुभववाद की विरोधी धारायें थीं। काण्ट की शिक्षा-दीक्षा के समय वोल्फ ने लाइबनित्स के बुद्धिवाद की टीका की थी और स्वयं काण्ट की दार्शनिक शिक्षा इसी लाइबनित्स-वोल्फीय बुद्धिवाद के आधार पर हुई थी। पर जब काण्ट ने अपनी आलोचनात्मक दृष्टि फेरी तो उन्होंने पाया कि लाइबनित्सी बुद्धिवाद पूर्वस्थापित छन्द पर स्तम्भित है। पर पूर्वस्थापित छन्द केवल एक दार्शनिक उपकल्पना है जिसे सिद्ध असिद्ध नहीं ठहराया जा सकता है। परन्तु दार्शनिक सिद्धान्त को ऐसा होना चाहिये जिसे किसी रीति से प्रमाणित किया जा सके। इसलिए काण्ट ने मनगढ़न्त पूर्वस्थापित छन्द पर अवलम्बित लाइबनित्सी बुद्धिवाद को त्याग दिया। फिर यदि हम बुद्धिवाद को अपना भी लें, तो इसका कोई सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं देखने में आता है। देकार्त के दिये हुए बुद्धिवाद का विकास स्पिनोजा के दर्शन में हुआ और वे निष्कर्ष पर आये कि परम द्रव्य या सत्ताएँ अनेक हैं। स्पिनोजा का एकवाद (monism) जीवन की अनेकता तथा विविधता का स्पष्टीकरण नहीं कर पाता है, और लाइबनित्सी अनेकवाद विश्व की एकता तथा व्यवस्था का स्पष्टीकरण नहीं कर पाता है। अतः, यदि स्पिनोजा और लाइबनित्स के बुद्धिवादी विचारों को हम अलग-अलग लें तो वे आंशिक ठहरते हैं, और यदि उन्हें एकसाथ लें तो वे परस्पर विरोधी देखने में आते हैं। इसलिए बुद्धिवाद आंशिक तथा

आत्म-विरोधी दिखायी देता है। फिर बुद्धिवाद के अनुसार असंदिग्ध तथा अनिवार्य ज्ञान सहजात प्रत्ययों (innate ideas) पर आधारित रहता है। परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि जब प्रत्यय आत्मजात होते हैं तो इनकी सत्यता किस प्रकार वस्तुगत तथा वास्तविक हो सकती है ? अत:, बुद्धिवादी आत्मजात प्रत्ययों के आधार पर बड़ी-बड़ी इमारतों का निर्माण करते हैं, पर ये काल्पनिक, हवाई तथा अवास्तविक हुआ करतीहैं। The rationalists are the architect of many a world of thought without any guaranteed correspodence with reality. यदि बुद्धिवाद के आधार पर ज्ञान की विवेचना नहीं हो सकती, तो क्या अनुभववाद से गणित तथा विज्ञान का स्पष्टीकरण हो सकता है ?

कुछ समय के लिए बुद्धिवाद से असंतुष्ट होकर काण्ट ने वैज्ञानिक अनुभववाद की शरण ली थी। पर उन्होंने ह्यूम की रचनाओं को पढ़ा और देखा कि इस अनुभववाद का अन्तिम परिणाम संदेहवाद ही हो सकता है। तो क्या ज्ञान की कोइ युक्तिसंगत व्याख्या नहीं हो सकती हैं ? काण्ट इस निराशावाद की शरण नहीं ले सकते थे क्योंकि वे गणितज्ञ और वैज्ञानिक की हैसियत से जानते थे कि इन शास्त्रों में सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान पाया जाता है। अत:, काण्ट की समस्या थी कि वे ज्ञान के उन तत्वों को खोज निकालें जिनके आधार पर गणित तथा विज्ञानों के अनिवार्य तथा असंदिग्ध नियमों की व्याख्या हो सके।

ज्ञान की काण्टीय अति सामान्य व्याख्या:—यह तो हो नहीं सकता है कि बुद्धिवाद और अनुभववाद पूर्णतया असत्य हों। काण्ट के अनुसार इन दोनों सिद्धान्तों में आंशिक सत्यता है। जिन बातों का वे विधान (affirm) करते हैं वे सत्य हैं; और जिन बातों का वे खण्डन करते हैं वे गलत हैं (They are justified in what they affirm, but wrong in what they deny)। अनुभववाद के अनुसार बिना संवेदनाओं के ज्ञान में वास्तविकता नहीं आ सकती है, और बुद्धिवाद के अनुसार बिना सहजात प्रत्ययों के ज्ञान में अनिवार्यता तथा असंदिग्धता नहीं आ सकती है। ज्ञान के सही समीक्षावाद (criticism) में हमें इन दोनों सिद्धान्तों के उपयुक्त पक्षों को स्वीकार कर लेना चाहिए। फिर अनुभववाद के अनुसार ज्ञान की अनि-

वार्यता तथा सार्वभौमिकता को अस्वीकार किया जाता है, और बुद्धिवाद के अनुसार संवेदनाओं को ज्ञान का रचनात्मक अंग नहीं माना जाता है। पर हमें दोनों सिद्धान्तों के इस अभावात्मक (Negative) पक्षों को अस्वीकार करना चाहिए। इसलिए सही ज्ञानमीमांसा में हमें बुद्धिवाद तथा अनुभववाद के भावात्मक दोनों अंशों को मिलाकर समीक्षावाद को ग्रहण करना चाहिए।

काण्ट के अनुसार, यदि हम ज्ञान का सही विश्लेषण करें, तो इसमें दो अंग हम पायेंगे, अर्थात् उपादान या सामग्री (Matter) जो संवेदनाओं के द्वारा प्राप्त की जाती है, और दूसरा अंग रूप या आकार (form) का है जो मन द्वारा प्राप्त किया जाता है। इन दोनों भिन्न भिन्न अंगों के सम्मिश्रण के फलस्वरूप ज्ञान की रचना होती है। दूसरे शब्दों में ज्ञान की सामग्री मिट्टी के लोंदे के समान है और ज्ञान का रूप या आकार साँचे (moulds) के समान है। जब तक लोंदे को साँचे में न ढाला जाय तब तक सुराही, खपड़ा, खिलौना इत्यादि नहीं बन सकता है। अतः, बुद्धिवादियों का कहना ठीक है कि बिना आत्मजात कार्यकारण, द्रव्य इत्यादि धारणाओं के ज्ञान संभव नहीं है। उसी प्रकार अनुभववादियों का भी कहना ठीक है कि बिना संवेदनाओं की सामग्रियों से ज्ञान नहीं रचा जा सकता है। दोनों सिद्धांतों का अलग-अलग लिया जाय तो उनमें से किसी एक से भी ज्ञान की रचना सही नहीं समझायी जा सकती है। परन्तु यदि हम दोनों के कथन को मिला दें तो क्या ज्ञान की व्याख्या हो सकती है? अनुभववादियों का कहना ठीक है कि संवेदनाओं से ही ज्ञान प्रारम्भित होता है। फिर वे ठीक ही में कहते हैं कि संवेदनाएं एक दूसरे से पृथक हैं। परन्तु ज्ञान, बिना संवेदनाओं को स्थायी रीति से सम्बद्ध किये बिना सम्भव नहीं होता है। यहाँ बुद्धिवादियों की देन को काम में लाना चाहिए। यहाँ कहना चाहिए कि क्षणभंगुर तथा पृथक संवेदनाओं को आत्मजात प्रत्यय या धारणाओं (categories) हा के द्वारा सूत्रबद्ध किया जा सकता है। इसलिए ज्ञान-निर्माण में सांचा मन से मिलता है और इसकी सामग्री संवेदनाओं से मिलती है। बिना संवेदनाओं की सामग्री के मन के द्वारा दी गयी मूलधारणायें खाली साँचों के समान हैं, और बिना मूलधारणाओं के संवेदना-सामग्रियाँ मिट्टी के लोंदे के समान हैं। इन दोनों के योगफल से ही ज्ञान की व्याख्या हो सकती है।

उपर्युक्त कथनानुसार हम कह सकते हैं कि though all our knowledge *begins with* experience, it does not follow that it *originates from* experience. जैसे ही हमें संवेदना होने लगती है, वैसे ही अन्य मानसिक शक्तियाँ भी सक्रिय होने लगती हैं, और जो ज्ञान हमें मिलता है वह मानसिक शक्तियों के द्वारा व्यवस्थित तथा साँचें में ढाली हुई संवेदना होती है। इन मानसिक शक्तियों की देन को प्रागनुभव (a priori) समझना चाहिए जो संवेदना के साथ अवश्य उभड़ पड़ती हैं। पर इन्हें सवेदनाओं के आधार पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। यदि प्रागनुभवी अंग संवेदनाओं में न हों तो स्वयं संवेदना ही संभव न हो। बिना प्रागनुभवी अंगों के संवेदना निर्विकल्पक, अनिश्चित तथा अन्ध अनुभूति होगी जिसके विषय हमारे लिए कुछ कहना कठिन हो जायगा। स्वयं ह्यूम ने स्पष्ट कर दिया है कि कार्य-कारण, द्रव्य इत्यादि की मूल- धारणाएं संवेदनाओं में नहीं देखा जाती हैं, और हम जानते हैं कि बिना इन्हें स्वीकार किये हुए वैज्ञानिक ज्ञान सम्भव नहीं है। इस अवस्था में काण्ट के अनुसार ह्यूम को सतर्क हो जाना चाहिए था और उनको समझ लेना चाहिए था कि इनका स्रोत-स्थान अनुभव से परे प्रागनुभव है। काण्ट का कहना है कि ह्यूम ने गणित-शास्त्र के अनिवार्य तथा असंदिग्ध ज्ञान का विश्लेषण नहीं किया है (*)। यदि वे गणितज्ञान का विश्लेषण करते तो उन्हें प्रागनुभवी अंगों का पता चल जाता। प्रागनुभवी अंग मन की अपनी देन है और अति सामान्य रूप में इसका काम है कि पृथक-पृथक अनुभतिजन्य संवेदनाओं को सम्बद्ध तथा व्यवस्थित करके अनिवार्य तथा असंदिध ज्ञान उत्पन्न करे। अगर हम मान लें कि सामान्य रीति से बुद्धि का काम है कि यह मूलधारणारूपी साँचों के द्वारा संवेदनाओं को सार्वभौम ज्ञान में ढाल दे, तो ज्ञान- मीमांसा का सबसे मुख्य उद्देश्य होना चाहिए कि वह बुद्धि के सांश्लेषक (Synthetic) रूपों (Forms) का अध्ययन करे। ज्ञानमीमांसा के इस नवीन दृष्टिकोण को काण्ट ने कोपर्निकसीय आन्दोलन (Copernican revolution) के नाम से पुकारा है, जिस पर हमें कुछ और प्रकाश डालना चाहिये।

---

† N. K. Smith 'Critique of Pure Reason.' abridged edition. P.35

काण्ट के अनुसार बुद्धिवाद तथा अनुभववाद, दोनों ने स्वीकार किया है कि मन से बाहर वास्तविक पदार्थ हैं जिन्हें मन जानना चाहता है। परन्तु यदि हम मान लें कि वास्तव में वस्तुएँ मन के बाहर हैं तो हम किस प्रकार से उन्हें जान सकते हैं ? देकार्त का प्रतिलिपि-सिद्धान्त, लौक का अनुरूपतावाद (correspondence theory) और लाइबनित्स का पूर्वस्थापित छन्द इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि मन से परे बाह्य वस्तुओं की सत्ता मान लेने से ज्ञान की व्याख्या नहीं हो सकती है। फिर यदि वस्तुएँ मन से बाहर हों तो हमारा ज्ञान उतनी ही दूर तक सत्य होगा जितनी दूर हमारी अनुभूति होगी। इस दशा में हम किसी भी सार्वभौम नियमों को स्थापित नहीं कर पायेंगे। उदाहरणार्थ, हम नियम बनाते हैं कि सभी मनुष्य मरणशील हैं, पर क्या क भूत, भविष्य और वर्त्तमान के सभी मनुष्यों को मरते देख सकता है ? और क्या भावी मनुष्यों के मरने का भी हमें ज्ञान हो सकता है ? ऐसी दशा में यदि वस्तुएँ मन के बाहर हों, तो हम उन्हें केवल अपनी अनुभूति ही से जान सकते हैं; अनुभूति से हमें कभी भी अनिवार्य, असंदिग्ध तथा सार्वभौमिक ज्ञान नहीं मिल सकताई हैं। पर गणित और पदार्थ विज्ञान में अनिवार्य, असंदिग्ध तथा सार्वभौमिक ज्ञान मिलता है। इसलिए हमें अपने विचार को उसी प्रकार से नयी दिशा में मोड़ लेना चाहिए जिस प्रकार से टोलमी के सिद्धान्त के द्वारा नक्षत्र-विज्ञानों में प्रगति न देखकर, कोपर्निकस ने अपनी विचारधारा को नयी दिशा में मोड़ लिया था। कोपर्निकस ने देखा कि जब पृथ्वी-केन्द्रित (geocentric) सिद्धान्त पर नक्षत्रों की पूरी व्याख्या नहीं हो सकती है, तो उन्होंने अपनी विचारधारा को सूर्य-केन्द्रित मानकर नयी क्रान्ति ला दी और इससे नक्षत्र-विज्ञान में काफी लाभ पहुँचा। क्यों नहीं हम भी अपने दृष्टिकोण को एकदम बदल दें ?

अभी तक हम सोचते आये हैं कि बाह्य वस्तुओं को हमें जानना है। क्यों नहीं हम सोचें कि वे वस्तुयें हमारे लिए ज्ञेय वस्तुएँ हैं जो हमारे विचारों के साँचों में ढलकर हमारे सामने आयें ? जब वस्तुएँ अपने निजी रंग को छोड़कर मन की दी हुई शर्तों से रंगी हुई आती हैं तभी हम उन्हें जान सकते हैं। अतः, मन वस्तुओं को ज्ञेय होने की शर्त पहले से दे देता है और जो वस्तुयें इन शर्तों से ढल जाती हैं वे हमारे लिए ज्ञेय होती हैं, अन्यथा नहीं। यह बात गणित में हम पाते हैं। पहले हम त्रिभुज का प्रत्यय बनाते हैं और तब त्रिभुज के विषय में सभी बातें हमारे ही दिये हुए त्रिभुज के स्वरूप से सिद्ध हो जाती हैं। चूँकि

हमारे मन के मूल प्रत्यय सभी में एक समान हैं। इसलिए जो भी नियम इन मूल प्रत्ययों के अनुसार होंगे वे सभी व्यक्तियों के लिए समान होंगे। अतः, हम त्रिभुज के विषय में कह सकते हैं कि सभी त्रिभुजों के तीनों कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होंगे। "The mind's own rule holds good in all cases, because the mind has itself determined the nature of the cases." उसी तरह से पदार्थ-विज्ञान में सार्वभौमिक नियम पाये जाते हैं। क्योंकि ये नियम प्रयोगों पर आधारित होते हैं और प्रयोग में हमें पहले पूर्वकल्पना बना लेनी होती है। इसलिए यहाँ भी हमारी बुद्धि पहले शर्त्तों को रख देती है और वे वस्तुएँ ज्ञेय होती हैं जो इन शर्त्तों से बदल कर हमारी चेतना में आती हैं। "Reason must approach nature not as a pupil but as a judge, who compels the witnesses to answer the questions which he himself proposes."

अगर हम मान लें कि हमारी बुद्धि की यही शर्त्त है कि वे ही वस्तुएँ हमारे ज्ञान का विषय हो सकती हैं जो हमारे मन के साँचे मे ढलकर आयें, तो ज्ञान की अनिवार्यता, असंदिग्धता तथा सार्वभौमिकता सम्भव हो सकती है। चूँकि मन की शर्त्तें वस्तुओं को ढालने के काम में लायी जाती है, इसलिए मन उन्हें अनिवार्य रीति से ग्रहण करेगा। फिर चूँकि बुद्धि के साँचे सभी व्यक्तियों में एक समान हैं, इसलिए वास्तविक ज्ञान सार्वभौमिक होगा।

कोपर्निकसीय क्रांति के मानने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञान-निर्माण में मन की देन जिसे हम प्रागनुभव (a priori) कह सकते हैं अति महत्वपूर्ण है। इसका यह अर्थ नहीं कि मन के साँचों से ही ज्ञान सम्भव हो सकता है। बिना संवेदनाओं की सामग्रियों के मन के प्रागनुभव साँचे निकम्मे हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि हम अनुभवजन्य संवेदित सामग्रियों को उनके निजी स्वरूप में नहीं जान सकते हैं। जिसे हम अनुभवजनित संवेदना कहते हैं वह भी बुद्धि के प्रागनुभव धारणाओं या साँचों से रूपान्तरित अवस्था में पायी जाती है। यह ठीक है कि सभी वैज्ञानिक ज्ञान में आनुभविक (empirical) अंग का रहना आवश्यक है, पर काण्ट के मत के अनुसार बिना बुद्धि की धारणाओं से रूपान्तरित हुए हम उन्हें नहीं जान सकते हैं। इसलिए हमें ज्ञान के प्रागनुभविक धारणाओं या रूपों

(forms) को जानना परम आवश्यक है। चूँकि काण्ट ने इन्हीं रूपों को खोज निकालने की कोशिश की है, इसलिए उन्होंने अपनी ज्ञानमीमांसा को transcendental (अनुभव-निरपेक्ष या अनुभवातीत) कहा है। "I call all knowledge *transcendental* which is not directly concerned with objects, but with the way in which we cognise them, so far as it is possible to do so *a priori*." *

Transcendental दर्शन का काम है कि वह बुद्धि के प्रागनुभव अंगों की जानकारी करे। इन अंगों का मुख्य काम है कि वे दिये गये उपादान या सामग्री (matter) का व्यवस्थित तथा सम्बद्ध करे। संवेदना-सामग्रियों का प्रागनुभव रूपों के द्वारा कई क्रमों में संश्लेषण (synthesis) होता है। सबसे पहले संवेदनाएँ देश और काल (Space and Time) के रूपों से व्यवस्थित होकर वस्तुबोधित वस्तु (percepts) बनती हैं, अर्थात् सभी वस्तुओं में देश और काल का धर्म रहना अनिवार्य है। परन्तु देशीकरण (spatialisation) और कालरूपीकरण (Temporalisation) से केवल अलग-अलग वस्तुओं का ही ज्ञान होता है, जैसे, टेबुल, गाय इत्यादि। इसलिए इन भिन्न-भिन्न वस्तुओं को मिलाकर निर्णय (judgment) का निर्माण करना चाहिए। निर्णय की संयोजना में समझ या बुद्धि (understanding) प्रत्यक्ष वस्तु (percepts) को अपनी १२ मूल धारणाओं (categories or concepts) के आधार पर सम्बद्ध करती है। इसी understanding के १२ concepts या categories के आधार पर percepts को निर्णय के रूप में करके वैज्ञानिक ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि concepts हों और percepts (प्रत्यक्ष-वस्तु) न हों, तो इससे ज्ञान का केवल खोखला ढाँचा ही मिल सकता है। उसी तरह से यदि percepts हों और concepts न हों, तो किसी व्यवस्था के न होने के कारण ज्ञान-सामग्रियाँ मिट्टी के लोंदे के समान

---

* "Transcendental" शब्द से काण्ट बताना चाहते हैं कि ज्ञान का वह अंग जो प्रागनुभव होने के कारण अनुभवातीत है और फिर जिसका सम्बन्ध वस्तु से न होकर वस्तुओं के जानने की अति सामान्य विधि से हो।

छोआ-सी रह जायेंगी। अतः वैज्ञानिक ज्ञान संवेदना और बुद्धि(sense and understanding) के योग का परिणाम कहा जा सकता है।

Understanding के categories के आधार पर संवेद्य प्रत्यक्षों को निर्णय के रूप में परिणत करके हमें ज्ञान मिल जाता है, पर क्या अति-संवेद्य (supra-sensible) ईश्वर, अमर आत्मा इत्यादि का ज्ञान सम्भव है ? यहाँ काण्ट का कहना है कि जहाँ तक वैज्ञानिक ज्ञान का सम्बन्ध है वहाँ तक ज्ञान इन्द्रिय-जन्य होता है, और जो कुछ इन्द्रिय-जन्य हो वह वैज्ञानिक ज्ञान में परिणत हो सकता है। पर इन्द्रियातीत वस्तुओं का ज्ञान सम्भव नहीं हैं। यदि बिना percepts (प्रत्यक्ष-वस्तु) के हम concepts के ही आधार पर ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो यह उसी तरह सम्भव नहीं है जिस तरह से बिना किसी प्रकार के अनाज को डाले हुए आँटे की चक्की के घुमाने से आँटा नहीं मिल सकता है। परन्तु दार्शनिक समझते हैं कि इन्द्रियातीत वस्तुओं का ज्ञान सम्भव है और ऐसा मान लेने से Transcendental भ्रम उत्पन्न हो जाता है। चूँकि विज्ञानों का प्रतीक पदार्थ-विज्ञान है, इसलिए कांट का कहना है कि पदार्थ-विज्ञान (physics) इन्द्रियजन्य संवेदनाओं पर आधारित रहने के कारण सम्भव है, पर तत्वमीमांसा (metaphysics) इन्द्रियातीत वस्तुओं से सम्बन्ध रखने के कारण काल्पनिक शास्त्र है (Physics is, but metaphysics is not possible)।

कांट ने Transcendental रूपों के अध्ययन के कारण अपनी ज्ञान-मीमांसा को समीक्षावाद(criticism)कहा है। उनके अनुसार उनके पहले के दर्शन को हठवाद या रूढ़िवाद (dogmatism) कहा जा सकता है: "Dogmatism is the positive or dogmatic procedure of reason without previous criticism of its own faculty" काण्ट के अनुसार संवेदनाओं को ज्ञान के रूप में ढालने की शक्ति (faculty) सामान्य प्रकार से बुद्धि (reason)[1] कहलाती हैं और ज्ञान-मीमांसा का काम

1 Reason शब्द को कई अर्थों में काम में लाया गया है पर हिन्दी का शब्द (बुद्धि) और भी अधिक अर्थों में काम लाया जाता है। इसलिए काण्ट के विचार को स्पष्ट करने के लिए हम understanding और Reason शब्द को बिना अनुवाद किये हुए काम में लायेंगे।

है कि वह उन रूपों (forms) को स्थापित करे जिनसे संवेदनाओं के बीच व्यवस्था उत्पन्न करके ज्ञान की अनिवार्यता तथा असंदिग्धता प्राप्त होती है। चूँकि काण्ट के पहले मीमांसकों को इसका कोई आलोचनात्मक ज्ञान नहीं था, इसलिए उन्हें अन्धविश्वासी तथा रूढ़िवादी कहा जा सकता है। चूँकि काण्ट ने ज्ञान-रचना के असली रूपों या तत्वों की खोज की है, इसलिए वे अनुभववाद तथा बुद्धिवादों की आंशिक देन को अपना सके हैं और भावी ज्ञान-मीमांसा के विकास की नयी नींव भी डाल सके हैं। इसलिए वे वास्तव में अनुभववाद और बुद्धिवाद, दोनों सिद्धान्तों से बहुत आगे चले गये हैं। "A *critical philosophy,* in the sense of Kant, goes beyond this only insofar as it is an attempt to reach principles, which are prior not only to a particular controversy, but to all controversy"[1]।

काण्ट का समीक्षावाद वैज्ञानिक ज्ञान की सम्भावना स्वीकार कर लेता है, पर इसे सीमित दो अर्थों में मानता है। पहली बात है कि वैज्ञानिक ज्ञान संवेद्य (sensible) वस्तुओं ही का हो सकता और इन्द्रियातीत वस्तुओं का नहीं हो सकता है। फिर जो भी वैज्ञानिक ज्ञान संभव होता है वह वस्तुओं का प्रतिभास (appearance or phenomenon) (†) ही कहा जा सकता है, क्योंकि बिना मन के रूपों से रूपान्तरित किये हुए वस्तुओं को हम नहीं जान सकते हैं। परन्तु वस्तुओं का अपना निजी स्वरूप भी अवश्य है जिसे हम नहीं जान सकते हैं। अतः, वस्तुओं का वह रूप जो मानव ज्ञान की शर्तों से रंग कर हमारी चेतना में आता है उसे हम जानते हैं; और उनका वह रूप, जो स्वयं वस्तुओं ही के तल से संभव है, न हमारी चेतना में आता और न हमारे ज्ञान में ही अँट सकता है। जो मानव ज्ञान की शर्तों से परे और स्वतन्त्र वस्तुओं का अपना रूप है उसे ही उनका तात्त्विक रूप कहना

---

१ Caird, E. 'A critical philosophy of Kant' Vol, I.—pp. 7-8

† वेदान्त में प्रतिभास और प्रातिभासिक जगत् का अर्थ है स्वप्नवत् जगत्, पर यहाँ प्रतिभास का अर्थ है वस्तुओं के उस रूप से जो किसी को प्रत्यक्ष हो या दिखाई दे।

चाहिए और इसे मानव बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती है। अतः, वस्तुओं का प्रातिभासिक ज्ञान संभव है, पर उनका पारमार्थिक ज्ञान संभव नहीं है। मानव ज्ञान से परे वस्तुओं को काण्ट ने things-in-themselves (वस्तुओं की अपनी निजी अवस्था) कहा है और चूंकि इसे उनका असली या तात्त्विक रूप कहा जा सकता है, इसलिए things-in-themselves को काण्ट ने परम पदार्थ (noumena) भी कहा है। इसलिए काण्ट के अनुसार परम पदार्थ का ज्ञान संभव नहीं है। इसलिए काण्ट के दर्शन को अज्ञेयवाद (agnosticism) (*) भी कहा जाता है। आगे चलकर काण्ट ने अपने अज्ञेयवाद की शर्तों को विनम्र कर दिया है क्योंकि उन्होंने बताया है यद्यपि परम पदार्थ, ईश्वर तथा अमर आत्मा को हम वैज्ञानिक रीति से जान नहीं सकते हैं, तोभी ये विश्वासयोग्य सत्तायें हैं। अब काण्ट के समीक्षावाद को स्पष्ट करने के लिए हम अनुभववाद और बुद्धिवाद से इसकी तुलना निम्नलिखित ढंग से करेंगे।

अनुभववाद	बुद्धिवाद	समीक्षावाद
१. जन्म के समय मन साफ पट्टी के समान है और जो कुछ ज्ञान होता है उसके सभी अंग अनुभव से ही प्राप्त होते हैं। इसमें मन को निष्क्रिय माना जाता है।	१. मन सक्रिय समझा जाता है। आनुभविक अंग ज्ञान में नहीं पाये जाते हैं, पर अनुभव से मन में सहजात प्रत्यय उमड़ पड़ते हैं और इन्हीं सहजात प्रत्ययों (innate ideas) से ज्ञान का निर्माण होता है।	१. जैसे ही अनुभव से सवेदना होती है वैसे ही मन को अन्य शक्तियाँ भी उमड़ पड़ती हैं। इन शक्तियों से आत्म-जात या प्रागनुभविक रूप उत्पन्न होते है जो आनुभविक संवेदना-राशि को व्यवस्थित कर ज्ञान की रचना करते हैं।
२. इसके अनुसार संवेदनाओं को	२. यहां Understanding के प्रागनु-	२. इसमें sense और understanding दोनों

* Agnosticism दो शब्दों के योग से बना है, A-Gnosticism. Gnosticism भी gnostikos, यूनानी शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है वह जो भली-भाँति जाना जाय।

अनुभववाद	बुद्धिवाद	समीक्षावाद
विशेष स्थान दिया जाता है और understanding के concepts को गौण स्थान दिया जाता है।	भविक concepts को विशष स्थान दिया जाता है। संवेदनाओं की अवहेलना की जाती है। ज्ञान-निर्माण में संवेदित अंगों को स्थान नहीं दिया जाता है।	को स्थान दिया जाता है। बिना संवेदनाओं के ज्ञान का विषय या मसाला या उपादान (matter) नहीं मिल सकता हैं, और बिना understanding के concept के संवेदनाओं को व्यवस्थित कर ज्ञान नहीं हो सकता है। संवेदना बिना concepts के अंधी है और बिना संवेदना के concepts खाली साचे हैं।
३ Sense और understanding में केवल आंशिक अंतर है क्योंकि concepts भी आनुभविक अंगों से ही प्राप्त किये जाते हैं। केवल यहाँ sense या संवेदनाओं को मूल समझा जाता है।	३. यहाँ भी sense और understanding के बीच आंशिक अंतर समझा जाता है और विशेषतया लाइबनित्सी बुद्धिवाद में संवेदनाओं को अविकसित,अस्फुट concepts ही समझा जाता है।	३. यहाँ sense और understanding में जातिभेद या प्राकारिक अन्तर माना जाता है। संवेदन शक्ति को निष्क्रिय माना गया है और 'समझ' को सक्रिय कहा गया है। संवेदनाओं को हम निष्क्रिय रहकर ग्रहण करते हैं, पर सक्रिय होकर ही हम उन्हें समझ सकते हैं। (Undertanding) को काण्ट ने आत्मसंचालित (spontaneous) शक्ति माना है।
४. इसके अनुसार आनुभविक अंग पृथक पृथक संवेदनाओं के रूप में पाये जाते हैं। यदि इनके बीच कोई संबन्ध स्थापित किया जाय तो सहचार के नियमों	४. इसके अनुसार मन की सक्रियता केवल आत्मजात प्रत्ययों की जानकारी में ही सीमित है। पर यहाँ इस बात की अवहेलना की जाती है कि प्रागनुभविक concepts से संवेदनाओं को कैसे सक्रिय होकर सम्बद्ध	

पर आधारित यह सम्बन्ध बाहिरी ही हो सकता है ।

५. Understanding के संयोजक (unifying concepts) अनुभूति-जन्य है नहीं, और इसलिये जब अनुभूति से उन्हें प्रमाणित नहीं किया जा सकता है, तो अनुभववाद उन्हें भ्रम कहकर ठुकरा देता है।

६. पूरी गवेषणा न करने के कारण समें यही हठ बना रहता है कि ज्ञान के सभी अंग आनुभविक है । जब यह बात सिद्ध नहीं हो पाती है तो संदेहवाद इसका अन्तिम परिणाम हो जाता है।

किया जाता है .

५. यहाँ समझा जाता है कि ज्ञान-विषय(contents) या उपादान (matter) भी understanding के concepts से मिल सकता है। पर विना दूध के मक्खन की मशीन के घुमाते रहने पर मक्खन नहीं निकल सकता है ।

६. बुद्धिवादी भी इसी हठ पर डटे रहते हैं कि केवल प्रागनुभविक अंगों से ही ज्ञान की व्यवस्था और सामग्री दोनों मिल सकती है । इस हठवाद के कारण उनके अन्दर परस्पर विरोधी स्पिनोजीय और लाइबनित्सी सिद्धान्त देखने में आते हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धिवाद आंशिक ही रूप से सत्य है ।

४. इसके अनुसार understanding के concepts वस्तुगत नहीं हैं, पर concepts के साँचों में ढालकर वस्तुओं को बुद्धिगम्य बनाया जाता है । अतः प्रागनुभविक concepts विषयीगत हैं । पर चूंकि ये concepts सभी ज्ञाताओं में एक समान होते हैं, इसलिए इन्हें ज्ञान का विषय कहा जा सकता है।

५. अनुभववाद और बुद्धिवाद के अभाव को दूर करते हुए समीक्षावाद का कहना है कि ज्ञान की सामग्री अनुभव से मिलती है, परन्तु इन्हें व्यवस्थित करने के लिए प्रागनुभविक concepts की आवश्यकता होती है ।

६. ज्ञान के सभी अंगों को समान स्थान देकर समीक्षावाद इस निष्कर्ष पर आता है कि केवल संवेद्य वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है । परन्तु ईश्वर, अमर आत्मा, तथा अनन्त

अनुभववाद	बुद्धिवाद	समीक्षावाद
		विश्व का हमें ज्ञान नहीं हो सकता है । हमारा ज्ञान प्रातिभासिक वस्तुओं का है, पर यह ज्ञान अनिवार्य, असंदिग्ध तथा सार्वभौम है । चूंकि यहाँ संवेदना और प्रागनुभविक अंगों को सही-सही जान लिया गया है, इसलिए यहाँ ज्ञान-मीमांसा रूढ़िवादी न होकर समीक्षात्मक दिखायी पड़ती है ।

विशिष्ट रूप में पूर्वानुभविक संश्लेषक निर्णय-सम्बन्धी काण्ट की समस्या

ह्यूम के अनुसार केवल दो ही प्रकार के वाक्य हैं, अर्थात् (१) गणित-सम्बन्धी अनिवार्य तथा सार्वभौम वाक्य, और (२) यथार्थ वस्तु के सम्बन्ध के संभाव्य (probable) वाक्य । वाक्यों के इस वर्गीकरण के आधार पर पदार्थ-विज्ञान के नियम भी असंदिग्ध न होकर केवल संभावित ही हो सकते हैं । परन्तु पदार्थ-विज्ञान के सम्बन्ध में ह्यूम का यह विचार काण्ट को मान्य न था । काण्ट के अनुसार तीसरे प्रकार के वाक्य भी संभव हैं जिनमें यथार्थ वस्तुओं का ज्ञान अनिवार्य तथा सार्वभौम रहता है । उनके अनुसार इस प्रकार के वाक्य गणितशास्त्र में, पदार्थ विज्ञान में और तत्त्व-मीमांसा (metaphysics) में पाये जाते हैं । यह संभव है कि हम तत्त्व-मीमांसा की बातों को ठुकरा दें, परन्तु गणित और पदार्थ-विज्ञान को ठुकराया नहीं जा सकता है और इनमें इस प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं । अतः, काण्ट की समस्या है कि वे ज्ञान के स्वरूप, अंग और उसकी सीमा को निर्धारित करें और जिस ज्ञान को वे ज्ञान समझते हैं वह गणित और पदार्थ-विज्ञान में पाया जाता है । इस प्रकार के ज्ञान को स्पष्ट रूप में रखने के लिए काण्ट ने इसे synthetic judgment a priori (पूर्वानुभविक संश्लेषक निर्णय) से रचित कहा है । चूंकि समसामयिक अनुभववाद में पूर्वानुभविक संश्लेषक निर्णय की संभावना के सम्बन्ध में अनेक लेख लिखे गये हैं, इसलिये इसका यहाँ स्पष्टीकरण अभीष्ट मालूम देता है ।

आधुनिक दर्शन में विश्लेषक और संश्लेषक वाक्यों की समस्या

वास्तव में देखा जाय तो आधुनिक दर्शन में विश्लेषक और संश्लेषक तर्कवाक्यों का भेद बहुत पुराना मालूम देता है। केवल यह वह भेद है जिसे आधुनिक दार्शनिक पूर्णतया स्पष्ट नहीं कर पाये थे, या जिस भेद के अनुसार उन्होंने तर्कपूर्ण तथा संगत निष्कर्ष नहीं स्थापित किया था। उदाहरणार्थ देकार्त समझते थे कि बाह्य जगत् तथा आत्मा अथवा ईश्वर के सम्बन्ध में गणित के समान असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उनको इस बात का ज्ञान नहीं था कि गणित केवल भाषा का खेल है। गणित में हम पदों को उनकी परिभाषा के अनुसार अपने बनाये हुए तार्किक नियमों की मदद से अनेक रूप में रखते हैं। जहाँ केवल शब्दों ही का खेल हो वहाँ उसके अनुरूप वास्तविकता का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? इसलिये गाणतिक विश्लेषक वाक्यों का सम्बन्ध वास्तविकता से कतयी नहीं रहता है। इसलिये देकार्त को समझना चाहिये था कि गाणतिक अनिवार्यता शब्दों की परिभाषाओं तथा कुछ तार्किक नियमों के योग से उत्पन्न होती है। जैसे, 'बरसाती दिन' की परिभाषा है कि वह दिन जिसमें वर्षा हो और वर्षा से उत्पन्न आर्द्रता हो। इसलिये यदि हम 'बरसाती दिन' की परिभाषा अपने ध्यान में रखें तो हम संगत रीति से कह सकते हैं कि 'बरसाती दिन आर्द्र होते हैं'। लेकिन इसमें तथ्यात्मकता की कहाँ गुंजाइश होती है ? यहाँ यह प्रश्न ही नहीं उठता है कि वास्तव में 'बरसाती दिन' कहीं होते हैं या नहीं। यहाँ हमारा इतना ही भर उद्देश्य रहता है कि हम स्पष्ट कर दें कि 'बरसाती दिन' को हम संगत रीति से काम में ला रहे हैं या नहीं। उसी प्रकार से ज्यामिति में हम सरल रेखा, बिन्दु, त्रिभुज तथा स्वयंसिद्ध इत्यादि की परिभाषा स्पष्ट कर देते हैं और प्रमेयों में इन्हीं परिभाषित पदों को तार्किक नियमों के अनुसार संगत रीति से स्पष्ट करते हैं। ज्यामितिज्ञों को इसकी चिन्ता नहीं होती कि उनकी परिभाषा के अनुरूप बिना चौड़ाई की कोई रेखा पायी जाती है या नहीं, या बिना स्थान ग्रहण किये हुए बिन्दु वास्तव में देखा जाता है या नहीं। उन्हें केवल यही धुन सवार रहती है कि यदि रेखा वह हो जिसमें चौड़ाई न हो और त्रिभुज वह हो जो तीन सरल रेखाओं से घिरा हो, तो अन्य स्वयंसिद्धों को ध्यान में रखकर तथा निगमन सम्बन्धी नियमों के अनुसार संगतरीति से हम यह कह सकते हैं कि नहीं कि किसी भी त्रिभुज के सभी तीन कोण मिलकर दो समकोण के

बराबर होंगे। अब यदि हम 'बरसाती' दिन की परिभाषा अपने ध्यान में रखें तो हम कह सकते हैं कि बरसाती दिन अवश्य आर्द्र होंगे। उसी प्रकार यदि हम 'रेखा' तथा 'त्रिभुज' की परिभाषा पर ध्यान देते रहें, तो संगतरीति से हम कह सकते हैं कि किसी भी त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर अवश्य दो समकोण के बराबर होंगे। इसलिये गाणतिक अथवा विश्लेषक वाक्यों की अनिवार्यता परिभाषित शब्दों के संगत व्यवहार से प्राप्त होती है और इनमें वास्तविकता का प्रश्न उठता ही नहीं है।

देकार्त का यह विचार कि ईश्वर, आत्मा, बाह्य जगत् इत्यादि की वास्तविकता गाणतिक ज्ञान के समान जानी जा सकती है, असंगत है, अर्थात् देकार्त को आत्मा, ईश्वर तथा बाह्य जगत् के सम्बन्ध में अनिवार्य ज्ञान की स्थापना करने का प्रयास ही युक्तिसंगत नहीं है। यही कारण है कि देकार्त का 'मैं सोचता हूँ इसलिये मैं हूँ' को साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता है। किसी की भी स्थायी, अमर तथा शाश्वत आत्मा निश्चित रूप से आत्म-निरीक्षण के आधार पर नहीं जानी जा सकती है। यह बात ईश्वर की वास्त-विकता के सम्बन्ध में कही जा सकती है। ईश्वर की वास्तविकता को किसी परिभाषित शब्द जैसे, 'पूर्ण सत्ता' के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता है। 'शब्द' के आधार पर शाब्दिक ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि देकार्त का ईश्वरसम्बन्धी प्रमाण युक्तिपूर्ण नहीं हो पाया है। फिर यथार्थ जगत् की वास्तविकता भी देकार्त ने मनगढ़न्त रीति से सिद्ध करने की कोशिश की है। यहाँ किसी तार्किक मापदंड की मदद न लेकर आपने धार्मिक ईश्वर की सत्यवादिता की मदद ली है। परन्तु धार्मिक ईश्वर वैज्ञानिक ज्ञान का नहीं; श्रद्धा, भक्ति तथा उपासना का विषय है। तार्किक ही कसौटी, न कि उपास्य ईश्वर किसी भी वैज्ञानिक ज्ञान का मापदंड हो सकता है।

अब यदि स्पिनोजा देकार्त के उपर्युक्त दोषों पर ध्यान देते और ज्यामि-तिक तर्कों के स्वरूप को समझते, तो वे भी इसी निष्कर्ष पर आते कि उनका परम द्रव्य एक परिभाषा का विषय है या एक ऐसा पद है जिसकी हम परिभाषा अपनी सुविधा के अनुसार कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि 'द्रव्य' शब्द को लें और इसकी परिभाषा करें कि यह वह आत्माश्रित तथा

स्वचिन्त्य सत्ता है जिसे किसी भी अन्य सत्ताओं की अपेक्षा न होती है। पर इससे यह कहाँ झलकता है कि इसके अनुरूप कोई वास्तविक पदार्थ है या नहीं ? यह भी ठीक है कि द्रव्य की इस परिभाषा पर यदि हम ध्यान दें तो इससे यही निष्कर्ष निकलेगा कि अन्त में केवल एक ही द्रव्य हो सकता है क्योंकि यदि एक से अधिक द्रव्य हों तो वे एक दूसरे को सीमित करेंगे तथा एक की भावना रचने में अन्य द्रव्यों की भी भावना करनी पड़ेगी। परन्तु इस निष्कर्ष के स्थापित हो जाने पर भी यह सिद्ध नहीं होता कि परम द्रव्य किसी भी प्रकार की वास्तविकता है। यही कारण है कि स्पिनोजा ने साफ कह दिया है कि उनका परम द्रव्य प्रत्यक्ष, कल्पना तथा वैज्ञानिक ज्ञान का विषय नहीं है। उसे केवल अन्त:प्रज्ञा से ही जाना जा सकता है और यह अन्त:प्रज्ञा भी साधना से प्राप्त होती है। परन्तु क्या हम 'वास्तविकता' शब्द को अन्त:प्रज्ञात्मक अनुभूति के लिये प्रयुक्त करते हैं ? स्पिनोजा को साफ कहना चाहिये था कि वे 'वास्तविकता' पद को विलक्षण अर्थ में व्यवहार कर रहे हैं। उनके अर्थ में स्वानुभूति-विषयक ही परम सत्ता है जो चलती भाषा में वास्तविक नहीं गिनी जाती है। प्रचलित भाषा में जो वस्तु देश काल में इन्द्रियों से जानी जाय वही वास्तविक है।

अब इसका क्या कारण है कि देकार्त और स्पिनोजा दोनों ने तत्व-मीमांसात्मक सत्ता को ज्यामितिक प्रकथन के रूप में डालने की कोशिश की है ? यह भी स्पष्ट है। स्वयं देकार्त ने कहा है कि ऐन्द्रिय ज्ञान संदेहात्मक होता है। फिर स्पिनोजा ने भी कहा है कि प्रत्यक्ष और कल्पना के आधार पर संशयहीन तथा शाश्वत ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। अब हम किसी भी यथार्थ वस्तु या धारणा के विषय में वास्तविक ज्ञान केवल अनुभूति के आधार पर प्राप्त कर सकते हैं और अनुभूति के द्वारा हमारा कोई भी ज्ञान तार्किक रीति से अनिवार्य नहीं कहा जा सकता है। अपनी आँखों से देख कर हम कह सकते हैं कि यह कागज उजला है या अमुक गुलाब लाल है। व्याव-हारिक जीवन में इस प्रकार के ज्ञान को हम पूरी मान्यता देते हैं और विज्ञान में भी इसकी पूरी मर्यादा है। आँख देखे और कान सुने ज्ञान को वास्तविक हम अवश्य कह सकते हैं, पर इसे अनिवार्य और निश्चयात्मक नहीं पुकार सकते हैं। इसका कारण है कि इसके विपक्ष होने की सम्भावना तार्किक रीति

से रह जाती है। मेरे सामने रखा हुआ कागज उजला है, परन्तु हम सोच तो सकते हैं कि यह कागज काला या पीला हो। उसी प्रकार जिस पर मैं लिख रहा हूँ वह मेज है, पर मैं सोच तो सकता हूँ कि यह डेस्क हो या यहाँ मेज न होकर केवल भूमि हो। इसलिये मनोवैज्ञानिक रीति से हम क्यों नहीं किसी भी प्रकथन को असंदिग्ध समझें, लेकिन तार्किक दृष्टिकोण से कोई भी अनुभूति-जन्य तथ्यात्मक तर्कवाक्य अनिवार्य नहीं माना जायगा। चूँकि देकार्त और स्पिनोजा दोनों अनिवार्य तथा असंदिग्ध ज्ञान की खोज में थे इसलिये उन्होंने गाणतिक ज्ञान को अपनाया है। उनकी भूल इसी में थी कि उन्हें इसका पूरा पता नहीं मिला कि गाणतिक प्रकथन अनिवार्य हो सकते हैं, पर वे वास्तविक और तथ्यात्मक नहीं माने जा सकते हैं।

अब विश्लेषक वाक्य अनिवार्य होते हैं पर तथ्यात्मक नहीं, और संश्लेषक वाक्य तथ्यात्मक होते हैं, पर अनिवार्य नहीं, यह ज्ञान लौक और ह्यूम में स्पष्ट दीखता है। लौक ने बताया है कि अन्तःप्रज्ञात्मक (intuitive) और प्रदर्शनात्मक (demonstrative) ज्ञान अनिवार्य है, और संवेदनात्मक (sensitive) ज्ञान केवल संभाव्य हैं। अब प्रदर्शनात्मक ज्ञान तो गाणतिक है ही और अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान के सम्बन्ध में लौक ने कहा है कि यह ज्ञान है जिसमें केवल प्रत्ययों के प्रत्यक्षमात्र से हम तत्क्षण समझ लेते हैं कि इनमें विरोध है या मेल। इसलिए स्पष्ट नहीं होते हुए भी वास्तव में लौक इसे परिभाषित शब्दों के संगत प्रयोग से उत्पन्न प्रकथनों को ही अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान की सज्ञा देते हुए दीखते हैं। उसी प्रकार प्रकथनों की शिक्षादायकता (instructiveness) के सम्बन्ध में लौक ने तुच्छ और शिक्षाप्रदनात्मक के दो वर्गों में सभी प्रकथनों को बांटा था। तुच्छ में यातो तादात्म्यात्मक या विश्लेषक प्रकथन होते हैं। इनमें अनिवार्यता पायी जाती है, परन्तु वास्तविक तथ्यों की ज्ञानवृद्धि नही। उसी प्रकार शिक्षाप्रद प्रकथनों में वास्तविकता का ज्ञान मिलता है, पर इसमें अनिवार्यता नहीं पायी जाती है।

यह ठीक है कि लौक को गाणतिक प्रकथनों के स्वरूप के सम्बन्ध में सही ज्ञान नहीं था। परन्तु प्रकथनों के किये गये विभिन्न वर्गीकरण के अध्ययन से आभासित होता है कि लौक को भी प्रकथनों के प्राकारिक अन्तर का आभास हो रहा था। कम-से-कम यह बात कि प्रकथनों के बीच प्राकारिक अन्तर

है लाइबनित्स की ज्ञानमीमांसा में स्पष्ट हो जाती है। लाइबनित्स के अनुसार प्रकथनों को अनिवार्य (necessary) और संयोगात्मक अथवा आपातिक (contingent) के दो वर्गों में बाँटा जा सकता हैं। आपातिक प्रकथन वह है जो वास्तविक स्थिति पर आधारित हो और अनिवार्य प्रकथन वे हैं जिनके विधेय को बिना आत्मविरोध के नकारा नहीं जा सकता है। फिर लाइबनित्स ने सही बताया था कि इस प्रकार के प्रकथन गणित में पाये जाते हैं। प्रकथनों के बीच प्राकारिक अन्तर का सही ज्ञान शायद लाइबनित्स को ही था। जिसको लाइबनित्स ने अनिवार्य और आपातिक प्रकथन कहा है, उसे ही काण्ट के दर्शन और समसामयिक अनुभववाद में विश्लेषक और संश्लेषक प्रकथन कहा जाता है और काण्ट ने लाइबनित्स के वर्गीकरण को ही ध्यान में रखकर अपनी समस्या को पूर्वानुभविक संश्लेषक प्रकथन के रूप में रखी थी।

काण्ट के अनुसार विश्लेषक और संश्लेषक वाक्यों की व्याख्या

काण्ठ के अनुसार गणित तथा भौतिक-विज्ञान (physics) में ही सही ज्ञान पाया जाता है। फिर जैसा हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे कि काण्ट के अनुसार गणित और भौतिक विज्ञाव में पूर्वानुभविक संश्लेषक प्रकथन होते हैं, इसलिए उनके लिए ज्ञान के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए समस्या यह थी कि किस प्रकार से पूर्वानुभविक संश्लेषक प्रकथन को सम्भावना सिद्ध की जा सकती है। इसलिए हमें काण्ट के अनुसार विश्लेषक और संश्लेषक वाक्यों की व्याख्या करनी चाहिये।

स्वयं काण्ट ने निर्णय (judgement)[1] वर्त्तमानकालिक संकेतात्मक

---

1 वाक्य (sentence), प्रकथन (statement), तर्कवाक्य (proposition), तथा निर्णय (judgement), में अन्तर किया जाता है। प्रायः निर्णय को विचार का सरलतम अथवा यूनिट कहा जाता है। यदि कोई वस्तु मेरे सामने हो और मैं इसके सम्बन्ध में अपने मन में विचार करू" तो वह निर्णय कहा जायगा। जब मैं इसे भाषाबद्ध कर बोलूं या लिखूं कि यह कलकम काली हैं, तब इसे वाक्य या तर्कवाक्य कहा जायेगा। वाक्य में किसी मानसिक प्रक्रिया को अभिव्यक्त किया जा सकता हैं, चाहे वह भाव-संवेग हो, इच्छा-संकल्प हो या शुद्ध ज्ञान परन्तु, तर्कवाक्य वह वर्त्तमानकालिक संकेतात्मक

शब्द को प्रयुक्त किया है, न कि वाक्य या तर्कवाक्य या प्रकथन। इसलिये काण्ट ने विश्लेषक और संश्लेषक वाक्य के बीच के अन्तर को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अभिरंजित कर दिया है। यही कारण है कि तर्कनिष्ठ अनुभववादी काण्ट की व्याख्या को परिशुद्ध नहीं मानते हैं *।

काण्टने निर्णयों के वर्गीकरण में उद्भव (sources) और कथावस्तु या विषय वस्तु (content) के दो आधारों को काम में लाया है। तर्कवाक्यों की विषयवस्तु के आधार पर काण्टने उन्हें विश्लेषक और संश्लेषक† के दो वर्गों में बांटा है। इनके अनुसार विश्लेषक निर्णय वह है जिसमें उसका विधेय उद्देश्य ही में पहले ही से स्फुट या गुप्त रूप से निहित रहता है। जैसे, समझा जाता है कि 'मानव' पद से उसके अन्दर पशुता और विवेकशीलता ध्वनित होती हैं। अब यदि हम कहें 'मानव पशु है' तो इसका विधेय 'पशु' पहले ही से इस तर्कवाक्य के उद्देश्य 'मानव' में निहित है। अब यदि हम 'मानव' से अर्थ पशुता और विवेकशीलता का लगाते हैं तो 'मानव' पशु है, इसे भी हम अवश्य स्वीकार कर लेंगे। इसलिए वास्तव में विश्लेषक वाक्यों में हम केवल उद्देश्य पद को अपने निर्धारित अर्थ में संगतरीति से काम में लाते हैं। इसलिए यहाँ केवल शब्द-ज्ञान, अर्थात् शब्दों को सही रीति से काम में लाने का ज्ञान जानना चाहिए और यहाँ यह प्रश्न ही नहीं उठता है कि शब्दों के अनुरूप कोई वास्तविकता है या नहीं।

---

*वाक्य है जिसमें किसी वस्तु या घटना के सम्बन्ध में ऐसी सूचना (information) दी जाती है जो सत्य-असत्य हो सकती है। 'प्रकथन' अधिक व्यापक है और इसमें वाक्य और तर्कवाक्य दोनों चले आते हैं। समसामयिक विचार में प्रकथन और तर्क-वाक्य में भी अन्तर किया जाता है। प्रायः बताया जाता है कि प्रकथन किसी भी वाक्य के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है और उसके अर्थ को ही तर्कवाक्य कहा जाता है। इस पुस्तक में तर्कवाक्य और प्रकथन के बीच के सूक्ष्म अन्तर को ध्यान में नहीं रखा रखा गया है।

†'विश्लेषक' शब्द विश्लेषण से निकला है जिसका अर्थ है कि किसी जटिल वस्तु या भावना को उसके सरल टुकड़ों या यूनिटों में अलग-अलग विभक्त कर दिया जाय। यही बात अंग्रेजी में 'Analytic' शब्द से अभिव्यक्त होती है। उसी प्रकार Synthetic को संश्लेषक कहा गया है जिसका अर्थ है कि पृथक् टुकड़ों को जोड़ कर या संश्लेषकर एक सम्पूर्ण वस्तु या भावना को रचा जाय।

इसलिए काण्ट के अनुसार विश्लेषक निर्णय अनिवार्य रीति से सत्य कहे जा सकते हैं, परन्तु इनसे वास्तविकता-सम्बन्धी ज्ञानवृद्धि नहीं होती, क्योंकि हम यहाँ उतना ही भर जानते हैं जितना पहले से हम उद्देश्यपद के सम्बन्ध में जानते थे। विश्लेषक निर्णयों के विपरीत संश्लेषक निर्णय वे होते हैं जिनमें विधेय पहले ही से उद्देश्यपद में नहीं निहित या अन्तर्भावित रहता है। जैसे, 'कुछ मानव निरक्षर होते हैं'। अब 'मानव' पद में साक्षरता या निरक्षरता की सारगुणवाचकता नहीं मानी जा सकती हैं। यदि कोई व्यक्ति नहीं पढ़े तो उसे 'मानव' पुकारने में कोई दोष नहीं माना जायगा। इसलिए कोई अमुक व्यक्ति वास्तव में निरक्षर है या साक्षर है, यह केवल उस व्यक्ति की पूछ-ताछ अर्थात् अनुभूति से ही जाना जा सकता है। इसलिए संश्लेषक निर्णयों की सत्यता अनुभूतिविषयक होती है, न कि केवल शब्दों के ही अर्थ-विश्लेषण पर आधारित। इसलिए संश्लेषक निर्णय अनुभूति से प्राप्त किये जाते और चूंकि अनुभूति ही के द्वारा वास्तविक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए संश्लेपक निर्णयों में ज्ञानवृद्धि हो सकती है। परन्तु अनुभूति के आधार पर कोई इतना ही भर कह सकता है कि यह कलम काली है, पर यह नहीं संगतरीति से कह सकता है कि यह कलम अवश्य काली होगी। यह ठीक है कि अनुभूति के आधार पर हम कह सकते हैं कि सूर्य पूरब में उगता है। पर हम यह नहीं कह सकते हैं कि सूर्य पूरब में अवश्य ही उगेगा। इसलिए संश्लेषक निर्णयों में अनिवार्यता नहीं, लेकिन केवल संभाव्यता (probability) ही प्राप्त हो सकती है। इसलिए काण्ट के अनुसार विश्लेषक और संश्लेषक निर्णयों में अन्तर है।

विश्लेषक निर्णय	संश्लेषक निर्णय
१. इसकी सत्यता (वैधता[*]) शब्दों के ही विश्लेषण पर निर्भर करती है। यदि शब्द संगत रीति से व्यवहृत हुआ तो इसे सही स्वीकार कर लिया जाता है। इसमें वास्तविकता का प्रश्न नहीं उठता।	१. इसकी सत्यता वास्तविकता को सही अभिव्यंजित करने से उत्पन्न होती है। इसलिए यह अनुभूति पर आधारित होता है।

[*] 'सत्यता' शब्द को वहीं व्यवहार किया जाता है जहाँ वास्तविकता के अनुसार तर्कवाक्यों का प्रमाणीकरण या सत्यापन होता है। इसके विपरीत जहाँ केवल शब्दों के ही संगत व्यवहार की बात कही जाती है, वहाँ वैध-अवैध की संज्ञा दी जाती है। इसलिए तर्कशास्त्र में वैधता=अवैधता और विज्ञानों में सत्यता=असत्यता पायी जाती है।

२. इसनें अनिवार्यता पायी जाती है ।

३. इसमें चूंकि वास्तविकता का प्रश्न ही नहीं उठता, इसलिए इससे ज्ञानवृद्धि नहीं होती है ।

२. इसमें अनिवार्यता नहीं, लेकिन संभाव्यता पायी जाती है ।

३. चूंकि इसका सम्बन्ध वास्तविक अनुभूति से होता, इसलिए इसके द्वारा ज्ञानवृद्धि सम्भव है ।

अब विश्लेषक तथा संश्लेषक निर्णयों में केवल इतना ही भर देखा जाता है कि विधेय उद्देश्यपद में निहित है या नहीं । परन्तु निर्णयों का वर्गीकरण ज्ञान के उद्भव के दृष्टिकोण से भी सम्भव है और काण्ट ने उद्गम के आधार पर निर्णयों को पूर्वानुभविक (a priori) और उत्तरानुभविक (a posteriori) वर्गों में बाँटा है । जैसा नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वानुभविक निर्णय वे हैं जो किसी भी अनुभूति से परे, स्वतन्त्र या पूर्व रचे जाते हैं। अनुभूति से पूर्व या परे का अर्थ है कि इन निर्णयों की रचना में अनुभूति का विषय नहीं होता, जैसे, २ और २ मिलकर ४ होते हैं । यहाँ यदि कोई भी वस्तु न हो जिसे गिना जा सके तोभी २और २ मिलकर ४ होंगे । यदि हम अनुभूति से २ और २ मिलकर ४ होना सीखते, तो इसे कभी भी अनिवार्य रीति से सत्य नहीं मानते । इसका कारण है कि २ और २ जल कीं बूंदे मिलकर १ होती हैं, न कि चार, २ बकरियाँ और २ बाघ मिल जायं तो होगा २, इत्यादि । इसलिए कहा गया है कि गणितशास्त्र की सत्यता अनुभूति से सम्बन्ध नहीं रखती है । जैसा हम पहले भी कह आये हैं, इसकी सत्यता संख्यावाची शब्दों के संगत व्यवहार पर निर्भर करती है । काण्टने पूर्वानुभविक निर्णयों के दो लक्षणों का भी उल्लेख किया है, अर्थात् इनमें अनिवार्यता और शुद्ध सर्वव्यापकता (universality) पायी जाती है । शुद्ध सर्वव्यापकता से अर्थ है कि ये किसी भी सम्भव परिस्थिति में सत्य होंगे ।

पूर्वानुभविक निर्णयों के विपरीत उत्तरानुभविक निर्णय होते हैं जिन्हें हम अनुभूतिजन्य कह सकते हैं क्योंकि इनकी सत्यता वास्तविक अनुभूति से स्थापित की जाती है । जैसे, सफेद फूलों में सुगन्ध होती है । अब यह निर्णय सत्य है या असत्य, वह वास्तविक परिस्थिति से ही निर्धारित किया जा सकता है।

अब यदि पाठक ध्यान से देखें तो वे पायेंगे कि काण्ट उत्तरानुभविक और और संश्लेषक निर्णयों को एक नहीं कहते हैं, यद्यपि सभी उत्तरानुभविक

निर्णय संश्लेषक कहे जायेंगे। पर क्या सभी संश्लेषक निर्णय उत्तरानुभविक कहे जा सकते हैं? काण्ट के अनुसार यह ठीक नहीं होगा, क्योंकि इनके अनुसार संश्लेषक वाक्य पूर्वानुभविक भी होते हैं। अब यह मत सही है या नहीं, यह अनिवार्यता की व्याख्या पर निर्भर करता है। काण्ट के अनुसार विश्लेषक और पूर्वानुभविक, दोनों प्रकार के निर्णय अनिवार्य रीति से सत्य कहे जाते हैं, तो क्या विश्लेषक अनिवार्यता और पूर्वानुभविक अनिवार्यता में कोई अन्तर नहीं?

प्राय:, तर्कनिष्ठ अनुभववादियों का कहना है कि विश्लेषक और पूर्वानुभविक अनिवार्यता में कोई अन्तर नहीं। इसलिए उनके अनुसार किसी भी निर्णय को संश्लेषक के साथ पूर्वानुभविक भी कहने का अर्थ होता है कि एक ही निर्णय संश्लेषक और विश्लेषक दोनों है, और ऐसा कहना आत्मविरोधात्मक है। इसलिए अनुभववादियों का कहना है कि काण्टने गणित और पदार्थविज्ञान के प्रकथनों को संश्लेषक पूर्वानुभविक मानकर एक मिथ्या समस्या अपने सामने रख ली है। अतः, ज्ञान के संश्लेषक पूर्वानुभविक निर्णयों का किस प्रकार स्पष्टीकरण हो सकता है? अब यदि समस्या ही भ्रमात्मक हो तो इसका समाधान भी वैसा ही होगा। इसलिए प्राय: अनुभववादी कहते हैं कि काण्टने ज्ञानमीमांसा को आगे न बढ़ाकर इसमें भ्रम, शब्दजाल, जल्प इत्यादि के बढ़ जाने का पूरा मसाला तैयार कर दिया है।

यह ठीक है कि यदि हम गाणतिक निर्णय और भौतिक विज्ञान के प्रकथनों की उस व्याख्या को लें जिसे काण्टने हमारे सामने रखी है तो हमें कहना पड़ेगा कि काण्टने मनोवैनिक बातों को जोड़-तोड़कर पूर्वानुभविक संश्लेषक निर्णयों की ऐसी व्याख्या की है जिसे हम शुद्ध तार्किक नहीं कह सकते हैं। उन्होने गाणतिक प्रकथनों को भी संश्लेषक के रूप में और पदार्थ वैज्ञानिक प्रकथनों को गोल रीति से पूर्वानुभविक रूप में स्पष्ट करने की कोशिश की है। परन्तु क्या पूर्वानुभविक और विश्लेषक अनिवार्यता काण्टने कहीं भी एक कही है? नहीं। इनका भेद ही काण्ट की मुख्य समस्या थी।

इस बात में काण्ट अनुभववादियों से सहमत थे कि वास्तविक जगत् का तथ्यात्मक ज्ञान केवल संवेदन और आत्मनिरीक्षण से ही सम्भव हो सकता

है। फिर वे अनुभववादियों की दूसरी मान्यता को भी स्वीकार करते थे कि अनुभूति से प्राप्त संवेदन-छाप पृथक-पृथक ही हो सकता है। परन्तु ज्ञान प्रत्ययों की या संवेदन इत्यादि से प्राप्त प्रत्यक्ष की छापों की क्रमबद्ध व्यवस्था है। इसलिए समस्या यह है कि कैसे पृथक-पृथक रहने वाले प्रत्यक्षों को व्यवस्थित किया जाय और वे आधार जिनसे व्यवस्था उत्पन्न होती हैं, उन्हें कैसे स्पष्ट कर दिया जाय ? यहाँ काण्ट ने अपने दर्शन में बतलाया है कि क्रमबद्ध व्यवस्था की प्राप्ति में कई सीढ़ियाँ पायी जाती हैं और प्रत्येक पग पर व्यवस्था के उत्पन्न करने में पूर्वानुभविक अंग पाये जाते हैं। सर्वप्रथम, संवेदन तथा आत्मनिरीक्षण से प्राप्त छाप अपने आप प्रागनुभविक देश-काल के रूपों से व्यवस्थित होकर प्रत्यक्ष का आकार धारण कर लेती हैं। परन्तु प्रत्यक्षों से ज्ञान नहीं होता। वास्तव में काण्ट के अनुसार निर्णय ही ज्ञान के यूनिट हैं और प्रत्यक्षों से निर्णय की रचना में समझ के प्रागनुभविक पदार्थ (categories) पाये जाते हैं। इन पदार्थों में काण्ट ने कारण-कार्य और द्रव्य पर अधिक जोर दिया है। काण्ट के अनुसार बिना कारण-कार्य के पदार्थ के बिना कोई भी वैज्ञानिक निर्णय सम्भव नहीं होते हैं। अब काण्ट का कहना है कि बिना देश-काल के प्रागनुभविक रूप तथा कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि के पदार्थ के ज्ञान-व्यवस्था सम्भव नहीं होती है। अब क्या देश-काल के रूपों तथा कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि पदार्थों की अनिवार्यता को विश्लेषक अनिवार्यता कही जा सकती है ? अब कम-से-कम तीन प्रकार की अनिवार्यता हो सकती है, अर्थात् ।

१. मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता जो बहुत कुछ तथ्यात्मक अनिवार्यता से मिलती-जुलती है। जैसे, हम कहते हैं कि 'मुलायम घास अवश्य ही मनुष्य के पैर के भार से दब जायगी।' यह तथ्यात्मक अनिवार्यता की बात है। पर इसे तार्किक अनिवार्यता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके विपक्ष में हम कल्पना कर सकते हैं कि मुलायम घास पैर से दबने पर भी खड़ी की खड़ी रह जाय। उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता हो सकती है। अब ह्यूम के अनुसार कारण-कार्य तथा द्रव्य पदार्थ के अनुसार विचारने की प्रणाली मानव मन के सहचार-नियम से बंध जाने की अनिवार्यता के आधार पर पायी जाती है। मानव मन बाध्य हो जाता है कि अनेक बार सूर्य और प्रकाश का योग पाकर वह सूर्य को कारण और प्रकाश को उसका कार्य समझे। स्वयं सूर्य और प्रकाश में कोई

कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं है, पर मानव मन अपने स्वरूप से बाध्य होकर सहचार के आधार पर सूर्य को 'कारण' समझता है। अब क्या काण्ट भी यही मानते हैं कि मानव अपने स्वभाव से लाचार होकर कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि के पदार्थों (categories) के अनुसार विचार करते हैं ?

थोड़ा बहुत काण्ट भी समझते थे कि मानव ऐसे ही रचे गए हैं कि वे बिना द्रव्य, कारण-कार्य इत्यादि पदार्थों के बिना विचार ही नहीं सकते हैं। इनका मतभेद ह्यूम से इतना ही भर था कि कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि के पदार्थ अनुभूति के द्वारा प्राप्त नहीं किये गये हैं। वे सभी मानव के विचार करने का सर्वव्यापक विधान है। यह विधान मानव के स्वभाव से ही सिद्ध होता है। तो क्या इसे भी मनोवैज्ञानिक माना जाय और कहा जाय कि यह मनोवैज्ञानिक सत्यता है कि मानव बिना कारण-कार्य द्रव्य इत्यादि पदार्थों के नहीं सोच सकता है ? नहीं। इसका कारण है कि काण्ट के अनुसार कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि अनुभूति से नहीं प्राप्त किये गये हैं, क्योंकि मानव-स्वभाव-सिद्ध होने के कारण ये प्रथम अनुभूति के भी पूर्व कहे जायंगे। फिर यह सही नहीं कहा जायगा कि वास्तव में सभी व्यक्ति कारण-कार्य इत्यादि के अनुसार सभी स्थलों पर सोचते हैं। बहुत ऐसे पागल हैं जो समझ सकते हैं कि सूर्य से नहीं, लेकिन उनकी श्वास-नि:श्वास से ही ताप मिलता है और वे ये भी सोच सकते हैं कि कभी सूर्य से ठंढा और कभी ताप मिलता है। परन्तु काण्ट का कहना है कि यदि आप सर्वव्यापक, सर्वमान्य तथा वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो आप बिना कारण-कार्य द्रव्य इत्यादि के पदार्थों को काम में लाये हुए इस प्रकार के ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये यद्यपि कारण-कार्य इत्यादि के पदार्थ मानव-स्वभाव-सिद्ध हैं तोभी इन्हें मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जायगा। तो क्या इस प्रकार की अनिवार्यता को विश्लेषक अनिवार्यता कही जाय ?

(२) हमलोगों ने पहले ही बताया है कि विश्लेषक प्रकथनों की अनिवार्यता शब्दार्थक हुआ करती है और इसमें वास्तविकता का प्रश्न ही नहीं उठता है। परन्तु काण्ट के अनुसार प्रागनुभविक कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि पदार्थों का काम है कि वे प्रत्यक्षों को व्यवस्थित कर वैज्ञानिक निर्णयों की स्थापना करें।

(३) इसलिए काण्ट पूर्वानुभविक पदार्थों की अनिवार्यता को तार्किक कहेंगे, न कि विश्लेषक या मनोवैज्ञानिक। अब काण्ट की विचारशैली को अपनाने पर कहा जा सकता है कि तार्किक अनिवार्यता प्रागनुभविक और विश्लेषक दो प्रकार की होती है। विश्लेषक अनिवार्यता शब्दार्थक या शब्द-विश्लेषणात्मक होती और इसका सम्बन्ध वास्तविकता से नहीं होता है। पूर्वानुभविक अनिवार्यता वह है जो वास्तविक प्रत्यक्षों की साक्षात् प्राप्ति से नहीं, पर उनकी क्रमबद्ध व्यवस्था से सम्बन्ध रखती है। चूँकि बिना क्रमबद्ध व्यवस्था के वैज्ञानिक ज्ञान संभव नहीं होता और चूँकि प्रागनुभविक पदार्थ क्रमबद्ध व्यवस्था में अनिवार्य होते हैं, इसलिए काण्ट के अनुसार प्रागनुभविक पदार्थों क अनिवार्यता ज्ञानवृद्धि के लिए भी पूर्णतया आवश्यक है।

(क) इसलिये प्रागनुभविक और विश्लेषक अनिवार्यताओं में पहला अन्तर यह है कि प्रागनुभविक अनिवार्यता का सम्बन्ध वास्तविकता से रहता है और विश्लेषक अनिवार्यता में वास्तविकता का प्रश्न ही नहीं उठता हैं।

(ख) फिर विश्लेषक अनिवार्यता अनायास ही स्पष्ट हो जाती है जो बात प्रागनुभविक अनिवार्यता में नहीं पायी जाती है। यदि हम कहें कि 'बरसाता दिन आर्द्र होते हैं' तो इसे स्वीकार करने में कोई विचार-विमर्श की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु यह कहना कि बिना कारण-कार्य के प्रागनुभाविक पदार्थ के वैज्ञानिक ज्ञान संभव नहीं है, आसानी से नहीं स्वीकार किया जा सकता है। इसे स्पष्ट करने के ही लिये काण्ट को कठिन प्रयास करना पड़ा था।

काण्ट की प्रागनुभविक अनिवार्यता के सम्बन्ध में समसामयिक मत

पहले ही हम देख चुके हैं कि समसामयिक अनुभववादी मत के अनुसार प्रागनुभविक और विश्लेषक अनिवार्यता को एक ही समझा जाता है और इसलिये प्रागनुभविक संश्लेषक निर्णय की संभावना को आत्मविरोधी कहा जाता है। अब ऐसा मानने के सम्बन्ध में क्या तर्क दिये जाते हैं ?

१. काण्टने कारण-कार्य, द्रव्य, भाव-अभाव-सीमा, एकत्व-अनेकत्व-सम्पूर्णत्व इत्यादि के पदार्थों को वैज्ञानिक ज्ञान के लिए आवश्यक और सर्वव्यापक माना है। काण्ट के समय में किसी भी तथ्यात्मक (factual)

विज्ञान में बिना कारण-कार्य के पदार्थ की दुहाई दिये हुए किसी भी नियम की स्थापना नहीं की जाती थी। इसलिये काण्टने कारण-कार्य को अपने युग और उसी वैज्ञानिक परम्परा की अनूठी विशेषता नहीं मानी, लेकिन इसे स्थायी, आवश्यक और अपवादरहित पदार्थ माना है। इसलिये काण्टने यह निष्कर्ष निकाला था कि बिना कारण-कार्य तथा अन्य पदार्थों के वैज्ञानिक विचार संभव है ही नहीं। अतः, काण्टने वैज्ञानिक विचार के लिये इन्हें मानव-स्वभाव-सिद्ध अनिवार्य पदार्थ-विज्ञान माना है। पर क्या इसे आज अनिवार्य विचार-विधान (legislation) माना जा सकता है ?

आज की दुनियाँ में भौतिकी मुख्य विज्ञान माना जाता है। इस विज्ञान में परमाणुसम्बन्धी नियमों में कारण-कार्य की आश्यकता नहीं पड़ती है। स्थूल वस्तुओं के सम्बन्ध में ही नियतिवाद तथा कारण-कार्य के अनुसार नियमों की स्थापना की जा सकती है, परन्तु सूक्ष्म परमाणुओं के अन्दर की कार्यवाही में कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं दिखायी देता है। इसलिए इस युग के न्यूक्लियर भौतिकी में कारण-कार्य को अनिवार्य नहीं समझा जाता है। यही कारण है कि समसामयिक अनुभववादी काण्ट के इस इस कथन को कि कारण-कार्य का पदार्थ (category) अनिवार्य है, सही नहीं मानते हैं।

(२) अब चूंकि कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि के पदार्थ वैज्ञानिक ज्ञान में अनिवार्य नहीं समझे जा सकते हैं, तो यह कहना कि ये वैज्ञानिक विचार के विधान हैं, सही नहीं ठहरता है, अर्थात् यह कहना कि ये पदार्थ मानव-स्वभाव-सिद्ध है, सही नहीं माना जा सकता है। इसलिए अनुभववादियों का कहना है कि ये पदार्थ वास्तव में परिपाटी या रूढ़ि (convention) से उत्पन्न हुए हैं। अभी तक इन रुढ़िगत पदार्थों के मानने से विचारों के संचालन में सफलता मिली है, इसलिये इनकी मान्यता अभी भी बनी हुई है। परन्तु जैसा 'रूढ़ि' या 'परिपाटी' शब्द से ही अभिव्यञ्जित हो जाता है, इन्हें मानव विचारों के लिये अनिवार्य नहीं समझा जा सकता है।

पदार्थों के सम्बन्ध में अनिवार्यता न मानकर रूढ़िवाद के सिद्धान्त को इस समय अधिक मान्यता प्राप्त है, पर क्या इससे काण्ट के मत का सम्पूर्ण-तया खण्डन हो जाता है ? नहीं, इसका कारण है कि जो कुछ काण्ट ने पदार्थों के सम्बन्ध में कहा था उसके मूल में क्या था, इसे ही हमें इस प्रश्न के उत्तर

देने में आधार मानना चाहिए। उनका का कहना था कि गणित और पदार्थ विज्ञान के प्रकथनों को ही समझना चाहिए और उनके भाषा-विश्लेषण के आधार पर ज्ञानमीमांसा रचनी चाहिये। अब चूंकि काण्ट के युग के वैज्ञानिक प्रकथनों के भाषाविश्लेषण के अनुसार कारण-कार्य तथा अन्य पदार्थों को अनिवार्य कहा जा सकता था और आज के वैज्ञानिक प्रकथनो के विश्लेषण से उन्हें केवल रूढ़िगत (conventional) ही कहा जा सकता है, तो आज यदि काण्ट जीवित होते तो वे भी पदार्थों को रूढ़िगत की ही संज्ञा देते। वे भी कहते कि वैज्ञानिक प्रकथनों के लिए कारण-कार्य का पदार्थ उतना अनिवार्य नहीं माना जायगा जितना गाणतिक समरूपता (mathematical uniformities), पर वे अन्त में पूछते : पदार्थ को हम रूढ़िगत मान ले सकते हैं, पर क्या बिना पदार्थ के हम वैज्ञानिक प्रकथनों की स्थापना कर सकते है ? हो सकता है कि कारण-कार्य का पदार्थ अब न मानकर गाणतिक सूत्रों की समरूपता को ही हम अभी अधिक उपयोगी समझें, पर क्या हम किसी भी प्रकार के पदार्थों को एक युग में बिना अधिक उपयोगी और आवश्यक समझकर वैज्ञानिक प्रकथनों की स्थापना कर सकते हैं ? इसलिए संभव है कि किसी एक पदार्थ-विशेष को, उदाहरणार्थ कारण-कार्य को अनिवार्य हम न समझें, किन्तु सामान्य रीति से पदार्थों को, चाहे हम अब उन्हें रूढ़िगत कहें या मानव-स्वभाव-सिद्ध कहें, हमें अनिवार्य समझना ही पड़ेगा। फिर यदि हम उन्हें अनिवार्य समझें तो-कम-से कम यह भी मानना पड़ेगा कि तार्किक रूप से सोचना भी मानव-स्वभाव-सिद्ध है। इसलिए अन्त में तार्किक नियमों के मूल में मानव मनोवैज्ञानिकता की वास्तविकता को स्वीकार करना होगा। यह ठीक है कि अनुभववादी विचारक पदार्थ-सम्बन्धी सामान्य समस्या को समस्या ही नहीं मानेंगे। उनके अनुसार उचित प्रश्न केवल किसी पदार्थ-विशेष के सम्बन्ध में पूछा जा सकता है, परन्तु यह पूछना कि क्या बिना पदार्थ के सोचा जा सकता है, केवल समस्याभास है।

इसलिये काण्ट की पूर्वानुभविक अनिवार्यता को विश्लेषक अनिवार्यता नहीं कही जा सकती है, परन्तु इसकी पदार्थसम्बन्धी अनिवार्यता का सिद्धान्त अभी भी विचारकों के लिये विचाराधीन है।

गणित में पूर्वानुभविक संश्लेषक निर्णयों का प्रश्न

अब जो कुछ भी समसामयिक निष्कर्ष काण्ट की प्रागनुभविक अनिवार्यता-के सम्बन्ध में हो। कम-से-कम यह स्पष्ट है कि काण्ट के अनुसार पूर्वानुभविक अनिवार्यता से ज्ञानवृद्धि में योगदान मिलता है। इसलिये यह तो सभी कहेंगे कि विश्लेषक निर्णय अनिवार्य होते हैं, और यह भी कि संश्लेषक निर्णय ज्ञानवृद्धि करते हैं। पर क्या ऐसे निर्णय भी हो सकते हैं जो ज्ञानवृद्धि करते हुए अनिवार्य हों और अनिवार्य रहते हुए भी विश्लेषक न होकर संश्लेषक हों? काण्ट का कहना है कि जिन्हें हम विज्ञान कहते हैं, अर्थात् उनके समय के गणित और पदार्थविज्ञान, दोनों में पूर्वानुभविक संश्लेषक निर्णय पाये जाते हैं और काण्ट ने इसे निम्नलिखित रीतिसे स्पष्ट करने की कोशिश की है।

अंकगणित के एक उदाहरण को लें। '५ और ७ का योगफल १२ होता है'। यहाँ उद्देश्य है '५ और ७ मिलकर' और विधेय 'योगफल १२'। इसे इसलिये पूर्वानुभविक कहा जा सकता है कि इसमें सर्वव्यापकता और अनिवार्यता पायी जाती है। इस प्रकथन को सभी निश्चित रूप से सत्य मानेंगे। चूंकि सर्वव्यापकता और अनिवार्यता पूर्वानुभविक निर्णयों का चिह्न है, इसलिए अंकगणित का यह प्रकथन प्रागनुभविक कहा जायगा। पर इसे क्यों संश्लेषक कहा जाय? इसे स्पष्ट करने में काण्ट को कठिनाई का सामना करना पड़ा। इनका कहना है कि विधेयपद 'योगफल १२' उद्देश्यपद '५ और ७ मिलकर' में पहले से निहित नहीं है। काण्ट को इस बात को शायद ही लोग स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि लोगों के अनुसार '१२' पहले से ही '५+७' में निहित है और इसलिये वे इस प्रकथन को विश्लेषक मानेंगे, न कि संश्लेषक। परन्तु काण्ट के अनुसार उद्देश्यपद '५ और ७ मिलकर' केवल दो संख्याओं के एक साथ मेल का ही बोध करता है और इस योगक्रिया से क्या योगफल निकलेगा इसका बोध नहीं होता है। काण्ट के अनुसार 'योगक्रिया' में ही 'योगफल' निहित नहीं है। तो प्रश्न हो सकता है कि हम क्यों समझते हैं कि 'योगफल' पहले से ही 'योगक्रिया' में निहित है? काण्ट का कहना है कि यह भ्रम इसलिये हो जाता है कि हम बहुत छोटे छोटे अंकों की योगक्रिया अपने उदाहरण में लिये हुए हैं और इसलिये उन्हें देखते साथ उसके योगफल १२ को जान लेते हैं। परन्तु यदि हम दो बड़े अंकों को लें जैसे, ९७६५३२९+३७४५६ तो इनका योगफल x उद्देश्यपद, में निहित नहीं

मालूम देगा । इसलिये काण्ट के अनुसार अंकगणित के निर्णय प्रागनुभविक होने के साथ संश्लेषक भी हैं ।

"That 5 should be added to 7, I have indeed already thought in the concept of a sum = 7 + 5, but not that this sum is equivalent to the number 12. Arithmetical propositions are therefore always synthetic. This is still not evident if we take large numbers (*)

पर क्या काण्ट का यह कहना कि ५ और ७ की योगक्रिया में १२ योगफल निहित नहीं है, सही माना जायगा ? काण्ट ने मनोवैज्ञानिक व्याख्या करके अपने पक्ष की निर्बलता को ही स्पष्ट किया है । यदि अंक बड़े बड़े हों, तो हमारी मनोवैज्ञानिक क्षमता ऐसी न हो कि देखते साथ उसके योगफल को बता दें । पर प्रश्न यह है कि क्या अंकों की योगक्रिया में ही योगफल निहित हैं या नहीं ? काण्ट ने गलत कहा हैं कि योगफल योगक्रिया में अन्तर्निहित नहीं है । कोई आसानी से या कठिनाई से योगक्रिया के द्वारा योगफल को जानें या न जान सके, यह मनोवैज्ञानिक बात है । तार्किक दृष्टिकोण से हमें इतना ही भर देखना है कि योगक्रिया में योगफल अन्तर्निहित है या नहीं और हमें मानना पड़ेगा कि '७ + ५' का योगफल अवश्य इसमें है, चाहे हम इसे आसानी से या कठिनाई से जानें कि यह योगफल का अंक १२ है । काण्ट भी इस बात को जानते थे क्योंकि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि ऊपर से देखने में अंकगणित के प्रकथन विश्लेषक ही लगते हैं ।

यदि काण्ट इस प्रसंग में प्रागनुभविक अनिवार्यता पर ध्यान देते तो उन्हें स्पष्ट हो जाता कि उन्होंने यहाँ 'अनिवार्यता' की व्याख्या नहीं की है और वे बताना चाहते थे कि सब प्रकार की अनिवार्यता प्रागनुभविक है । यह गलत है । गणितिक प्रकथनों की अनिवार्यता विश्लेषक अनिवार्यता है, न कि प्रागनुभविक । काण्ट का सबसे बड़ा दोष यह है कि उन्होंने अनिवार्यता को स्पष्ट नहीं

N. K. Smith, 'Immanuel Kant's Critique of Pure Reason'—Abridged Edition—p. 33

किया है और यहीं पर प्रागनुभविक अनिवार्यता को विश्लेषक अनिवार्यता मान लिया है। यदि बात ऐसी हो तो प्रागनुभविक संश्लेषक और विश्लेषक संश्लेषक में कोई अन्तर नहीं होता और प्रागनुभविक संश्लेषक निर्णय आत्म-विरोधी हो जाता है। अब चूंकि गाणतिक प्रकथनों की अनिवार्यता विश्लेषक अनिवार्यता है, इसलिए इन्हें फिर संश्लेषक मानने में आत्मविरोध उत्पन्न हो जाता है और यही कारण हैं कि काण्ट वास्तव में गाणतिक प्रकथनों को संश्लेषक नहीं सिद्धकर पाये हैं, क्योंकि वे संश्लेषक हैं भी नहीं। काण्ट की यह भी गलती थी कि वे गणित को तथ्यात्मक विज्ञान मानते थे। गणित में वास्तविकता से सम्बन्ध नहीं रहता है और इसलिए इसमें केवल विश्लेषक वाक्य ही रह सकते हैं, इसलिए इन्हें संश्लेषक सिद्ध करने में उन्हें कठिनाई का सामना करना पड़ा। भला बालू से तेल कैसे निकलेगा ?

भौतिकी में पूर्वानुभविक संश्लेषक निर्णयों की समस्या

गणित के तर्कवाक्य अनिवार्य होते हैं। इसे मानने में कठिनाई नहीं होती है; परन्तु उन्हें संश्लेषक सिद्ध करने में कठिनाई अवश्य मालूम देती है। ठीक इसके विपरीत भौतिकीय प्रकथनों की बात है। उन्हें संश्लेषक मानने में कठिनाई नहीं होती है क्योंकि सभी स्वीकार करेंगे कि भौतिकीय प्रकथन अनुभूति पर आधारित होते हैं। परन्तु उन्हें अनिवार्य मान लेने में कठिनाई अवश्य होती है और इसे हम काण्ट की व्याख्या में पायेंगे।

काण्ट ने अपने मत को स्पष्ट करने के लिए भौतिकीय प्रकथनों के दो उदाहरणों को हमारे सामने रखा है। 'भौतिक पदार्थों के सभी परिवर्तनों में भौतिक पदार्थ का परिमाण, (quantity) ज्यों का त्यों (या स्थायी) रहता है,' और 'किसी भी गति के संचार में क्रिया-प्रक्रिया(action-reaction) बराबर होती है'। काण्ट के अनुसार दोनों तर्कवाक्य पूर्वानुभविक संश्लेषक हैं। ये इसलिए पूर्वानुभविक हैं कि ये अनिवार्य हैं और इसलिए संश्लेषक हैं कि 'भौतिक पदार्थ' में 'स्थायित्व' (permanence) पहले से ही अन्तर्निहित नहीं कहा जा सकता है। इसलिए यहाँ स्थायित्व को भौतिक पदार्थ से जोड़ दिया गया है। परन्तु प्रश्न होता है कि स्थायित्व को 'भौतिक पदार्थ' से जोड़ा कैसे गया है ? काण्ट ने एक पहले के उदाहरण में कि 'सभी

भौतिक पदार्थ में भार होता है' कहा था कि इस संश्लेषक तर्कवाक्य में विधेय (भार होना) का उद्देश्यपद (भौतिक पदार्थ) के साथ का योग अनुभूति के आधार पर ही होता है[1]। तो क्या स्थायित्व का भी 'भौतिक पदार्थ' के साथ योग अनुभूति पर आधारित होता है ? काण्ट का कहना है कि नहीं। यहाँ काण्ट के अनुसार स्थायित्व (विधेय) का भौतिक पदार्थ (उद्देश्य) के साथ योग पूर्वानुभविक है :

"I go outside and beyond the concept of matter joining to it *a priori* in thought something (permanence)which I have not thought *in* it. The proposition is not, therefore, analytic, but synthetic, and yet is thought *a priori*; ......")[२]

अब यदि स्थायित्व की भावना 'भौतिक पदार्थ' में अन्तर्निहित नहीं हो तो हम कैसे कह सकते हैं कि भौतिक पदार्थ अवश्य ही परिमाण के दृष्टिकोण से स्थायी रहते हैं ? काण्ट को चाहिये था कि वे इस बात पर प्रकाश डालते। परन्तु जो कुछ आगे चलकर उन्होंने कारण-कार्य के सम्बन्ध में कहा है, उससे स्पष्ट होता है कि काण्ट पूर्वानुभविक अनिवार्यता और विश्लेषक अनिवार्यता में अन्तर समझते थे। भौतिकीय प्रकथनों की अनिवार्यता को वे पूर्वानुभविक अनिवार्यता समझते थे। परन्तु इस पर यहाँ इस प्रसंग में उन्होंने अनिश्चित रूप में रख छोड़ा है।

अब हम पूर्वानुभविक संश्लेषक तर्कवाक्यों की सम्भावना मानें या न मानें, परन्तु काण्ट के लिए गणित और सभी तथ्यात्मक विज्ञानों में ऐसे तर्कवाक्य पाये जाते हैं और इसीलिए उनकी समस्या थी कि कैसे पूर्वानुभविक संश्लेषक तर्कवाक्यों की सम्भावना सिद्ध हो सकती है। इसी समस्या का समाधान करने के लिए उन्होंने वर्षों के परिश्रम और चिन्तन करने के बाद 'Critique of Pure Reason' लिखा है और हम इसी पुस्तक के विषय को अब स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे।

---

१ The possibility of the synthesis of the predicate 'weight' with the concept of 'body' thus rests upon experience" [N. K. Smith, Ibid—P. 3.]

२. वही पृ०—३४

काण्ट की मुख्य रचनायें critique of Pure Reason(शुद्ध बुद्धि की समीक्षा),Critique of Practical Reason (कृति-बुद्धि की समीक्षा), Critique of Judgment (भाव बुद्धि की समीक्षा) के नाम से विख्यात हैं। 'Critique of Pure Reason' अन्य पुस्तकों से अधिक प्रमुख स्थान रखती है, पर अन्य दो पुस्तकों की भी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। 'शुद्ध बुद्धि की समीक्षा' नामक पुस्तक में काण्ट ने दिखलाया है कि प्रातिभासिक ज्ञान ही सम्भव है और परम पदार्थों का ज्ञान सम्भव नहीं है। कृति-बुद्धि-विषयक रचना नैतिक विचारों से सम्बन्ध रखती है। इस रचना में काण्ट ने नैतिकता (morality) के प्रागनुभविक अंगों को स्पष्ट किया है। शुद्ध और कृति बुद्धि की समीक्षाओं में मुख्य अन्तर विषय ही का नहीं है, पर निष्कर्षों के फलस्वरूप का भी है। 'Pure Reason' में काण्ट ने दिखलाया है कि प्रातिभासिक ज्ञान सार्वभौम है, पर इसमें संवेद्य (sensible) उपादान और संयोजन करनेवाले प्रागनुभविक मानसिक रूपों (forms) के साथ मेल होना आवश्यक है। पर 'Practical Reason' की समीक्षा में काण्ट ने दिखलाया है कि कर्त्तव्य (duty) प्रागनुभविक रूपों से ही नियन्त्रित होता है। '*Critique of Judgment*' में काण्ट ने दो विशेष बातों पर ध्यान दिया जाता है। Pure Reason की समीक्षा में काण्ट ने माना है कि वैज्ञानिक नियम यान्त्रिकीय ही स्वीकार किये जा सकते हैं। परन्तु Critique of Judgment में उनका ध्यान जीवों की उद्देश्यात्मक (teleological) क्रियाओं पर पड़ता है और काण्ट उद्देश्यात्मक नियमों की सम्भावना भाँपते हैं। यदि वे इस पर अधिक ध्यान देते तो उन्हें अपनी पूरी देन को संशोधित करना पड़ता। फिर Critique of Judgment में काण्ट बताते हैं कि अपार्थिव महान् हमारी अनुभूति में व्यंजित हो पड़ता है जिससे पारमार्थिक सत्ता का आभास मिलता है। अतः, पारमार्थिक सत्ता अज्ञेय होते हुए भी भ्रम नहीं है क्योंकि यह हमें अपनी उद्देश्य-पूर्त्ति के लिए आलोड़ित करती है। अतः, Critique of pure Reason का अज्ञेयवाद Practical Reason की समीक्षा में संशोधित हो जाता है

क्योंकि इसमें दिखलाया जाता है कि ईश्वर, आत्मा, विश्व अज्ञेय होते हुए भी विश्वास के योग्य विषय हैं। फिर Critique of Judgment में पारमार्थिक सत्ता को अकाल्पनिक मानकर अनुभूति में इसके व्यंजित आभास को स्वीकार किया जाता है। अतः, Practical Reason और Critique of Judgment के आधार पर अनुकाण्टीय अबौद्धिकता (anti-intellectualism) का पूरा मशाला देखने में आता है।

परन्तु काण्ट के दर्शन में Critique of Pure Reason का विशेष स्थान है। इसकी ही यहाँ विशेष व्याख्या की जायगी। पहले ही कहा जा चुका है कि काण्ट अपनी समस्याओं को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट देते हैं और प्रत्येक टुकड़े का सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं। यदि हम समस्याओं के विश्लिष्ट अंगों के विस्तार पर अधिक ध्यान दें, तो हो सकता है कि काण्ट की मौलिक देन हमारी पकड़ से पिछल जाय। इसलिए हम मुख्य-मुख्य अंगों पर ही ध्यान देंगे।

सभी विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञान की प्राप्ति की शक्ति को सामान्य रीति से काण्ट ने शुद्ध बुद्धि (Pure Reason) कहा है। इस Pure Reason को उन्होंने sense, understanding और reason को तीन भागों में बाँटा है। sense अर्थात् सवेदन-शक्ति (faculty of intuition) निष्क्रिय कही गयी है। इसके आधार पर संवेदन-राशि (manifold of sensations) को ग्रहण किया जाता है। परन्तु जैसे ही संवेदना होने लगती है, हमारी मानसिक शक्ति भी सक्रिय होकर संवेदनाओं को संवेद्यता के रूप (forms) में ढालने लगती है। जिस रूप में संवेदना छनकर आती है, उसे काण्ट ने देश और काल का रूप कहा। संवेदनग्राहिता के देश और काल के प्रागनुभविक रूपों से ढलकर हमें percepts या वस्तु मिलती है। परन्तु अलग-अलग वस्तुओं के रहने से ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। percepts विशिष्ट होते हैं और percepts को निर्णय के रूप में लाकर सामान्य ज्ञान बनाया जाता है। जैसे, हम कहते हैं कि 'यह किताब लाल है'। यहाँ हमने किसी पुस्तक को 'लाल' गुण से विभूषित किया है। परन्तु 'लाल' इस पुस्तक को छोड़ कर

अन्य पुस्तकों या वस्तुओं में भी लागू होता है। अतः, इस पुस्तक को 'लाल' कहकर हमने इसे अन्य सभी वस्तुओं से (जहाँ तक उनका सम्बन्ध 'लाल' से है) सम्बद्ध कर दिया है। अतः, निर्णय (Judgment) में हम अलग-अलग वस्तुओं को व्यवस्थित कर सामान्य ज्ञान के रूप में लाते हैं। निर्णय बनाने की शक्ति को काण्ट ने समझ या understanding कहा है। जिस तरह से संवेदन-शक्ति में देश और काल दो रूप हैं जिसमें ढलकर वे आती हैं, उसी प्रकार understanding की १२ मौलिक धारणाएँ (categories) हैं जिनके द्वारा percepts निर्णय में सम्बद्ध किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में हम कहते हैं कि संवेदनाएँ क्षणभंगुर, अनित्य तथा नश्वर हैं। पर सत्य ज्ञान वह है जो अभी भी सत्य है और बाद में भी सत्य होगा। मेरे लिए भी सत्य है और अन्य व्यक्तियों के लिए भी सत्य। इसलिए ज्ञान क्षणभंगुर न होकर स्थायी और सामान्य होना चाहिए। इसलिए काण्ट का कहना है कि बिना मानसिक प्रागनुभविक रूपों के संवेदनाएँ क्षणिक और अनित्य हुआ करती हैं। इसलिए इन्हें ज्ञान में परिणत करने के लिए रूपान्तरित किया जाता है। सर्वप्रथम, मानव के लिए संवेदनायें अपने निजी रूप में सम्भव नहीं हो सकती हैं। मानव यदि अति निष्क्रिय भी रहे तो भी उन्हें वह बिना देश और काल के रूप में बदले हुए ग्रहण ही नहीं कर सकता है। पर देश और काल के रूप में व्यवस्थित होकर सवेदनाएँ, वस्तुएँ (percepts) बनती हैं, जैसे, अनेक संवेदनाओं के योगफल को हम टेबुल, गाय इत्यादि कहते हैं। पर गाय, टेबुल इत्यादि पदों के कहने से ज्ञान नहीं होता है। इन्हें वाक्य के रूप में हमें लाना चाहिए, जैसे टेबुल काली है या गाय सफेद है। इन निर्णयों में सवेदनाएँ स्थायी और सम्बद्ध हो गयी हैं। फिर यदि हम निर्णयों पर ध्यान दें तो इनमें कई प्रकार के सामान्य प्रत्यय हैं। जैसे, 'काली', 'सफेद' गुण हैं जो किसी-न-किसी द्रव्य में रहते है। अतः, 'टेबुल काली है,' यह द्रव्य-गुण (substance—attribute) के सामान्य प्रत्यय के अन्दर आता है। उसी प्रकार से 'सूर्य से बर्फ पिघलता है' दूसरा निर्णय है और इसमें कारण-कार्य का सामान्य प्रत्यय देखने में आता है। इसी प्रकार

से यदि हम सभी सम्भव निर्णयों पर ध्यान दें तो काण्ट के अनुसार १२ सामान्य प्रत्यय (concepts) या मूलधारणायें (categories) पायी जाती हैं। अतः, हम कह सकते हैं कि निर्णय के निर्माण की शक्ति understanding है और १२ concepts के आधार पर understanding (समझ), percepts को सामान्य तथा स्थायी ज्ञान में सम्बद्ध कर लेती है। फिर संवेदना, हमारे निष्क्रिय रहने पर भी हो सकती है; परन्तु निर्णय बनाने में 'समझ' को सक्रिय होना पड़ता है। जब हम कहते हैं कि टेबुल काली है, तो कालेपन को हमने अनेक वस्तुओं में देखा होगा और इस गुण को अन्य गुणों से पृथक कर ही हमने कालेपन का प्रत्यय बनाया होगा। अतः, निर्णय करने में प्रत्यय बनाना पड़ता है और प्रत्यय बनाने में अनेक गुणों पर ध्यान देना पड़ता है। तब किसी एक ही गुण को अन्य सभी गुणों से पृथक करना पड़ता है, इत्यादि। अतः निर्णय-शक्ति में सक्रियता देखने में आती है। इसलिए काण्ट के अनुसार 'समझ' सक्रिय शक्ति है और संवेदन निष्क्रिय शक्ति है।

मानसिक रूपों का यही काम है कि वे क्षणिक संवेदनाओं को सम्बद्ध कर स्थायी बना दें। understanding तक संवेदनाओं का रूपीकरण प्रातिभासिक ज्ञान के निर्माण के लिए पर्याप्त समझा जाता है। पर हमारी रूपीकरण की अन्य शक्तियाँ इतनी सीमित सम्बद्धता तथा स्थायित्व से सन्तुष्ट नहीं रहती हैं। मन में आदर्श सम्बद्धता और स्थायित्व की प्रवृत्ति बना रहती है और इस आदर्श सम्बद्धता को प्राप्त करने का काम Reason[1] (प्रज्ञा) का है। प्रज्ञा में तीन अति सामान्य प्रत्यय हैं जिनके आधार पर हम आदर्श ज्ञान की स्थापना करना चाहते हैं। ईश्वर, आत्मा और विश्व के तीन ideas के आधार पर हम आदर्श ज्ञान की स्थापना करना चाहते हैं। परन्तु इस ज्ञान के आदर्श को आदर्श ही समझना चाहिए जिसे हम कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यदि हम समझें कि हमने अमर आत्मा, ईश्वर तथा विश्व

---

१ यहाँ 'Reason' शब्द अति संकुचित अर्थ में लिया गया है। यह शक्ति संवेदन और समझ के बाद की है और इसके रूपों को काण्ट ने *Ideas* के नाम से पुकारा है।

को पूर्ण सत्ता को समझ लिया है तो इसे transcendental भ्रम ही समझना चाहिए। इसका क्या कारण है ? इसका विशेष कारण है कि बिना आनुभविक (empirical) अंगों के वास्तविक पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है। समझ के (concepts) प्रत्यक्षों में लागू होते हैं, पर ideas of reason प्रत्यक्षों से सम्बन्ध ही नहीं रखते हैं। उदाहरणार्थ, substance-attribute (द्रव्य-गुण) की मूलधारणा percepts में लागू होती है, क्योंकि प्रत्यक्षों पर आधारित गुणों को हम प्रत्यय के रूप में काम में लाते हैं। जब हम कहते हैं कि किताब लाल है, तो इस 'लाल' प्रत्यय को हमने किसी-न-किसी प्रत्यक्ष से ही प्राप्त किया है। उसी तरह से जब हम कहते हैं कि सूर्य से बर्फ पिघलता है तो हमने कभी-न-कभी इस प्रकार का अनुभव अवश्य किया होगा। अतः, द्रव्य-गुण तथा कार्य-कारण के सामान्य प्रत्यय (concepts) प्रागनुभविक हैं, पर percepts में ये लागू होते हैं और इसीसे इनके आधार पर वास्तविक पदार्थों का ज्ञान सम्भव हो सकता है। पर ईश्वर, आत्मा तथा विश्व की परम सत्ता अनुभवातीत है और यहाँ यदि हम कार्य-कारण, द्रव्य-गुण के categories को काम में लायें तो इनसे ज्ञान सम्भव नहीं होगा। ये खाली-के-खाली साँचे ही रह जाते हैं और बिना matter (उपादान या सामग्री) के केवल साँचों से कुछ भी नहीं बन सकता है। अतः, ideas of reason से हमें ज्ञान का आदर्श अवश्य मिलता है, पर यह आदर्श ही के रूप में पाया जाता है। चूँकि ईश्वर, अमर आत्मा तथा विश्व का परम तत्त्व तत्त्वमीमांसा metaphysics का मुख्य विषय है, इसलिए काण्ट ने दिखाया है कि तत्त्वमीमांसा का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः, विज्ञान सम्भव है, पर अति-विज्ञान (तत्त्वमीमांसा) सम्भव नहीं है।

चूँकि काण्ट ने Pure Reason को sense, understanding और reason के तीन भागों में बाँटा है, इसलिए इस विभाजन के अनुसार *Critique of Pure Reason* के मुख्य भागों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

काण्ट का दर्शन

- Critique of Pure Reason
  - Transcendental Aesthetic में काण्ट ने दिखाया है कि संवेदना-ग्राहिता की शर्त ही यह है कि यह देश और काल के साँचे में ढलकर हमारा चेतना में आये। फिर सामान्य रीति से इसमें काण्ट ने दिखाया है कि गणित-शास्त्रीय ज्ञान की सम्भावना इसी शर्त पर सिद्ध होती है कि देश, काल संवेदनग्राहिता के प्रागनुभविक रूप माने जायें।
  - Transcendental Logic
    - Transcendental Analytic में काण्ट ने सिद्ध करने की कोशिश की है कि पदार्थ-विज्ञान सम्भव है। इसे दिखाने के लिए काण्ट ने understanding के १२ categories को खोज निकालने और उन्हें सिद्ध करने की कोशिश की है।
    - Transcendental dialectic में काण्ट ने दिखाया है कि reason तीन प्रत्ययों के आधार पर आदर्श ज्ञान की स्थापना करना चाहता है, पर इस ज्ञान को वास्तविक परम पदार्थ का ज्ञान (अर्थात् पारमार्थिक) मान लेने से transcendental भ्रम हो जाता है।
- Critique of Practical Reason
- Critique of Judgment

संवेदन-शक्ति (Aesthetic) के प्रागनुभविक रूपों की विवेचना

अनुभववादियों के अनुसार ज्ञान के सभी अंग संवेदनाओं से प्रारम्भ होते हैं और संवेदनाओं में समाप्त भी हो जाते हैं। इसलिए ज्ञान-निर्माण में संवेदनायें ही आदि-अन्त अलफा और ओमेगा हैं। फिर उनके अनुसार सभी

संवेदनायें एक दूसरे से पृथक हैं। काण्ट का कहना है कि संवेदनाओं के होते ही मन सक्रिय होकर प्रागनुभविक रूपों के द्वारा उन्हें रूपान्तरित करता है। काण्ट की उक्ति है कि यदि मन अपने प्रागनुभविक रूपों से संवेदनाओं को सम्बद्ध न करे तो उन पृथक संवेदनाओं से अपने से ही सम्बद्धता आ ही नहीं सकती है। ह्यूम के कथनानुसार सहचार नियम के आधार पर संवेदनायें अपने आप सम्बद्ध हो जाती हैं। परन्तु अपने-आप पृथक-पृथक संवेदनायें कैसे सम्बद्ध हो सकती हैं ? यदि किसी बन्दर को टाइपरायटर पर छापने दिया जाय तो वर्षों तक उसके छापते रहने पर भी कोई कविता या कहानी अपने आप छप नहीं सकती है। परन्तु मानव, अक्षरों को अपनी समझ के द्वारा व्यवस्थित कर शब्द, वाक्य तथा कहानी रच सकता है। ठीक इसी प्रकार से, मन अपने प्रागनुभविक रूपों के द्वारा संवेदनाओं को व्यवस्थित कर ज्ञान की रचना करता है।

यदि हम मान लें कि संवेदनाओं को मन व्यवस्थित करता है, तो हमें जानना चाहिए कि मन के वे क्या सार्वभौम रूप है जिनके अनुसार मन क्रामक रीति से संवेदनाओं को व्यवस्थित करता है। सामान्य रीति से मन संवेदनाओं को ग्रहण करने में ही उन्हें अपने रूपों मे ढाल देता है और तब फिर उन्हें understanding के categories में बदल कर वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करता है। अतः, हमे जानना चाहिए कि संवेदनग्राहिता के कौन साँचे हैं जिनमें ढलकर संवेदनाये आती हैं। काण्ट के अनुसार देश और काल दो संदवेनग्राहिता के रूप है जिनसे छनकर संवेदन-रश्मियां हमारे मनकूप मे आती है। अतः, काण्ट देश-काल के सम्बन्ध मे दो प्रकार की व्याख्या करते हैं—अर्थात् तत्वमीमांसात्मक (metaphysical) और Transcendental तत्वमीमांसात्मक व्याख्या में काण्ट दिखलाते है कि (१) देश और काल का सम्बन्ध हमारी संवेदन-शक्ति (perception faculty) से हैं, न कि Understanding अर्थात् सामान्य प्रत्यय की रचना करने की शक्ति से है। (२) यद्यपि देश और काल percepts हैं तोभी ये प्रागनुभविक प्रत्यक्ष वस्तुयें हैं, न कि इन्द्रियजन्य वस्तुयें है। (३) फिर देश और काल को छोड़कर संवेदन-शक्ति का कोई तीसरा प्रागनुभविक रूप नहीं है। Transcendental व्याख्या में काण्ट दिखाते है कि जब तक हम गणित-शास्त्र को संवेदन-शक्ति के देश

और काल का प्रागनुभविकता पर आधारित न करें तब तक हम इसकी सार्वभौमिकता और अनिवार्यता को स्पष्ट नहीं कर सकते हैं।

देश और काल की तत्त्वमीमांसात्मक व्याख्या

तत्वमीमांसात्मक व्याख्या का मुख्य उद्देश्य है कि यह दिखा दे कि देश और काल संवेदनग्राहिता के प्रागनुभविक रूप हैं। साथ ही साथ काण्ट इसमें यह भी सिद्ध करना चाहते हैं कि देश और काल Concepts नहीं, पर percepts हैं। देश और काल की प्रागनुभविकता सिद्ध करने के लिए काण्ट निम्नलिखित दो प्रमाण देते हैं।

(१) लाइबनित्स के अनुसार देश और काल की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, परन्तु वे मोनडों के बीच के सम्बन्ध के आधार पर अवास्तविक रचनायें हैं। हम देखते हैं कि वस्तुयें नीचे-ऊपर, दूर-नजदीक, दाहिने-बायें इत्यादि हैं और हम इन्हीं सम्बन्धों के आधार पर देश की कल्पना करते हैं। उसी तरह से घटनाओं के बीच पूर्वापर (succession) सम्बन्धों के आधार पर हम काल की भावना बनाते हैं। परन्तु काण्ट, इस मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि लाइबनित्स के मत के अनुसार पहले देश या काल की भावना नहीं होती है, पर हम 'ऊपर-नीचे', 'बगल में' इत्यादि के सम्बन्ध को देखकर देश-प्रत्यय की रचना करते हैं। परन्तु प्रश्न उठता है कि ऊपर-नीचे, बगल में, दूर-नजदीक इत्यादि ऐसे गुण हैं जो उन व्यक्तियों को समझने में आ ही नहीं सकते हैं जिन्हें देश-ज्ञान है नहीं। इसलिए यदि हम मान लें कि बिना देश-ज्ञान के ऊपर-नीचे, बगल में इत्यादि का ज्ञान हो सकता है तो यह हमारी भूल है। अतः, ऊपर-नीचे, दूर-नजदीक के सम्बन्ध से देश-ज्ञान नहीं होता है परन्तु देश-ज्ञान मानव मन में प्रारम्भ से ही होता है जिसके आधार पर हम दूर-नजदीक, ऊपर-नीचे सम्बन्ध को समझ सकते हैं। चूंकि लाइबनित्स मानते हैं कि हमें प्रारम्भ से ही दूर-नजदीक इत्यादि का ज्ञान होता है, इसलिए हमें स्वीकार कर लेना चाहिए कि हमें देश और काल का ज्ञान प्रारम्भ से ही होता है। अतः, देश और काल, दूर-नजदीक, दाहिने-बायें इत्यादि के किसी अनुभव पर आश्रित नहीं है, पर सभी अनुभव के पूर्व ही ये हैं जिसके अनुसार हम सब संवेदनाओं को ग्रहण करते हैं।

(२) फिर यदि देश और काल संवेदित अनुभव से प्राप्त होते तो हम उन्हें उसी प्रकार से कल्पना के आधार पर त्याग सकते हैं जिस प्रकार से वे हम में उत्पन्न होते हैं। परन्तु यदि हम सभी वस्तुओं के अभाव की कल्पना कर भी लें तो भी हम देश और काल के अभाव की कल्पना नहीं कर सकते हैं। अतः, इससे स्पष्ट हो जाता है कि विशिष्ट वस्तुओं को तो हम अनुभव से अवश्य प्राप्त करते हैं, 'परन्तु देश और काल को अनुभव से प्राप्त नहीं कर पाते हैं क्योंकि यदि ये अनुभव से प्राप्त होते तो अनुभव से प्राप्त की गई सभी वस्तुओ के समान हम इनके भी अभाव की कल्पना कर सकते। फिर चूँकि देश और काल को हम बिना वस्तुओं के कल्पना कर सकते हैं, पर किसी भी वस्तु को हम बिना देश और काल के रूप में किए हुए कल्पना नहीं कर सकते हैं। इसलिए हम देश और काल को सभी प्रत्यक्ष वस्तुओं का प्रागनुभविक रूप समझ सकते हैं।

पुनः, देश और काल को शुद्ध प्रत्यक्ष सिद्ध करने के लिए काण्ट ने दो प्रमाण दिए हैं।

(१) प्रत्यक्ष का सम्बन्ध किसी एक वस्तुविशेष से रहता है, पर प्रत्यय (concept) का सम्बन्ध अनेक वस्तुविशेषों (particulars) से रहता है। उदाहरणार्थ, मेरी मेज पर रखा लाल पुस्तक हमारे प्रत्यक्ष में है। परन्तु पुस्तक-प्रत्यय वह हैं जो अनेक पुस्तकों में लागू होता है। इस दृष्टिकोण से देश या काल एक ही वस्तु है। यह ठीक है कि एक मील या एक इंच देश के उदाहरण हैं। परन्तु वास्तव में ये देश के उदाहरण नहीं हैं, पर देश के ही भाग या खण्ड हैं। उसी प्रकार से काल एक ही है और क्षण, घण्टा या युग उसके उदाहरण नहीं, पर एक ही काल के भिन्न-भिन्न खण्ड हैं। अतः, चूँकि देश या काल एक ही विशिष्ट वस्तु है, इसलिये यह percept (प्रत्यक्ष) है, न कि प्रत्यय (concept) है।

(२) दूसरा प्रमाण पहले से बहुत कुछ मिलता है। काण्ट के अनुसार देश या काल 'infinite *given* magnitude' है, अर्थात् जो भी देश या काल का खण्ड दिखाया जाय यह उनका सीमित खण्ड समझा जाता है, क्योंकि देश या काल अपरिमित रीति से व्यापता है। करोड़ मील की भी हम कल्पना करें तोभी हम जानते हैं कि देश इससे भी अधिक व्यापक है। उसी प्रकार से

लाखों वर्ष के पहले या बाद की हम कल्पना करें तोभी हम जानते हैं कि काल इससे अधिक व्यापक है। अतः, देश या काल के अन्तर्भावित ही देश या काल के उदाहरण सोचे जा सकते हैं। परन्तु यदि देश concept होता है, तो यह अपने सभी उदाहरणों में लागू होता, पर वह इन सब के योग से निर्मित नहीं होता। उदाहरणार्थ, घोड़े का प्रत्यय अनेक घोड़ों में लागू होता है, पर अनेक घोड़ों को जोड़कर एक विशाल घोड़े की प्रतिमा को प्रत्यय नहीं कहा जाता है। यहाँ एक प्रत्यय अनेक उदाहरणों में इसलिए लागू होता है कि घोड़े का प्रत्यय अनेक घोड़ों का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु देश का कोई खंड देश का प्रतिनिधित्व न करके स्वयं उसका एक अंश होता है। particulars are mere *instances* coming *under a concept;* but space is *constituted* by a number of representations or instances coming *within* it; अर्थात् अनेक उदाहरणों के आधार से प्रत्यय का अर्थ स्पष्ट होता है; पर देश के अनेक उदाहरणों से स्वयं देश का निर्माण होता है। अतः, देश या काल अपरिमित प्रत्यक्ष हैं, न कि ये देश या काल के असंख्य उदाहरणों से अमूर्त बोधित प्रत्यय है।

अतः, हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि देश और काल संवेदनग्राहिता के प्रागनुभविक रूप हैं। बाह्य सभी संवेदनायें देश के रूप में ही पायी जा सकती हैं और काल के रूप सभी संवेदनाओं में देखे जाते हैं क्योंकि बाह्य वस्तु की संवेदना मानसिक प्रक्रिया ही होती है और मानसिक प्रक्रियायें पूर्वापर (successive) होने के कारण 'काल' के रूप के अन्तर्गत आती हैं।

देश और काल की Transcendental व्याख्या

Transcendental का अर्थ है कि वस्तुओं के प्रत्यक्ष करने के लिए पूर्वानुभविक रूपों का अध्ययन किया जाय। अतः, देश और काल की transcendental व्याख्या से समझा जा सकता है कि समस्त वस्तुओं की नहीं, पर उनके प्रत्यक्ष करने की प्रागनुभविक विधियों को स्पष्ट किया जाय। सर्वप्रथम हम जानते हैं कि गणितशास्त्र का सम्बन्ध देश और काल से है, और यह भी जानते हैं कि गणितशास्त्र में सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान पाया जाता है जिसे हम केवल analytic ही नहीं समझ सकते हैं अर्थात् गणितशास्त्र में synthetic

Judgment a priori पाया जाता है। अतः, देश और काल की ऐसी transcendental व्याख्या करनी चाहिये कि उसके आधार पर गणित-शास्त्र के synthetic judgment *a priori* की व्याख्या हो जाय।

पूर्वकाण्टीय आधुनिक-दर्शन में देकार्त, स्पिनोजा, लौक आदि ने गणित-शास्त्र में सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान स्वीकार किया था। यहाँ तक कि ह्यूम ने सभी प्रकार के ज्ञान को संभाव्य (probable) दिखलाकर सिद्ध किया था कि गणित में सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान संभव है। परन्तु ह्यूम ने यह भी माना था कि गणितशास्त्रीय युक्तियाँ इसलिये अनिवार्य होती हैं कि उनका सम्बन्ध वास्तविकता से नहीं रहता है, अर्थात् गणित में clear, distinct और abstract ideas ही पाये जाते हैं। पर यदि हम ह्यूम के समाधान को मान लें तो इसके अनुसार गाणतिक युक्तियाँ केवल analytic ही सिद्ध मानी जायेंगी। पर काण्ट ने पहले ही दिखाया है कि गणित में *synthetic* judgment *a priori* हैं, इसलिए यहाँ ह्यूम के समाधान को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

हमलोग पहले ही देश और काल के प्रति लाइबनित्स के सिद्धांत को दोषपूर्ण दिखला चुके हैं। लाइबनित्स के प्रतिपक्ष में न्यूटन का सिद्धांत था जिसके अनुसार देश और काल की अपनी स्वतन्त्र, वास्तविक सत्ता है। न्यूटन के प्रशंसक होते हुए भी काण्ट ने न्यूटन के सिद्धांत को सही नहीं माना है। यदि देश और काल की स्वतन्त्र, वास्तविक सत्ता होती जो विषयी से बाहर है तो हम उन्हें केवल अनुभूति ही के आधार पर जान सकते हैं। पर जो भी बात हम अनुभूति के द्वारा जानेंगे वह सार्वभौम तथा अनिवार्य नहीं हो सकती है। अतः, देश और काल की स्वतन्त्र, वास्तविक सत्ता मान लेने से गणितशास्त्र के synthetic judgment *a priori* की व्याख्या नहीं हो पाती है।

देश और काल के उपर्युक्त सिद्धांतों के खंडन से काण्ट के मत का रास्ता साफ हो जाता है। काण्ट के अनुसार देश और काल न तो वास्तविक पदार्थ हैं*, न वस्तुओं के गुण हैं (†), और न ये केवल प्रत्ययमात्र हैं (††)।

---

* यह न्यूटन का मत था। † यह लाइबनित्स का मत था। †† यह ह्यूम और सामयिक तार्किक अनुभववादियों का मत है।

देश और काल सभी संवेदनाओं को ग्रहण करने के प्रागनुभविक रूप हैं। मान लिया जाय कि किसी व्यक्ति को विना ऐनक के कुछ भी सुझाई न दे; और ऐनक के दोनों ग्लास रंगे हुए हों। तो ऐसी हालत में जो कुछ भी सुझाई देगा वह ऐनक के रंगों से रंगा हुआ दिखेगा और बिना ऐनक तथा उसके रंग से रंगे हुए कुछ भी नहीं दिखाई देगा। अतः, देश और काल हमारे मन में हैं ताकि इनके रंगों से रंगकर हम संवेदनाओं को ग्रहण करें। इसलिए हम देश और काल में नहीं है, वरन् देश और काल हमारे अन्दर हैं। यदि हम देश और काल को संवेदनग्राहिता के प्रागनुभविक रूप मान लें तो इससे गणितशास्त्र के synthetic judgment a priori की व्याख्या हो जायगी।

चूंकि देश और काल सभी मानव के अनिवार्य रूप हैं जिनके द्वारा सभी संवेदनायें ग्रहण की जा सकती हैं, इसलिए इनके द्वारा जो ज्ञान होगा वह सार्वभौम होगा। फिर चूंकि ये रूप संवेदनाओं के ग्रहण करने में परिहार्य नहीं हैं, पर मन की अपनी आवश्यक शर्त्तें हैं जिनके द्वारा संवेदनायें ग्रहण की जाती हैं, इसलिए इन पर आधारित ज्ञान भी अनिवार्य होगा। फिर गणित-शास्त्र का ज्ञान analytic नहीं है, इसलिए इसे प्रत्यक्ष पर आधारित होना चाहिए। परन्तु इस प्रत्यक्ष को इन्द्रियाश्रित न रहना चाहिए क्योंकि किसी भी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान संभव नहीं हो सकता है। अतः, देश और काल के प्रत्यक्ष को प्रागनुभविक तथा शुद्ध कहा जा सकता है, क्योंकि न तो यह प्रत्यक्ष इन्द्रियाश्रित है और न इसे प्रत्यक्ष करने के लिए किसी विशिष्ट वस्तु की आवश्यकता होती है। फिर भी देश और काल को शुद्ध प्रत्यक्ष कहा जा सकता है क्योंकि किसी भी प्रत्यक्ष की संभावना के लिए देश और काल के प्रागनुभविक रूपों को काम में लाना ही पड़ता है। अब यदि देश और काल शुद्ध प्रत्यक्ष हों तो इनके आधार पर *synthetic* judgment a priori सिद्ध माने जायंगे।

चूंकि देश और काल संवेदनाओं को ग्रहण करने के अनिवार्य रूप हैं, इसलिए इन्हें पारमार्थिक सत्ता नहीं समझना चाहिए। ऐसा संभव है कि देवता लोग या मानवेतर विवेकशील प्राणियों के लिए संवेदनग्राहिता के ये रूप अनिवार्य न हों। फिर वस्तुयें हमें लम्बी, चौड़ी, छोटी-बड़ी इत्यादि अवश्य दिखेंगी। परन्तु वस्तुयें इसलिए हमें ऐसी दीखती हैं कि हम उन्हें देश के अनिवार्य साँचे

में ढाल कर ग्रहण करते हैं। वस्तुओं का वास्तव में अपना शुद्ध रूप क्या है, यह हम नहीं जान सकते हैं, क्योंकि जब ही हम वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं तभी हम उन्हें देश के रूप में ढालकर ही ग्रहण कर सकते हैं। इसलिए वस्तुओं के अपने शुद्ध स्वरूप को न जान सकने के कारण हमारा ज्ञान प्रातिभासिक ही हो सकता और पारमार्थिक नहीं हो सकता है।

फिर देश और काल, चूंकि संवेदनाओं के ग्रहण करने के प्रागनुभविक रूप हैं, इसलिये इन्हें विषयीगत कहा जा सकता है। पर इसकी आत्मनिष्ठता या विषयीगतता (subjectivity) ऐसी है कि यह समरूप से सभी ज्ञाताओं में पायी जाती है। इसलिये वही स्वप्न जो सभी अनिवार्य रूप से देखते हैं, स्वप्न नहीं, पर वास्तविकता है(*)। अतः, देश और काल अतिवैयक्तिक तथा सार्वभौमिक रीति से विषयीगत रहने पर भी वास्तव में विषयगत (objective) समझा जा सकता है। काण्ट और अनुकाण्टीय प्रत्ययवाद के अनुसार वही विषयगत है जो सभी ज्ञाताओं के लिए समरूप तथा सार्वभौम हो। यही कारण है कि देश और काल के सम्बन्ध में काण्ट ने कहा है कि यद्यपि ये transcendentally विषयीगत ही है (†) तो भी ये व्यावहारिक रूप से सत्य हैं। देश और काल परम पदार्थों के गुण नहीं हैं और न इनकी अपनी स्वतंत्रता सत्ता है। इसलिये काण्ट के लिये प्रत्यक्ष प्राप्त करने के ये दो अनिवार्य ऐनक के शीशे हैं और इसलिये ये विषयीगत हैं। पर ये ऐसे शीशे के रंग हैं जो सभी ज्ञाताओं को एक समान दिखेगा और इसलिये व्यावहारिक दृष्टिकोण से सभी को सभी प्रत्यक्ष देश और काल में दिखेंगे। अतः, व्यावहारिक जीवन में हम इन्हें सत्य मान ले सकते हैं।

अतः, देश और काल की transcendental व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि देश और काल को संवेदनग्राहिता के प्रागनुभविक रूप मान लेने से गणितशास्त्र के synthetic judgment a priori की व्याख्या हो जाती है।

---

* A dream which all men dream and must dream is not a dream but a reality.

† Space and Time are *empirically* real, but transcendentally ideal (N. K. Smith-Ibid P. 47)

काण्ट ने सिद्ध करने की कोशिश की है कि यदि हम देश और काल को a priori forms of perception प्रमाणित कर दें, तो हम सिद्ध कर पायेंगे कि synthetic judgment a priori गणितशास्त्र में कैसे संभव हो सकते हैं। परन्तु जिस उदाहरण से काण्ट ने दिखाने की कोशिश की है कि गणितशास्त्र में synthetic judgment a priori है, वही स्पष्ट नहीं है। काण्ट का उदाहरण है कि ७ और ५ मिलकर १२ होते हैं। परन्तु यदि हम ७ और ५ का अर्थ समझें और उनके मिलाने या जोड़ने को जानें तो १२ अवश्य ही होगा। अतः, ७ और ५ मिलकर १२ होते हैं, 'वास्तव में analytic वाक्य है। काण्ट ने मनगढ़न्त रीति से बनाया है कि ७ और ५=१२ में हम जोड़ने की प्रक्रिया को विधेय बनाते हैं, न कि इसके योगफल को। इसलिए Transcendental Aesthetic की समस्या ही स्पष्ट नहीं है; तो इसका समाधान ही कहाँ तक संतोषजनक समझा जा सकता है ?

फिर काण्ट ने कहा है कि देश और काल a priori percepts हैं। पर यदि देश और काल इंद्रियातीत हो तो उन्हें जाना कैसे जाता है? यदि हमारी बुद्धि उन्हें जानती है तो वे प्रत्यक्ष नहीं, वरन् प्रत्यय हैं प्रागनुभविक प्रत्यक्ष कह कर काण्ट ने 'देश और काल' का कोई स्पष्टीकरण नहीं किया है। आगे चलकर हम पाते हैं कि शामुएल अलेक्जैण्डर ने देश-काल को सहज प्रत्यक्ष (intuition) के द्वारा प्राप्त करने की बात कही है। पर आलोचकों का मत है कि अलेक्जैण्डर इसे स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। प्रागनुभविक intuition(सहज प्रत्यक्ष) वास्तव में रहस्यमय प्रक्रिया है।

पर काण्ट का मुख्य उद्देश्य था कि वे ह्यूम के मत को दोषपूर्ण ठहरा दे। ह्यूम ने कहा था कि गाणितक ज्ञान अनिवार्य अवश्य है, पर यह वास्तविकता-परे है। काण्ट ने दिखलाया है कि यह वास्तविक है, पर शुद्ध प्रत्यक्ष की दुनिया में ही यह वास्तविक है। इससे तो ह्यूम के मत का खंडन नहीं होता है। ह्यूम ने भी स्वीकार किया था कि मानसिक कल्पना-संसार में गणित अनिवार्य है।

परन्तु यद्यपि काण्ट का समाधान विशेष रूप से स्पष्ट नहीं है, तोभी उनकी एक देन विशेष है। उन्होंने सामान्य रीति से स्पष्ट कर दिया है कि

बिना मानसिक सक्रियता के योगदान के, ज्ञान की सम्बद्धता संभव नहीं है। यदि हम बिना मानसिक योगदान के कोरी ज्ञन-सामाग्री खोजना चाहें तो हमारा यह प्रयास विफल होगा। निम्न से निम्नतम ज्ञान की सीढ़ियों में भी मानसिक योगदान स्पष्ट रहता है। फिर काण्ट ने विषयगत (objective) ज्ञान की व्याख्या ही ऐसी कर दी है जिससे ह्यूम की वास्तविकता का प्रश्न फीका पड़ जाता है। काण्ट ने बताया है कि वास्तव में वही विषयगत सत्यता है जो तार्किक नियमों के आधार पर सार्वभौमिक रीति से निर्मित हो। संवेदनाओं के आधार पर वास्तविकता की खोज करना ही व्यर्थ है, क्योंकि कोरी संवेदना होना ही असंभव है। अतः, देश और काल संवेदनाओं को सम्बद्ध बनाने की मानसिक देन है।

Transcendental Aesthetic में ऐसा मालूम देता है कि देश और काल को प्रागनुभविक प्रत्यक्ष या इन्हें सभी प्रत्यक्षों को ग्रहण करने के अनिवार्य रूप सिद्ध करने से गाणतिक सार्वभौमिकता तथा अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है। पर बात ऐसी नहीं है। काण्ट के अनुसार बिना understanding की मूल-धारणाओं के द्वारा प्रत्यक्षों को सम्बद्ध किये हुए किसी भी प्रकार का ज्ञान सम्भव नहीं है। परन्तु काण्ट दिखाना चाहते थे कि ज्ञान में आनुभविक अंगों का रहना अनिवार्य है। इसलिए काण्ट ने दिखाया है कि गाणतिक ज्ञान वास्तविक है क्योंकि वह शुद्ध आनुभविक अंगों पर आधारित है। परन्तु हमें अब देखना है कि किस प्रकार से प्रत्यक्षों की सम्बद्धता concepts के द्वारा होती है जिससे वैज्ञानिक ज्ञान सम्भव होता है। इस प्रकार की गवेषणा, काण्ट ने Transcendental Analytic में की है। इसलिए इसका व्याख्या होनी चाहिये।

Transcendental Analytic

Transcendental Aesthetic में काण्ट ने बताया है कि किस प्रकार से रूपान्तरित करके हम संवेदनाओं को ग्रहण करते हैं। परन्तु संवेदनाओं पर विचार (thinking) करने पर ही हमें ज्ञान मिल सकता है। हम १२ categories के आधार पर विचारते हैं। हो सकता है कि मूलधारणाओं या categories को हम उचित रीति से काम में लायें या उन्हें उचित विषय में काम में न लायें। concepts या categories को उचित विषय में हम

तभी काम में ला सकते हैं जब ये विषय प्रत्यक्ष के आधार पर प्राप्त किए जाते हैं। परन्तु यदि हम मूल प्रत्ययों (concepts) को प्रत्यक्षातीत विषयों में लागू करें तो हमारा विचारना अनुचित होगा। अतः, काण्ट के अनुसार उचित विचारना ही ज्ञान हैं, पर अनुचित विचारना ज्ञान नहीं है। इसलिए विचारने के अध्ययन के दो भाग किये गये हैं, अर्थात् (१) Transcendental Analytic जिसमें उचित विचारने (valid thinking) की शर्तों को जानने की कोशिश की गयी है; और (२) Transcendental Dialectic जिसमें प्रत्यक्षातीत (super-sensible) विषयों पर विचारने के प्रत्ययों का अनुचित प्रयोग किया जाता है। Transcendental Analytic के अध्ययन में निम्नलिखित विभागों को हमें ध्यान में रखना चाहिये।

Transcendental Logic

- **Analytic of Conceptions** मूलधारणाओं का विश्लेषण, अर्थात् इनकी खोज और उनका प्रमाणीकरण)
  - **Metaphysical Deduction** या उपपादन जिसमें १२ प्रत्ययों की स्थापना होती है।
  - **Transcendental** उपपादन (Deduction) जिसमें दिखाया जाता है कि बिना १२ प्रत्ययों के वैज्ञानिक ज्ञान की सम्भावना नहीं हो सकती है।
- **Analytic of Principles** अर्थात् प्रत्ययों का प्रत्यक्षों में उपयोग करने के नियम
  - **Schema** या ठठरी, जिसमें प्रत्ययों को काल के रूप में लाकर संवेदनामय बनाया जाता है।
  - **Understanding के Principles** जिसमें चार नियमों का उल्लेख किया जाता है जिसके आधार पर प्रत्यय प्रत्यक्षों को संयोजित कर हम ज्ञान की रचना करते हैं।

Transcendental Analytic की सामान्य व्याख्या

Transcedental Aesthetic में काण्ट ने दिखाया है कि गाणतिक अनिवार्यता तथा सार्वभौमिकता इसलिए होती है कि इसका सम्बन्ध प्रागनुभविक, अनुभवातीत शुद्ध प्रत्यक्षों से रहता है। Transcendental Analytic में काण्ट की समस्या है कि किस प्रकार से पदार्थ-विज्ञान के Synthetic Judgment apriori की व्याख्या की जाय। यह ठीक है कि गुरुत्वाकर्षण तथा पदार्थ और शक्ति की नित्यता आदि के सम्बन्ध में पदार्थ-विज्ञान में अनिवार्य तथा सार्वभौम नियम या वाक्य पाये जाते हैं। उनके इन नियमों की व्याख्या किस आधार पर की जा सकती है ? क्या हम इन नियमों को वास्तविक, वस्तुगत तथा मानव-निरपेक्ष प्रकृति के नियम समझ सकते हैं ? यदि पदार्थ-विज्ञान के नियम परम पदार्थों में वस्तुगत समझे जायँ, तो हम इन नियमों को केवल अनुभव से ही जान सकते हैं, और अनुभव के आधार पर हम यही कह सकते हैं कि कोई भी नियम उन्हीं वस्तुओं में सत्य है जिनका हमें अनुभव हुआ है, और तभी तक वे सत्य हैं जब तक हमें उनका अनुभव हुआ है। परन्तु पदार्थ-विज्ञान के नियम सभी देश, काल और पात्र के लिए सत्य हैं और इसलिए हम उन्हें अत्यनुभव* कह सकते हैं। फिर पदार्थ-विज्ञान के नियमों में अनिवार्यता है। परन्तु यदि ये नियम अनुभव पर ही आधारित होते, तो हम कह सकते हैं कि ये नियम सत्य हैं, पर हम नहीं कह सकते हैं कि ये नियम अवश्यमेव सत्य होंगे। अतः, पदार्थ-विज्ञान के नियम परम पदार्थों में वस्तुगत नहीं माने जा सकते हैं। इसलिए हमें स्वीकार कर लेना चाहिए कि ये नियम हमारी समझ (understanding) की देन हैं जो प्रातिभासिक जगत् में आरोपित किये गये हैं। इसलिए Transcendental Analytic में दिखाया जाता है कि वे कौन प्रागनुभविक प्रत्यय (concepts) हैं जिनके आधार पर पदार्थ-विज्ञान के अनिवार्य तथा सार्वभौम नियमों की स्थापना की जा सकती है।

परन्तु समझ का काम है विचारना और विचारना कारण-कार्य, एकता, अनेकता, द्रव्य-गुण इत्यादि प्रत्ययों (concepts) के आधार पर होता है।

---

* अत्यनुभव से अर्थ है (अति—अनुभव) जो अनुभव की सीमा को पार कर जाय।

विचार की अपनी सक्रियता है और इसलिए हम अपने विचारों को सभी प्रकार की वस्तुओं के सम्बन्ध में काम में लाते हैं। जैसे, हम कह सकते हैं कि प्रेतात्मा एक है या प्रेतात्माएं अनेक हैं। परन्तु यदि प्रेतात्मा हो ही नहीं तो हमें उनका एक या अनेक कहना व्यर्थ है। इसलिए चूंकि विचारना सक्रिय मानसिक प्रक्रिया है और चूंकि स्वयं प्रत्ययों से ही इसके विषय की सत्यता नहीं निर्धारित की जा सकती है इसलिए विचारना वहीं पर उचित समझा जायगा जहाँ इसका विषय प्रत्यक्ष पर आधारित हो। यदि वास्तव में विश्वसनीय व्यक्तियों ने अपनी इन्द्रियों से प्रेतात्मा को जाना है तो हमारा कहना है कि प्रेतात्मा एक है या अनेक, वास्तविक-अवास्तविक हो सकता है, अर्थात् हमारा विचार उचित-विषयक होता है अन्यथा नहीं। अतः, काण्ट के अनुसार विचारने के प्रत्यय खाली साँचों के समान हैं। उनके उलट-फेर करने से ही हमें किसी भी विषय का ज्ञान नहीं हो सकता है। हाँ, यदि उनमें हम उचित उपादान (matter) या उनका मसाला उनमें डाल दें तो साँचों से ढली हुई अनेक वस्तुएं प्राप्त हो सकती हैं। इसलिए काण्ट की प्रसिद्ध उक्ति है कि concepts without percepts are empty, and percepts without concepts are blind. आगे चलकर हम देखेंगे कि प्रत्यक्षातीत वस्तुओं के विषय दार्शनिकों ने शुद्ध विचार के आधार पर ज्ञान प्राप्त करना चाहा है। प्रायः, ईश्वर को पूर्ण, शाश्वत् नित्य, अद्वैत, परम पदार्थ कहकर, दार्शनिकों ने ईश्वर की वास्तविकता सिद्ध करने की कोशिश की है। पर हम प्रत्ययों की कितनी ही बड़ी ढेर क्यों न लगा दें, बिना प्रत्यक्षों (percepts) के, वास्तविकता हो ही नहीं सकती है।

यह ठीक है कि बिना प्रत्ययों के प्रत्यक्ष केवल बिना रूप या आकार के मिट्टी के लोदे के समान हैं। परन्तु फिर भी किसी भी ज्ञान के विषय को वास्तविक होने की पहली सीढ़ी यही है कि वह प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त हो। पर यहाँ प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष में अनिवार्य तथा सार्वभौम कारण-कार्य, द्रव्य-गुण इत्यादि पाये नहीं जाते हैं। इस बात को ह्यूम ने सदा के लिए स्पष्ट कर दिया है कि द्रव्य का अस्तित्व अनुभव में नहीं देखा जाता है। पर अनुभव के आधार पर हम यही कह सकते हैं कि दो घटनाओं के बीच पूर्वापर (succession) अर्थात् पहले और बाद का सम्बन्ध देखने में आता है पर उनके बीच किसी

अनिवार्य लगाव का सम्बन्ध नहीं देखने में आता है। अतः, किसी भी ज्ञान के विषय को कम-से-कम प्रत्यक्षाश्रित होना चाहिए, परन्तु प्रत्यक्षों में विचार के प्रत्यय नहीं मिलते हैं। परन्तु बिना विचार या प्रत्ययों (concepts या categories) के प्रत्यक्षों को सम्बद्ध या समायोजित (connected or ordered) नहीं किया जा सकता है और बिना क्रमबद्धता तथा व्यवस्था के ज्ञान संभव नहीं हैं। यदि प्रत्यय, प्रत्यक्ष से नहीं प्राप्त किये जा सकते हैं तो ये कहाँ से प्राप्त होते हैं ? काण्ट का कहना है कि ये प्रत्यय प्रागनुभविक (apriori) तथा अनुभवातीत (transcendental) हैं। स्वयं हमारे मन की समझ (understanding) से ये फूटते हैं और हमारा मन इन्हें प्रत्यक्षों में आरोपित कर उन्हें ज्ञान के रूप में बदलता है। इसलिए प्रत्यक्षों को प्रत्ययों के आधार पर सम्बद्ध कर जो पदार्थ-विज्ञान (physics) में नियम बनाये जाते हैं वे मानसिक आरोपण का ही परिणाम है। परन्तु जब तक इन प्रत्ययों को प्रत्यक्षों में आरोपित न किया जाय तब तक ये प्रत्यय खाली साँचों के समान समझे जा सकते हैं। अतः, प्रत्यक्ष हमारी संवेदनग्राहिता से प्राप्त होता है और प्रत्यय हमारी समझ की सक्रियता की उपज से मिलता है। इसलिए प्रत्यक्षों* के सम्बध में हम निष्क्रिय कहे जा सकते हैं और इसलिए सक्रिय समझ को निष्क्रिय संवेदनग्राहिता से भिन्न समझना चाहिए। इसलिए प्रत्यक्ष की आवश्यकता पर जोर देते हुए काण्ट ने कहा हैं कि understanding makes nature out of the materials it does not make। समझ प्रत्यक्षों के उपादान से प्रकृति-सम्बन्धी नियमों की स्थापना करती है। परन्तु ये उपादान (materials) स्वयं समझ से ही उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। उन्हें हमारी इन्द्रियों को प्राप्त करना चाहिए। इसलिए understanding does not *make*, but *receives* the materials. फिर समझ प्रत्यक्षों में प्रत्ययों को आरोपित कर पदार्थ-विज्ञान के अनिवार्य तथा सार्वभौम नियमों की स्थापना करती है।

---

*वास्तव में हमारा मन perception और conception दोनों में सक्रिय रहता है। परन्तु काण्ट के समय में संवेदनाओं के ग्रहण करने में मन को निष्क्रिय समझा जाता था और केवल उन पर विचारने में मन को सक्रिय समझा जाता था। परन्तु बिना Space और Time की मानसिक देन के, काण्ट के अनुसार, प्रत्यक्षों की सम्भावना सिद्ध नहीं हो पाती है। अतः, प्रत्यक्षों में भी मानसिक देन है।

यदि समझ के प्रागनुभविक तथा अनुभवातीत प्रत्ययों को प्रत्यक्षों पर आरोपित न किया जाय तो अनिवार्य तथा सार्वभौम नियम विज्ञानों में प्राप्त हो ही नहीं सकते हैं।

पर प्रश्न उठता है कि प्रत्यय (concepts) यदि मानसिक या विषयीगत हों, तो प्रकृति-सम्बन्धी नियमों के निर्माण में हम कैसे इन्हें सत्य मानें? इस सम्बन्ध में काण्ट बताते हैं कि प्रत्ययों को हम प्राकृतिक नियमों की स्थापना में प्रागनुभविक शर्त मानते हैं। जब तक प्रत्यय प्रागनुभविक न हों और जब तक ये प्रत्यक्षों को सूत्रबद्ध न करें तब तक प्रकृति का हमें ज्ञान हो ही नहीं सकता है। इसलिए मानव ज्ञान के दृष्टिकोण से ये प्रत्यय अनिवार्य हैं। मानव ज्ञान बिना मानव शर्तों के संभव नहीं है। फिर वास्तव में Nature (प्रकृति) को अपनी निजी अथवा मानव-निरपेक्ष अवस्था में हम नहीं जान सकते हैं। जिसे हम प्रकृति कहते हैं वह, वह प्रकृति है जो हमारे ज्ञान के साँचों मे ढलकर हमारी चेतना में सत्य मानी जाती है। अतः, जिसे हम विज्ञान में Nature या प्रकृति कहते हैं वह हमारी समझ से रूपान्तरित होती है। इसलिए विज्ञानों के जो भी नियम हैं वे मानवीकृत तथा प्रातिभासिक प्रकृति के मानव नियम हैं। इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि understanding makes Nature, अर्थात् समझ प्रत्ययों के आधार पर प्रातिभासिक (phenomenal) प्रकृति के नियमों की स्थापना करती है। परन्तु यद्यपि हमारा ज्ञान प्रातिभासिक जगत् ही का हो सकता है और पारमार्थिक जगत् हमारे लिए अज्ञात और अज्ञेय हैं, और फिर यद्यपि प्रातिभासिक जगत् के सम्बन्ध में प्राकृतिक नियम विषयीगत हो सकते हैं, तोभी मानव स्तर से विज्ञानों का यह ज्ञान सार्वभौमिक, अतिव्यक्तिक अथवा व्यक्तिविशेष-निरपेक्ष है। प्रत्यय समझ की देन अवश्य है, परन्तु सभी व्यक्तियों की समझ में एक ही प्रकार के प्रत्यय पाये जाते हैं और इसलिए सभी व्यक्ति इन प्रत्ययों के आधार पर समान रूप से वैज्ञानिक नियमों की स्थापना कर सकते हैं। अतः, वैज्ञानिक नियम विषयीगत होते हुए भी व्यक्तिविशेषातीत हैं। इसलिए मानव दृष्टिकोण से जो भी नियम व्यक्तिविशेषातीत होकर सार्वभौम तथा अनिवार्य हों, उन्हें हम पूर्णतया विषयगत (objective) मान सकते हैं। यद्यपि ये नियम मानसिक हैं और हम इन्हें प्रत्यक्षों पर आरोपित करते हैं, पर सभी व्यक्ति इन सब प्रत्ययों को एक ही रीति से

आरोपित करते हैं और इसलिए जो भी ज्ञान का विषय प्रत्यक्ष में आकर प्रत्ययारोपित होकर हमारे विचार में आयेगा वह सभी को एक समान विषयगत मालूम देगा ; चूँकि मानव के लिए परम पदार्थ ज्ञान का विषय तो हो नहीं सकता है, इसलिए जो मानव के लिए ज्ञान का विषय होगा वह इसीलिए विषय होता है कि वह a priori, transcendental समझ के प्रत्ययों से एक ही रूप में बनता है । Therefore, a dream which all men dream and must dream, is not a dream but a reality, at least on the empirical level.

कहीं एक भूल न हो जाय, इसलिए एक बात और बता देनी चाहिए । जब काण्ट कहते हैं कि understanding makes Nature, तब उनके कहने का अर्थ है कि समझ के द्वारा हम प्रातिभासिक जगत् के नियमों की स्थापना करते हैं । परन्तु यहाँ पर विज्ञानों के नियमों की स्थापना सामान्य रीति और संकीर्ण रीति दोनों अर्थों में काम में लायी जा सकती है । पर काण्ट का मत किसी एक विज्ञान से नहीं, पर सभी विज्ञानों से है, और फिर काण्ट के प्राकृतिक नियम 'प्रागनुभविक हैं, न कि अनुभावाश्रित । इसलिए काण्ट को कहना है कि किसी एक विज्ञान के आनुभवि नियम (empirical laws) उसके आनुभविक नियमों पर आधारित होते हैं और उन्हें खोज निकालने और प्रमाणित करने का भार वैज्ञानिकों के कन्धे पर रहता है । परन्तु ये विशिष्ट नियम (particular laws) समझ के प्रागनुभविक प्रत्ययों पर आधारित होते हैं और इसलिए सामान्य अर्थ में ही कहा जाता है कि understanding gives laws to Nature । समझ के द्वारा केवल प्रागनुभविक (*a priori*) नियम ही स्थापित हो सकते और इन नियमों से ही हम विज्ञानों के विशिष्ट नियमों को निगमनात्मक (deductive) रीति से नहीं निकाल सकते हैं । हाँ, परन्तु विज्ञानों के सभी विशिष्ट नियम, अन्त में, काण्ट के अनुसार इन्हीं प्रागनुभविक प्रत्ययों पर आधारित कहे जा सकते हैं । *

Transcendental Analytic की उपर्युक्त व्याख्या में हमलोगों ने केवल 'Analytic of conceptions की ही व्याख्या' की है और 'Analytic of principles की व्याख्या नहीं की है । Analytic of principles की संक्षिप्त व्याख्या यथास्थान होगी, यहाँ हमें अब 'Analy-

*देखें N. K. Smith, 'Ibid'—pp, 102-103, sec 26.

-tic of conceptions की संक्षिप्त व्याख्या करनी है। Analytic of conceptions के दो भाग हैं, अर्थात् Metaphysical Deduction of Categories और Transcendental Deduction of Categories. Metaphysical Deduction में उन प्रत्ययों को खोज निकाला जाता है जिनके आधार पर हम किसी भी विषय पर सोच या विचार सकते हैं और Transcendental Deduction में सिद्ध किया जाता है कि यदि हम प्रागनुभविक संयोजन (a priori synthesis) को स्वीकार न करें तो हम पदार्थ-विज्ञान के अनिवार्य तथा सार्वभौम नियमों की स्थापना नहीं कर सकते हैं।

Metaphysical Deduction (तत्वमीमांसात्मक उपपादन) :— जिस प्रकार संवेदनग्राहिता से हमें प्रत्यक्ष (percepts) प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार understanding से हमें concepts या categories (मूल-धारणायें) प्राप्त होते हैं। ये concepts निर्णय (judgment) में अन्तर्निहित होते हैं। इसलिए यदि हम सभी संभव निर्णय को जान लें तो हम उन निर्णयों के आधार पर सभी संभव प्रत्ययों को जान सकते हैं। काण्ट के अनुसार, अरस्तू ने सभी संभव निर्णयों का सर्वग्राही (exhaustive) वर्गीकरण किया है। इसलिये यदि हम अरस्तू के निर्णयों के वर्गीकरण को ध्यान में रखें तो हम उनके अन्तर्निहित सभी संभव प्रत्ययों को खोज निकालने में समर्थ हो सकेंगे। अरस्तू ने वाक्यों (या निर्णयों) को परिमाण (quantity), गुण (quality), सम्बन्ध (relation), प्रकार (modality) के आधार पर १२ वर्गों में बांटा है। इनके अनुरूप काण्ट ने १२ प्रत्ययों (concepts) को खोज निकाला है। इन्हें स्पष्ट करने के निम्नलिखित तालिका दी जा सकती है।

वाक्य-भेद के आधार Principles of classification	वाक्य-भेद (kinds of judgments)	वाक्य-वर्गों या भेदों पर आधारित प्रत्यय (categories deduced from the kinds of judgments)
परिमाण	१. पूर्णव्यापी (Universal) उ. कुछ मनुष्य मरणशील हैं	१. एकात्मक (Unity)
	२. अंशव्यापी (Particular) उ. कुछ मनुष्य कवि हैं	२. अनेकत्व (Plurality)
	३. एकवाची (Singular) उ. कालिदास कवि हैं।	३. सम्पूर्णत्व (Totality)

गुण	१. भावात्मक (Affirmative उ. मनुष्य मरणशील हैं २. अभावात्मक (Negative) उ. देवता मरणशील नहीं हैं। ३. अपरिमितात्मक (Infinite) उ. ईश्वर अगुणी है।	१. सत्ता या वास्तविकता (Reality) २. अभाव या निषेध (Negation) ३. सीमित भाव या सीमा (Limitation)
सम्बन्ध Relation	१. निरपेक्ष वाक्य (Categorical) उ. मनष्य विवेकशील होते हैं २. हेतुफलाश्रित वाक्य (Hypothetical) उ. यदि सूर्य उगे, तो प्रकाश होगा। ३. वैकल्पिक वाक्य (Disjunctive) उ. वह चाहे दुष्ट है या मूर्ख।	१. द्रव्य-गुण (Substance-Accident) २. कारण-कार्य प्रत्यय ३. पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया भाव (Action and Reaction or reciprocity between agent and patient)
विधि या प्रकार Modiality	१. संदेहात्मक (Problematic) उ. संभव है कि राम अभी आवे। २. विधानात्मक या साधारण या प्रतिज्ञात (Assertory) उ. भारत प्राचीन है। ३. अनिवार्य (necessary) उ. दो और दो मिलकर अवश्य ही चार होगा।	१. संभावना-असंभावना २. वास्तविकता-अवास्तविकता (Existence-Non-existence) ३. अनिवार्यता-आकस्मिकता (Necessity - Contingency)

इन बारह (concepts) में से पहली ६ मूलधारणाओं को काण्ट ने गाणतिक (mathematical) कहा है; और पिछली ६ मूलधारणाओं को गत्यामक (dynamical) कहा है। गाणतिक मूलधारणाओं का सम्बन्ध

वस्तुओं से है, चाहे वे शुद्ध प्रत्यक्ष हों या अनुभवाश्रित। परन्तु गत्यात्मक मूलधारणाओं का प्रसंग या तो प्रत्ययों के पारस्परिक सम्बन्धों से हैं या वस्तुओं के साथ चेतनों के सम्बन्ध से है। सम्बन्ध (relation) के ऊपर आधारित निर्णयों के अन्तर्निहित प्रत्ययों का प्रसंग वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध से है, और विधि (modality) पर आधारित निर्णयों के अन्तर्निहित प्रत्ययों का लगाव वस्तुओं के साथ चेतना के सम्बन्ध से है। फिर गणितिक प्रत्ययों में सापेक्ष (correlates) पद देखने में नहीं आते हैं, परन्तु गत्यात्मक प्रत्ययों में सापेक्ष पद, जैसे कारण-कार्य, देखने में आते हैं। अपितु, चारों आधार पर निर्णयों के वर्गीकरण पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक वर्ग में तीन प्रत्यय (categories) देखने में आते हैं, और प्रत्येक वर्गीकरण में तीसरा प्रत्यय, दो प्रत्ययों के योग से प्राप्त होता है। अतः, सम्पूर्णत्व अनेकत्व को एकत्व में लाने से प्राप्त होता है, वास्तविकता में अभाव होने से सीमित भाव (limitation) होता है; और द्रव्यों के बीच कारण-कार्य के रहने पर पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। अन्त में, संभावना के भाव पर अनिवार्यतः उत्पन्न होती है। यद्यपि तीसरा प्रत्यय, पहले दो के योग से उत्पन्न होता है, तोभी इसे स्वतन्त्र मूलधारणा समझनी चाहिए। काण्ट के द्वारा प्रत्ययों को इस प्रकार बाँटने से हेगेल को द्वन्द्वात्मक विधि का संकेत मिला था और उन्होंने वाद, प्रतिवाद (antithesis) तथा युक्तवाद (synthesis) के द्वारा अपनी प्रसिद्ध विधि को स्पष्ट किया है।

Metaphysical Deduction से इतना ही स्पष्ट होता है कि सभी संभव निर्णयों में १२ प्रत्यय देखने में आते हैं। परन्तु अब सिद्ध करना है कि बिना इन प्रत्ययों के वास्तविक ज्ञान संभव नहीं हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति Transcendental Deduction में की गयी है।

Transcendental Deduction की संक्षिप्त व्याख्या

ज्ञान का प्रारम्भ संवेदनराशियों (manifold of sensations) से होता है। संवेदनायें एक दूसरे से अलग और क्षणिक हुआ करती हैं। इन्हें व्यवस्थित करने पर ही स्थायी ज्ञान संभव होता है। सर्वप्रथम, संवेदनराशि देश और काल के मानसिक प्रागनुभविक रूपों से व्यवस्थित होती है। यदि देश और काल को प्रागनुभविक रूप न माना जाय जिनसे छनकर, ढलकर संवेदनराशि प्रत्यक्ष वस्तु (percept) का आकार धारण

करती है, तो गणितिक ज्ञान की अनिवार्यता तथा असंदिग्धता सिद्ध नहीं की जा सकती है। परन्तु संवेदनग्राहिता के देश और काल के प्रागनुभविक रूपों से केवल प्रत्यक्ष वस्तुयें ही मिलती है। हमें इन प्रत्यक्षों को दुबारा और उच्चतर तल से व्यवस्थित करना पड़ता है ताकि इनसे ज्ञान प्राप्त हो जाय। वास्तव में वैज्ञानिक नियमों में प्रत्यक्षों को समझ के १२ प्रत्ययों के द्वारा व्यवस्थित कर निर्णय बनाया जाता है। यहाँ भी हम पाते हैं कि ये १२ प्रत्यय अनुभव से प्राप्त नहीं हो सकते हैं क्योंकि इनमें सार्वभौमिकता और अनिवार्यता पायी जाती है जिन्हें हम अनुभव से प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसलिए प्रश्न उठता है कि प्रागनुभविक प्रत्ययों से, जो विषयीगत हैं, कैसे प्राकृतिक विषयगत (objective) नियमों की स्थापना की जाय।

काण्ट की समस्या के समाधान में हमें ध्यान रखना चाहिये कि विषयगत से काण्ट का अर्थ यह नहीं है कि वास्तव में मानव मन से परे पदार्थों की निजी अवस्था है जिसे हम जान सकते हैं। उनकी सत्ता अवश्य मानव मन से परे है, पर उनके स्वरूप को हम बिना मानव रंग में रंगे हुए नहीं जान सकते हैं। इसलिए यदि स्वलक्षणात्मक पदार्थ (things-in-themselves) हमारे ज्ञान के विषय न हों, तो 'विषयगत ज्ञान' का क्या अर्थ हो सकता है? विषयगत ज्ञान भी विषयीगत है। परन्तु विषयीगतता (subjectivity) का दो अर्थ हो सकता है। जब अंधेरे में एक छोटी चीज दाहिने से बाईं ओर चलती है, तो एक व्यक्ति को वह चीज चूहा मालूम दे सकता है और दूसरे को छुछूंदर और तीसरे को बेंग इत्यादि। इस प्रकार के ज्ञान को जो भिन्न-भिन्न ज्ञाताओं को भिन्न जान पड़े सापेक्ष (relative) कहते हैं और इसे कोरा विषयीगत ज्ञान कहते हैं। जब ह्यूम ने कहा है कि कारण-कार्य या द्रव्य-गुण के प्रायः सहचार से उत्पन्न होते हैं, तो किसी दो व्यक्तियों को एक प्रकार का सहचार नहीं हो सकता है और इसलिए कारण-कार्य, द्रव्यगुण इत्यादि के प्रत्यय, ह्यूमी व्याख्या के अनुसार, केवल आत्मनिष्ठ तथा सापेक्ष ही हो सकते है। जब काण्ट मूलधारणाओं को विषयीगत कहते हैं तो काण्ट Trancendental Deduction में दिखाना चाहते हैं कि विषयीगत होते हुए भी इनसे, सापेक्ष नहीं पर निरपेक्ष तथा सार्वभौम ज्ञान प्राप्त हो सकते है। अतः, Transcendental Deduction का उद्देश्य है कि वह मानसिक और प्रागनुभविक प्रत्ययों के आधार पर सार्वभौमिक

ज्ञान की सम्भावना सिद्ध कर दे। वह ज्ञान जो सभी व्यक्तियों में सार्वभौम और अनिवार्य हो वास्तव में विषयगत कहा जा सकता है। इसलिए काण्ट ने इस पक्ष में अपने उद्देश्य को इस प्रकार व्यक्त किया है, "The concepts which thus contain *a priori* the pure thought involved in every experience, we find in the categories. If we can prove that by their means alone an object can be thought, this will be a sufficient deduction of them, and will justify their objective validity," हम इसलिये कह सकते हैं कि Transcendental Deduction का उद्देश्य है कि वह उन अनिवार्य प्रागनुभविक समझ के रूपों को स्पष्ट कर दे जो सभी ज्ञातव्यों में एक समान पाये जाते हैं। इन प्रागनुभविक अंगों की व्याख्या काण्ट ने निम्नलिखित रीति से की है।

१. *The synthesis of Apprehension in Intuition*
(सहज प्रत्यक्ष में संवेदनाओं का संयोजन)

संवेदनाएँ पृथक्-पृथक् रूप में आती है और यदि वे इसी क्षणिक रूप में छोड़ दी जायँ तो वे विलीन हो जायँगी। उन्हें स्थायी ज्ञान में मँढ़ देने के लिए पहली शर्त यही है कि हम संवेदनराशि को अपने अवधान में एक साथ रखे रहें। अवधान में संवेदनाओं को एक साथ रखने की शर्त प्रागनुभविक है क्योंकि वह बात संवेदनाओं के होते ही होनी चाहिए। फिर यह शर्त दिक् और काल सम्बन्धी शुद्ध संवेदनाओं में भी लागू है।

२. *The synthesis of Reproduction in Imagination* (कल्पना में पुनस्मृत संवेदनाओं का संयोजन):– मान लिया जाय कि एक लम्बी रेखा दी हुई है जिसका हमें ज्ञान प्राप्त करना है। हम एक समय में इसके एक ही भाग को अपने अवधान में रख सकते हैं। इसलिए यदि हम इस रेखा के अन्तिम भाग का प्रत्यक्ष करें, तो पूर्ण रेखा को समझने के लिए पूर्व भाग के प्रत्यक्ष को हमें अपनी कल्पना में सही-सही स्मृत करना चाहिए। यदि अन्तिम भाग के प्रत्यक्ष करते-करते पूर्व भाग की स्मृति लोप हो जाय तो पूरी रेखा का ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो पायेगा। अतः, सहज प्रत्यक्ष (intui-

tion) में संवेदनाओं के संयोजन में पुनस्मृ'त संवेदनाओं का संयोजन अन्तर्निहित हैं ।

३. *The synthesis of Recognition in a concept*
(प्रत्यय में प्रत्यभिज्ञान का संयोजन)

फिर मान लिया जाय कि दी हुई रेखा के दो भाग 'क' और 'ख' हैं। यदि हम 'ख' के विषय में विचारते हुए सोचें कि 'क' जिसको हम एक क्षण पूर्व सोच रहे थे, वह पुनस्मृ'त होते समय बदल गया है, तो ऐसी अवस्था में हमें पूरी रेखा का पूर्ण ज्ञान नहीं होगा। अतः, पूर्ण ज्ञान के लिये आवश्यक है कि जब 'क' पुनस्मृ'त होता है तो हम पहचानें कि यह पुनस्मृ'त 'क' वही है जिसे हमने कुछ क्षण पहले देखा था। इसलिए पुनस्मृ'त संवेदनाओं का संयोजन हमारी प्रत्यभिज्ञा (recognition) में होना चाहिए। इसलिए वह प्रत्यय जो हम किसी एक समय में काम में लाते हैं उसे दूसरे समयों में भी एक समान रहना चाहिए। अतः, एक समान मूलधारणाओं के रहने से ही ज्ञान सम्भव है। इसलिए बिना समझ के १२ प्रत्ययों के ज्ञान सम्भव नहीं हो सकेगा।

काण्ट apprehension, reproduction तथा recognition के अंगों को प्रागनुभविक मानते हैं और इस बात पर जोर देकर बताना चाहते हैं कि जिसे हम ज्ञान का विषय कहते हैं वे इन्हीं अनिवार्य रीति से सम्बद्ध अंगों का समूह है। इसलिए जिस भी विषय को हम ज्ञान का रूप देते हैं उसमें सभी ज्ञाताओं के लिए संवेदन-संग्रह पुनस्मृति और प्रत्यभिज्ञा एक समान हुआ करती है। परन्तु ज्ञान-निर्माण में सभी प्रागनुभविक अंगों के एक समान रहने की मुख्य शर्त है कि सभी अंगों को 'पराप्रत्यक्ष के ऐक्य' (Transcendental unity of apperception) में रहना चाहिए, अर्थात् सभी अंगों को एक ही चेतना में रहना चाहिए।

हमलोगों ने देखा है कि एक ही अवधान में संवेदन-संग्रह होना चाहिए। इसकी स्मृ'ति भी अनेक समयों में एक ही होनी चाहिए। फिर इस स्मृति की प्रत्यभिज्ञा भी एक समान रहनी चाहिये। अतः, वे प्रत्यय जिनके आधार पर अनेक प्रत्यक्ष संयोजित होते हैं, विविध समय पर एक ही समान रहना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो मेज का मेरा ज्ञान जो कल हुआ था, आज नहीं रह

पायेगा और इसलिए ज्ञान क्षण-क्षण पर एक ही व्यक्ति के लिए बदलता जायगा और इसे ज्ञान के नाम से पुकारा नहीं जा सकता है। इसलिए संवेदनग्राहिता के दिक् और काल के रूप को तथा उन प्रत्ययों को जिनके आधार पर प्रत्यक्षों को व्यवस्थित कर ज्ञान बनाया जाता है, मेरी चेतना में एक समान रहना चाहिए। परन्तु ये दिक् और काल तथा १२ प्रत्यक्ष उसी समय एक स्थायी रूप में माने जा सकते हैं जब वह चेतना जिसके ये विषय हैं एकरूपी बनी रहे। जब तक चेतना एक न हो, तो हम कैसे कह सकते हैं कि जिस प्रत्यय को मैंने कल काम में लाया था वह आज इस समय भी वही है? "There must, therefore, be a transcendental ground of the unity of consciousness in the synthesis of the manifold of all our intuitions, and consequently also of the concepts of objects in general, and so of all objects of experience, a ground without which it would be impossible to think any object for our intuitions.."

परन्तु पराप्रत्यक्ष का संयोजक ऐक्य (synthetic unity of Apperception) जो सभी विचारों में स्थायी रूप में रहना चाहिए, हमारे विचारों का प्रागनुभविक शर्त है। इसे हम अपनी अनुभूति से प्राप्त नहीं कर सकते हैं। ह्यूम ने ठीक ही कहा है कि यदि मैं अपने को सहज प्रत्यक्ष के आधार पर जानना चाहूँ, तो मैं अपने स्थायी अहंभाव को कभी भी नहीं जान सकता हूँ। इसलिए पराप्रत्यक्ष का ऐक्य अनुभूत और प्रागनुभविक है, क्योंकि यह स्वयं सभी अनुभूतियों के सम्भव होने का तार्किक आधार हैं। चूँकि synthetic unity of apperception किसी भी अनुभव का आधार है, इसलिए यह मुझमें प्रागनुभविक तथा transcendental है। फिर transcendental तथा प्रागनुभविक होने के कारण व्यक्तियों में एक समान है। इसलिए दिक् और काल तथा १२ प्रत्यय सभी व्यक्तियों में एक समान रहना चाहिए और इन्हें एक स्थायी रूप में रहने के लिए सभी व्यक्तियों में पराप्रत्यक्ष के ऐक्य को एक ही रूप में रहना चाहिए।

यदि हम मान लें कि एक ही परम स्थायी चेतना है जिसके रहने से ही ज्ञान संभव है, तभी ज्ञान की सार्वभौमिकता, असंदिग्धता तथा, अनिवार्यता सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार की चेतना अनुभवातीत तथा प्रागनुभविक

है । अतः, जो भी प्राकृतिक नियम हम खोज निकालें वह इसी सार्वभौम स्थायी परम चेतना का विषय होगा; और चूँकि यह प्रागनुभविक चेतना है, इसलिए इस प्रकार का नियम विषयगत कहा जाय, क्योंकि प्रागनुभविक चेतना सब में एक ही है । अब यदि पूछा जाय कि वैज्ञानिकों में प्राकृतिक नियमों के स्वीकार करने में क्यों मतैक्य है, तो हम कह सकते हैं कि उनके अन्दर एक ही स्थायी परम चेतना है; और उसी बात को नियम कहा जाता है जो इस प्रकार की चेतना का विषय हो । अतः, 'विषय' मानसिक शक्तियों से परे और स्वतन्त्र नहीं हैं, परन्तु स्वयं यह उस स्थायी चेतना की देन है जो सभी विचारकों में सामान्य रीति से पाइ जाती है । "Accordingly, the order and conformity to law in the phenomena which we call *nature* we ourselves introduce and we could never find it there if we, or the nature of our mind had not originally placed it there." यहाँ 'we' का अर्थ स्थायी परम चेतना से है जो सभी ज्ञाताओं में स्थायी, प्रागनुभविक तथा सामान्य है ।

काण्ट synthetic unity of apperception को ज्ञान का प्रागनुभविक आधार मानते हैं, पर इसकी वास्तविकता को स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि वास्तविक वही है जो अनुभवाश्रित हो और काण्ट ने बारबार हमें चेतावनी दी है कि पराप्रत्यक्ष का ऐक्य अथवा स्थायी अहंभाव अनुभवातीत है । परन्तु अनुकाण्टीय विचारधारा में इसी synthetic unity of apperception को प्रत्ययवादियों ने Absolute (निरपेक्ष सत्ता) माना है और इसी निरपेक्ष सत्ता से सभी प्रत्ययों का होना दिखलाया है ।

यद्यपि काण्ट ने बताया है कि पराप्रत्यक्ष के ऐक्य से सभी विषयगत ज्ञान प्राप्त होता है, तौभी इसे प्रत्ययवाद (idealism) नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने बार-बार कहा है कि बिना प्रत्यक्षों के प्रत्यय से ज्ञान नहीं हो सकता है । अतः, हमें अब जानना चाहिए कि किस प्रकार से पराप्रत्यक्ष के ऐक्य के प्रत्यय (concepts) प्रत्यक्ष में लागू होते हैं । इस विषय पर काण्ट ने 'Analytic of Principles' में प्रकाश डाला है और इसकी हम अति संक्षिप्त व्याख्या करेंगे क्योंकि वास्तव में Transcendental De-

duction of Categories में ही काण्ट के विचारों का सार पाया जाता हैं, जिसकी व्याख्या हो चुकी है ।

Analytic of Principles

प्रश्न उठता है कि understanding सक्रिय शक्ति है और संवेदन शक्ति निष्क्रिय है और ज्ञान बिना इनके योग से सम्भव नहीं है । तो इनके योग को किस प्रकार समझा जा सकता है ? काण्ट के अनुसार अनुभववादियों की गलती यही थी कि उन्होंने प्रत्यक्ष और प्रत्यय के बीच के अन्तर को प्राकारिक न मानकर आंशिक समझा था । परन्तु यदि विचारना प्रत्यक्ष ही हो, तो ह्यूम ने ठीक ही दिखा दिया है कि प्रत्यय, प्रत्यक्ष से नहीं प्राप्त हो सकते हैं और इसलिए संगत सिद्धान्त तो यही होगा कि प्रत्यय भ्रान्तिपूर्ण विषयीगत रचना है । पर वास्तव में वैज्ञानिक नियमों को सत्य स्वीकार कर लेने पर हमें प्रत्ययों को उचित मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

यदि प्रत्ययों और प्रत्यक्षों में विषमजाति का भेद हो और फिर उनके योग को समझाना हो तो हमें मानना पड़ेगा कि उनके बीच में एक तीसरा माध्यम है जिसे संवेदनामय प्रत्यय या प्रत्यात्मक संवेदना कहा जा सकता है । इस माध्यम को schematism या सामान्य प्रतिमावाद कहा जा सकता है । हमारे मन में कल्पना शक्ति है जो अज्ञात रीति से ही प्रत्ययों को सामान्य प्रतिमा के रूप में परिणत कर देती है । इसी गुप्त कला के आधार पर हमारे प्रत्यय संवेदनामय (sensuous) हो जाते या संवेदना प्रत्ययात्मक (conceptualised) हो जाती है । इसलिए हमें जानना चाहिए कि किस प्रकार से schematism सम्भव है ।

काण्ट के अनुसार 'काल' ही ऐसा माध्यम है जिसके आधार पर संवेदन और विचार शक्तियाँ एक दूसरे का आलिंगन कर सकती हैं । पहली बात तो यह है कि 'काल' सामान्य प्रकार से सभी प्रत्यक्षों का प्रागनुभविक रूप हैं । फिर concepts और इसमें यह सामान्य बात है कि दोनों शुद्ध या प्रागनुभविक हैं । फिर मूलधारणाओं में भी कुछ संवेदनाओं का आभास मिलना चाहिए ताकि इन्हें प्रत्यक्षों में लागू किया जा सके और संवेदनाओं का आभास जो प्रत्ययों में हैं वह यह हैकि इसमें भी अर्थात् काल में पूर्वापरपन है । "..pure *a priori* concepts, in addition to the function of understanding expressed in the category, must contain *a priori*

ceraint formal conditions of sensibility, namely, those of inner sense." इसलिए प्रत्ययों को 'काल' के आधार पर ही संवेदनामय बनाया जाता है, या संवेदनाओं को प्रत्ययात्मक (conceptualised) किया जाता है।

संवेदनामय प्रत्यय (sensualised concepts) को schema या सामान्य प्रतिमा (image) कहा जाता है। जब हम किसी वस्तु के विषय विचारने लगते हैं तो प्राय: हमारे विचार में कोई न कोई प्रतिमा भी पायी जाती है। जैसे, जब हम मनुष्य के सम्बन्ध में विचारने लगते हैं तो कोई एक लम्बे या नाटे, गोरे या काले व्यक्ति की प्रतिमा हमारे विचार के आलम्बन के रूप में दिखायी देती है। परन्तु schema वह प्रतिमा है जो विशेष न होकर सामान्य हो। इसका कारण यह है कि concept अनेक वस्तुओं में लागू होता है और कितनी ही विशेष प्रतिमायें हमारी कल्पना में आयें वे concept के सभी उदाहरणों के लिए सर्वग्राही (exhaustive) नहीं कही जा सकती हैं। इसलिए सभी उदाहरणों में सर्वग्राही रीति से लागू होने के लिए हमारे विचार को सामान्य प्रतिमा की आवश्यकता पड़ जाती है। "...... the schema has to be distinguished from the image. (It is) rather the representation of a method whereby a multiplicity, for instance a thousand, may be represented in an image in conformity with a certain concept, than the image itself............ This representation of a universal procedure of imagination in providing an image for a concept, I entitle the schema of this concept," अर्थात् काण्ट के अनुसार सभी विचारों में प्रतिमा का रहना आवश्यक है। यद्यपि प्रतिमा विचार नहीं है, पर विचार का यह अनिवार्य आलम्बन या आश्रय है। अत॰, काल के विभिन्न रूप में प्रत्ययों की सामान्य प्रतिमा को schema कहा जा सकता है।

चूँकि १२ प्रत्यय गुण, परिमाण, सम्बन्ध और विधि के आधार पर विभाजित किये गये हैं, इसलिए काल भी इन चारों रूपों में प्रत्ययों को संवेदनामय करता है। इसकी संक्षित व्याख्या निम्नलिखित रीति से हो सकती है।

१. परिमाण:— काल-श्रृंखला (series) के द्वारा परिमाण-सम्बन्धी प्रत्ययों का सामान्य प्रतिमाकरण होता है। एक क्षण में निहित रहने पर एकत्व, सभी क्षणों में निहित रहने पर सम्पूर्णत्व तथा सामान्य रीति से बराबर रहने पर अनेकत्व, का काल-रूप में प्रतिमाकरण होता है।

२. गुण:— काल-व्याप्ति। वास्तविकता वह है जो किसी निर्दिष्ट काल में समरूप संवेदनाओं से व्याप्त हो, जो काल किसी भी संवेदनाओं से रिक्त हो उसे 'निषेध' (negation) कहा जा सकता है, और जो काल संवेदन-शून्यता के बाद कुछ समय तक किसी संवेदना से व्याप्त हो उसे सीमित-भाव की व्यवस्था से व्यक्त होना कहा जाता है।

सम्बन्ध:— काल-क्रम (order) द्रव्य की काल-व्यवस्था वह है जिसमें परिवर्तन के होने पर भी किसी वस्तु को स्थायी समझा जाय; कारण-कार्य की काल-व्यवस्था वह है जिसमें एक घटना का दूसरी घटना के साथ अनिवार्य सम्बन्ध हो। पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की काल-व्यवस्था वह है जिसमें द्रव्य अपने आकस्मिक धर्मों के कारण एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं।

४. विधि:— काल-सम्पूर्णता (Time-comprehension)। संभावना वह है जो किसी भी समय हो सकता है; वास्तकिता वह है जो किसी निश्चित काल में हो और अनिवार्य वह है जो सभी कालों में हो।

काल-व्यवस्था के सिद्धांत से काण्ट यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि बिना किसी प्रकार की प्रतिमा के विचार संभव नहीं होता है। टेबुल, कुर्सी, ताप, रंग इत्यदि साधारण प्रत्यय हैं और इनमें भी कोई न कोई प्रतिमा-विशेष पायी जाती है। चूंकि मूलधारणायें (categories) सामान्य प्रत्यय हैं, इसलिए ये सामान्य प्रतिमाओं के माध्यम से संभव होते हैं और ये सामान्य प्रतिमायें 'काल' के रूप में पायी जाती हैं। समसामयिक मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध-असिद्ध नहीं हो पाया है कि विचारों में प्रतिमाओं का होना अनिवार्य है। अब जो भी मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष स्थापित हो, पर उससे काण्ट की गवेषणा का महत्त्व कम नहीं हो सकता है। काण्ट की धारणा तार्किक है। यदि विचार और संवेदन में प्राकारिक या जाति-भेद हो और फिर यदि बिना उनके घनिष्ठ आलिंगन से वैज्ञानिक ज्ञान संभव न हो, तो उन्हें किसी न किसी सामान्य माध्यम की आवश्यकता पड़ जाती है।

शामुएल अलेक्जैण्डर ने काण्ट की काल-व्यवस्था के सिद्धान्त से काफी लाभ उठाने की कोशिश की है। वे ब्रिटिश अनुभववाद की परम्परा में आते हैं और इसलिए वे मूल प्रत्ययों को अनुभव के ही आधार पर स्पष्ट करना चाहते थे। उनके अनुसार दिक-काल (Space-Time) परम सत्ता है और

इसी से हमारे सारे प्रत्यय भी सिद्ध होते हैं। परन्तु आलोचकों का कहना है कि अलेक्जेण्डर प्रत्ययों की व्याख्या नहीं कर पाये हैं क्योंकि वास्तव में उनके प्रत्यय, प्रत्यय नहीं हैं, पर वे प्रत्ययों के ढाँचे हैं । अतः, काण्ट के काल-ढांचे न तो प्रत्ययों के समान अतीन्द्रिय हैं, और न ऐन्द्रिय अनुभूतियों के समान क्षणिक तथा रूपरहित हैं। इनमें विचार और संवेदन के दोनों धर्म पाये जाते हैं।
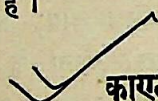
काण्ट का अज्ञेयवाद (Agnosticism)

काण्ट के सिद्धांत को अज्ञेयवाद कहा जाता है क्योंकि इसके अनुसार हम परम सत्ता के शुद्ध स्वरूप को नहीं जान सकते हैं। ज्ञान की शर्त ही है कि हम पहले संवेदन को दिक् और काल के रूप में परिणत करके प्रत्यक्ष बनावें और फिर प्रत्यक्षों को प्रागनुभविक मानसिक प्रत्ययों के आधार पर ज्ञान में बदल दें। जिस किसी वस्तु का हमें ज्ञान होगा वह मानव रूपों के आकार में ढलकर हो आयेगा और बिना इस आकार में ढाले हुए हम किसी वस्तु को जान ही नहीं सकते हैं। परन्तु परम पदार्थ का अपना निजी स्वरूप क्या है, इसे हम कैसे जान सकते हैं ? इसलिए काण्ट का कहना है कि Things-in-themselves are unknown and unknowable। परन्तु प्रश्न उठता है कि यदि परम पदार्थ का स्वरूप अज्ञात और अज्ञेय है तो इसके अस्तित्त्व को स्वीकार करने की आवश्यकता ही क्या है ? फिर यदि हम मानें कि परम पदार्थ अज्ञेय है, तो इससे स्पष्ट होता है कि हम यह भी कह सकते हैं कि यह है या नहीं। किसी वस्तु को 'है या नहीं' कहने का अर्थ है कि हम इसका हम विधान या निषेध कर रहे हैं, अर्थात् इसमें वास्तविकता (reality) अथवा अभाव (negation) का प्रत्यय काम ला रहे हैं। परन्तु हमलोगों ने देखा है कि प्रत्यय, बिना प्रत्यक्ष के खाली साँचा है। और खाली साँचे से किसी भी ज्ञान की वस्तु का निर्माण नहीं हो सकता है। ईसलिए यदि पारमार्थिक सत्ता अज्ञेय हो तो हम यह भी नहीं कह सकते हैं कि यह है या नहीं हैं। जब काण्ट कहते हैं कि परम सत्ता है, पर यह अज्ञेय है, तो आलोचकों का कहना है कि काण्ट को कोई अधिकार नहीं है कि वे कहें कि पारमार्थिक सत्ता है या नहीं है।

काण्ट उपर्युक्त आलोचना का प्रत्युत्तर करते हुए बताते हैं कि जब वे कहते हैं कि पारमार्थिक सत्ता है, तो 'है' उसी समय ज्ञानात्मक कहलायेगा जब इसमें कुछ प्रत्यक्ष भी हो; अर्थात् किसी ज्ञान को भावात्मक मानने में दो अंग होते हैं, (क) यह है और (ख) यह क्या है। 'क्या' संवेदन-वस्तु से प्राप्त होता है। जब तक संवेदन-वस्तु न हो तब तक ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। अतः, हम यही कह सकते हैं कि परम सत्ता है, पर हम यह नहीं बता सकते हैं कि यह क्या है (We know that it *is* but we do not know *what* it is)। ऐसी अवस्था में, काण्ट के अनुसार जब परम सत्ता का ज्ञान है नहीं, तो इसे न्याय-संगत या असंगत कहना ही कठिन है। पारमार्थिक सत्ता हमारे ज्ञान की सीमा को परिलक्षित करती है और यह स्वंय ज्ञान की वस्तु नहीं है।

फिर भी प्रश्न उठता है कि यदि पारमार्थिक सत्ता अज्ञात और अज्ञेय हो तो हमें इसका बोध ही नहीं हो सकता है और इसलिए इसका उल्लेख भी करना संभव नहीं है। आगे चलकर हम देखेंगे कि काण्ट वास्तव में पारमार्थिक सत्ता को शून्य नहीं समझते थे। पर वे इसे ज्ञान की परिधि से हटाकर विश्वास के क्षेत्र में ले जाना चाहते थे जहाँ इस पर संदेह ही नहीं किया जा सके। अतः, काण्ट अपने अज्ञेयवाद के आधार पर धर्म और आचार की संरक्षा करना चाहते थे। परन्तु शुद्ध ज्ञान-मीमांसा में भी काण्ट अपने अज्ञेयवाद के आधार पर बतलाना चाहते थे कि ज्ञान में मानसिक रूपों के अतिरिक्त आनुभविक (empirical) अंग भी हैं। अतः, काण्ट ने शुद्ध प्रत्ययवाद का खंडन किया है और वस्तुवाद की क्षीण रेखा दिखलाकर मानव ज्ञान को प्रातिभासिक परिधि में ही सीमित रखा है। इसलिए अनुकाण्टीय विचारों में काण्ट के अज्ञेयवाद की कड़ी आलोचना करने पर भी इसे काण्ट के दर्शन से हटाया नहीं जा सकता है।

Transcendental Dialectic
(प्रागनुभविक द्वन्द्वशास्त्र)

काण्ट की ज्ञान-मीमांसा का विशेष विषय था कि synthetic judgment *a-priori* की व्याख्या की जाय। इस प्रकार के निर्णय गणित-शास्त्र, पदार्थ-विज्ञान और तत्त्वमीमांसा में पाये जाते हैं। गणितशास्त्र के synthetic judgment *a-priori* की व्याख्या संवेदन-शक्ति-विज्ञान

(Aesthetic) में की गयी है और पदार्थ-विज्ञान के synthetic judgment *apriori* की व्याख्या Transcendental Analytic में की गयी है। काण्ट के अनुसार गणितिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान संभव हैं, पर काण्ट अब बताना चाहते हैं कि तत्त्व-मीमांसा के विषय, ईश्वर, आत्मा और विश्व ज्ञानातीत हैं। ज्ञान के सम्बन्ध में काण्ट का मत सीधा और साफ है। हम काण्ट के अनुसार, प्रत्यय के आधार पर ही जान सकते हैं, पर इन प्रत्ययों का उचित उपयोग प्रत्यक्षों (percepts) में ही लागू होता है। जो कुछ प्रत्यक्षातीत हो या अतिसंवेद्य (suprasensible) हो वह वास्तविक ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है। पर मानव इस ज्ञान की इस सीमा को ग्रहण नहीं करना चाहते हैं। उनके अन्दर ऐसी व्याकुलता तथा ज्ञान-पिपासा पायी जाती है जिसके कारण वे इस ज्ञान की मर्यादा का उल्लंघन करने का प्रयास करते हैं। यह व्याकुलता मन के स्वयं सम्बद्धता-प्रयास या प्रवृत्ति (impulse) से निकलती है। सामान्य रीति से मन अपने प्रागनुभविक रूपों के आधार पर परिवर्तनशील तथा क्षणभंगुर संवेदनाओं को ज्ञान में परिणत कर देता है। पर यह ज्ञान केवल प्रातिभासिक जगत का ही संभव हो सकता है। परन्तु मन की प्रागनुभविक प्रवृत्ति रहती है कि वह प्रातिभासिक जगत् की सीमाओं को पार करते हुए प्रातिभासिक तथा पारमार्थिक सत्ताओं को समेटकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर ले। जिस प्रकार से विचार, प्रत्ययों के आधार पर प्रत्यक्षों को समेट कर वैज्ञानिक ज्ञान का निर्माण करता हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा (reason) ईश्वर, आत्मा और विश्व के अति सामान्य प्रत्ययों के आधार पर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहती है। यदि हम पूर्ण ज्ञान को जो मन, प्रज्ञा के तीन प्रत्ययों के आधार पर प्राप्त करना चाहता है, केवल आदर्श-रूप में समझें, तो हम प्रज्ञा की इस प्रवृत्ति का सदुपयोग करते हैं। पर यदि हम समझें कि ईश्वर इत्यादि का हम को पूर्ण ज्ञान वास्तव में प्राप्त हो सकता है, तो हम में छाया को ठोस मान लेने का दोष आ जाता है प्रज्ञा के तीन प्रत्यय ज्ञान के विधायक (regulative) अंग हैं, न कि निर्मायक (constitutive) अंग हैं। "The ideas of Reason do *regulate*, but do not *constitute* knowledge."

प्रायः, मन की ज्ञानात्मक (cognitive) प्रक्रियाओं को वस्तुबोधन, निर्णय (judgment) और अनुमान (inference) की प्रक्रियाओं में

बाँट दिया जाता है। इस विभाजन के अनुसार, संवेदन-शक्ति का सम्बन्ध वस्तुबोधन से, विचार-शक्ति का सम्बन्ध मूल प्रत्ययों से, और प्रज्ञा का सम्बन्ध अनुमान से है। ज्ञान की सम्बद्धता, जो मन की अपनी प्रागनुभविक देन है, प्रत्यक्ष से प्रारम्भ होकर, प्रत्ययों से होती हुई प्रज्ञा की तीन सामान्य धारणाओं' (Ideas) में समाप्त हो जाती है। "All our knowledge begins with the senses, proceeds thence to the understanding and ends with reason." जिस प्रकार से विचार की मूलधारणायें प्रत्यक्षों की सम्बद्धता को पूरी करती हैं, उसी रीति से प्रज्ञा की तीन धारणायें, विचार के प्रत्ययों के आधार पर ज्ञान की सम्बद्धता को पूर्ण करने की कोशिश करती हैं। परन्तु प्रज्ञा के द्वारा पूर्ण ज्ञान का आभास आदर्श-मात्र है। पर मानव प्रागनुभविक प्रेरणा से विवश होकर वे transcendental भ्रम में पड़ जाते हैं। चूँकि प्रज्ञा का सम्बन्ध अनुमान से है और अनुमान निरपेक्ष (categorical) हेतुफलाश्रित (hypothetical) तथा वैकल्पिक (disjunctive) तीन प्रकार के होते हैं, इसलिए इनके अनुरूप प्रज्ञा के आत्मा, विश्व और ईश्वर नामक तीन प्रत्यय होते हैं। आत्मा के प्रत्यय के आधार पर प्रज्ञा आत्मा की अमरता, स्वतन्त्रता इत्यादि सिद्ध करना चाहती है। पर वे केवल प्रत्ययमात्र हैं और स्थायी, अमर तथा शुद्ध आत्मा ज्ञान का विषय नहीं हो सकती है। यदि हम समझ लें कि हम अमर, स्थायी तथा शाश्वत आत्मा को वैज्ञानिक रीति से जानते हैं तो इस प्रकार के ज्ञानाभास में Paralogism का दोष आ जाता है। उसी प्रकार विश्व की सम्पूर्णता किसी भी प्रत्यय में नहीं अँट सकती क्योंकि संवेदनायें विश्व के किसी अंग की ही हो सकती है। यदि विश्व की सम्पूर्णता प्रत्यक्ष का विषय न हो, तो यह ज्ञान का विषय हो नहीं सकता है। हम विश्व की सम्पूर्णता के विषय विचार सकते हैं, पर जान नहीं सकते हैं। We can *think,* but cannot *know* the totality of the universe इसलिए ज्ञान की सीमा, विचार की सीमा नहीं है। पर चूँकि understanding के द्वारा बिना प्रत्यक्ष के, प्रत्यय-मात्र के आधार पर विचार करने से ही ज्ञान नहीं होता है, इसलिए यदि हम समझ लें कि हम विश्व की सम्पूर्णता को समझते हैं तो हम में *Antinomies* (विरोधाभास) का दोष आ जाता है। फिर यदि हम आत्मा और विश्व के रचयिता ईश्वर को जानने का प्रयास करें तो हम में Ideal of reason का दोष आ जायगा।

Paralogism, antinomies और Ideal of reason को काण्ट नें Transcendental भ्रम कहा है, क्योंकि ये मन के प्रागनुभविक रूपीकरण की प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं। चूंकि ये transcendental भ्रम हैं, इसलिए सभी व्यक्तियों में इनके पाये जाने की संभावना रहती है। फिर यद्यपि प्रज्ञा के तीनों प्रत्यय ज्ञानातीत स्पष्ट भी कर दिये जायं, तोभी इनके चपेटों से बचना कठिन है। यही कारण है कि काण्ट के अनुसार शायद ही कोई विचारक इन्हें सत्य न मानकर इनके चपेटों से अपने को मुक्त कर सका है। अपितु, यद्यपि ये भ्रम भ्रम ही हैं, पर ये ऊँची कल्पनायें नहीं हैं। न हम कह सकते हैं ये असत् हैं और न हम कह सकते हैं कि ये सत् हैं। इनके विषय में संशय उतना ही दोषपूर्ण है जितना इन्हें ज्ञात समझ लेने में दोष है। साथ काण्ट ने अपनी अन्य समीक्षाओं (critique) में दिखाया है कि ये ज्ञान के नहीं, पर विश्वास (faith) के उचित विषय हैं। अतः, काण्ट ने प्रज्ञा के विषय को ज्ञानातीत ठहराकर, उन्हें विश्वास का विषय बना लिया है। Kant, therefore, has demolished knowledge in order to make room for faith.

हम प्रज्ञा के तीनों प्रत्ययों की अलग-अलग व्याख्या करेंगे और काण्ट के अनुसार दिखलायेंगे कि ये सभी ज्ञानातीत हैं।

Paralogisms of Reason (आत्मा के सम्बन्ध में भ्रम)

हमलोगों ने transcendental Deduction of the categories में देखा है कि बिना पराप्रत्यक्ष के ऐक्य के ज्ञान की सम्बद्धता, अनिवार्यता तथा सार्वभौमिकता प्राप्त नहीं की जा सकती है। परन्तु synthetic unity of Apperception ज्ञान का तार्किक आधार है और इसलिए इसे वास्तविक सत्ता नहीं माना जा सकता है। अधिक-से-अधिक हम यही कह सकते हैं कि ऐसा मालूम देता है कि एक ही चेतना है जिसमें सभी प्रत्यय पाये जाते हैं। पर इस पराप्रत्यक्ष की एकता वास्तविक नहीं है क्योंकि हम इसे किसी भी अन्तर्निरीक्षण से प्राप्त नहीं कर पाते हैं। यह ठीक है कि अन्तर्निरीक्षण के आधार पर जो कुछ हम अपनी आत्मा के विषय अनुभूत करते हैं, उसे हम स्थायी, शाश्वत आत्मा नहीं कह सकते हैं। अनुभूत आत्मा के ज्ञान को आनुभविक (empirical) मनोविज्ञान कहते हैं और इस मनोविज्ञान में बताया जाता है कि परिवर्तनशील, क्षणभंगुर मानसिक प्रक्रियाओं के समूह को आत्मा

कहा जा सकता है। अतः, अनुभव के आधार पर स्थायी मनस का कोई पता नहीं लगता है। पर प्रज्ञा के प्रत्यय के आधार पर हम स्थायी, शाश्वत द्रव्य के रूप में आत्मा को जानने की कोशिश करते हैं। आनुभविक मनोविज्ञान से अलग कर हम इसे प्रज्ञात्मक मनोविज्ञान (rational psychology) कह सकते हैं और काण्ट के अनुसार यह युक्तिसंगत मनोविज्ञान नहीं कहा जा सकता है।

हमलोगों ने पहले ही देखा है कि प्रत्यक्षों को समझ (understanding), प्रत्ययों के आधार पर सम्बद्ध कर ज्ञान उत्पन्न करती है। प्रत्यक्ष ज्ञान की पहली सीढ़ी है और बिना इस पहली सीढ़ी को पार किये हुए हम उचित रीति से प्रत्ययों की दूसरी सीढ़ी पर नहीं चढ़ सकते हैं। पर यदि अनुचित रीति से भी हम ज्ञान प्राप्त करना चाहें, तो हम प्रत्ययों की ही मदद लेंगे। इसलिए यदि हम स्थायी आत्मा के विषय प्रज्ञात्मक मनोविज्ञान की रचना करना चाहें, तो यहाँ भी हम इन १२ प्रत्ययों की मदद लेंगे। ये १२ प्रत्यय गुण, परिमाण, सम्बन्ध और विधि के अनुसार विभाजित किये गये हैं। इसलिए प्रज्ञात्मक आत्मा के ज्ञान की रचना में भी ये चारों विभाजन के सिद्धान्त पाये जाते हैं। अतः, प्रज्ञात्मक आत्मा के सम्बन्ध में इन चार प्रकार की बातें कही गयी हैं।

१. आत्मा द्रव्य है। २. गुण के दृष्टिकोण से आत्मा को सरल कहा जा सकता है। ३. अनेक कालों में एक ही रूप में रहने के कारण इसमें एकत्व (unity) का भाव है, न कि अनेकत्व का। ४. दिक् की सभी सम्भाव्य वस्तुओं से इसका सम्बन्ध है।

चूँकि मैं सभी विषयों पर विचार करता हूँ, इसलिए मैं ज्ञाता हूँ और इसलिए मैं ज्ञाता के रूप में सभी ज्ञेय वस्तुओं से परे और स्वतन्त्र हूँ। अतः, प्रज्ञात्मक शुद्ध द्रव्य है जिसमें किसी भी प्रकार की ज्ञेय वस्तुओं की जड़ता नहीं है। इसलिए इसे जड़हीन चेतना कहा जा सकता है। फिर चूँकि यह सरल, निरवयव है, इसलिए यह अविनाशी (immortal) है। अपितु, चूँकि इसका सम्बन्ध संभाव्य वस्तुओं से है, इसलिए इसे प्राणियों का प्राण और देहधारियों की आत्मा कहा जा सकता है।

परन्तु प्रज्ञात्मक आत्मा के विषय में कहना कि यह अमर है या स्वतन्त्र है, इत्यादि वृथा है। प्रत्ययों ही के आधार पर कोई सिद्ध नहीं कर सकता है कि आत्मा अमर है। यदि मर जाने के बाद भी आत्मा का किसी प्रकार अनुभव

किया जा सके, तो हो सकता है कि हम इसे अमर सिद्ध कर पायें। पर इस प्रकार का प्रयोग अभी तक सम्भव हो नहीं पाया है। इसलिए आत्मा को अमर कहना अयुक्तिसंगत भ्रम है। उसी प्रकार ज्ञान की अनिवार्यता और सार्वभौमिकता दिखाने के लिए हमें मानना पड़ता है कि कोई स्थायी, ज्ञाता-रूप में चेतना है। पर हम यह नहीं कह सकते हैं कि वास्तव में कोई परम ज्ञाता है, क्योंकि ऐसा मान लेने से ज्ञाता वास्तव में 'ज्ञेय' हो जाता है। इसलिए देकार्त का कहना कि cogito ergo sum से ज्ञातारूप में हम अपनी आत्मा को जानते हैं, सही नहीं है। यह ठीक है कि ज्ञान की व्याख्या करने में synthetic unity of apperception को स्वीकार करना पड़ता है। पर इस रूप में यह केवल परम प्रत्यय है जिसके आधार पर ज्ञान की व्याख्या की जाती है। पर प्रत्यय को वास्तविक नहीं समझा जा सकता है।

अतः, काण्ट के अनुसार हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि हम प्रज्ञात्मक आत्मा को जान नहीं सकते हैं। यदि हम इसे जानने का दम्भ भरें तो इसमें transcendental भ्रम हो जाता है। यद्यपि यह भ्रम है तो भी यह कोरी कल्पना नहीं हैं, क्योंकि इससे अपने को मुक्त रखना किसी भी विचारक के लिए आसान नहीं है। फिर हम पाते हैं कि हमारे आचार की विवेचना बिना स्वतन्त्र आत्मा को माने हुए नहीं की जा सकती है। अतः, यह विश्वास का विषय है, यद्यपि प्रज्ञात्मक आत्मा ज्ञानातीत है।

प्रज्ञा का विरोधाभास (Antinomies)

जिस प्रकार से आनुभविक मनोविज्ञान के पूर्ण ज्ञान के आदर्श को प्रज्ञात्मक मनोविज्ञान के रूप में हम प्राप्त करना चाहते हैं, उसी प्रकार बाह्य वस्तुओं के पूर्ण ज्ञान को ब्रह्माण्ड-ज्ञान के रूप में हम प्राप्त करना चाहते हैं। इसे हम विश्व-विज्ञान कह सकते हैं। यह वह विज्ञान है जिसमें हम विश्व की सम्पूर्णता के विषय में ही जानने की कोशिश करते हैं। परन्तु विश्व की सम्पूर्णता हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं, और इसलिए यहाँ हमारा ज्ञान दोषपूर्ण होता है। हम सोचते हैं कि हम विश्व की सम्पूर्णता के विषय में कह सकते हैं कि यह शाश्वत अणुओं से बनी है, या इसकी सृष्टि अपने-आप हुई है, इत्यादि। पर वास्तव में हम विश्व की सम्पूर्णता के विषय में कुछ भी नहीं कह सकते हैं। यह इसी से सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्माण्ड के विषय में हमारा ज्ञान विरोधी पक्षों में पाया जाता है और

दोनों पक्ष और प्रतिपक्ष इसके विषय प्रमाणित किये जा सकते हैं । अतः, इससे स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ हमारे ज्ञान की सीमा पहुंच गयी है जहाँ निश्चित तथा अनिवार्य ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता है ।

ब्रह्माण्ड के प्रति भी परिमाण, गुण, सम्बन्ध तथा विधि के अनुसार, वाद (thesis) और प्रतिवाद (anti-thesis) के रूप में चार विरोधाभास (antinomies) देखने में आते हैं । प्रत्येक विरोधाभास में वाद और प्रति-वाद दोनों युक्तिसंगत दिखाई देते हैं ।

परिमाण-सम्बन्धी विरोधाभास

पक्ष या वाद—ब्रह्माण्ड दिक् और काल में सीमित है, अर्थात् इसकी सृष्टि की गयी है और फिर किसी एक समय में इसका अन्त भी होगा ।

यदि ब्रह्माण्ड की सृष्टि किसी निश्चित काल में नहीं हुई है, तो यह अनादि और शाश्वत है । यदि यह अनादि हो, तो इससे यह सिद्ध होता हैं कि अनन्त काल बीत चुका है । पर 'अनन्त' का अर्थ हो है कि जिसका अन्त न हो और यह कहना कि अनन्त काल 'बीत' चुका है, बोध करता है कि 'अनन्त' का अन्त हो गया है । अतः, ब्रह्माण्ड अनन्त नहीं है । इसलिए इसका अवश्य कभी आदि और अन्त मानना पड़ेगा । अतः, ब्रह्माण्ड की कभी-न-कभी अवश्य ही सृष्टि की गयी होगी ।

प्रतिपक्ष या प्रतिवाद—ब्रह्माण्ड का आदि और अन्त नहीं है, इसलिए यह दिक् और काल में अपरिमित है ।

यदि ब्रह्माण्ड की सृष्टि किसी एक काल में हुई हो, तो इससे स्पष्ट है कि सृष्टि के पूर्व अनन्त काल बीत चुका है । पर वह काल जिसमें कोई घटना न हो, शून्य काल कहा जा सकता है । पर शून्य काल में कोई घटना नहीं हो सकती है । इसलिए ब्रह्माण्ड की सृष्टि शून्य काल में कही जाय तो अयुक्तिसंगत होगा । अतः, ब्रह्माण्ड की सृष्टि कभी नहीं हुई है । इसलिए इसका न कोई आदि है और न अन्त ।

फिर यदि हम मान लें कि ब्रह्माण्ड दिक् में परिमित है, तो इससे बोध होता है कि यह घिरा हुआ है । पर ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त तो दिक् है नहीं, इसलिए यदि हम कहें कि

फिर यदि ब्रह्माण्ड दिक् में परिमित न हो, तो यह अपरिमित होगा। परन्तु दिक् में अपरिमित वही है जिसमें असंख्य वस्तुएँ एक साथ पायी जायँ। परन्तु असंख्य वस्तुओं के प्रत्यक्ष के लिए अनन्त काल की आवश्यकता पड़ जाती है। पर हम देख चुके है कि 'अनन्त काल' किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता है। अतः, ब्रह्माण्ड दिक् में परिमित है।

ब्रह्माण्ड घिरा हुआ है, तो इससे बोध होता है ब्रह्माण्ड शून्य (vacuum) से घिरा हुआ है। पर शून्य से कुछ भी घिर नहीं सकता है। अतः, ब्रह्माण्ड दिक् में अपरिमित है।

परिमाण-सम्बन्धी विरोधाभास में हमें ध्यान रखना चाहिए कि काण्ट विश्व की सम्पूर्णता (totality) के विषय की चर्चा कर रहे हैं, जो किसी के प्रत्यक्ष में एक साथ नहीं अंट सकती है। इसलिये प्रत्यक्ष पर आधारित न रहने के कारण हमारा ज्ञान खोखला ही रह जाता है।

फिर प्रतिपक्ष में काण्ट बतला रहे हैं कि बिना घटनाओं के काल और दिक् शून्य है। इसी आधार पर अलेक्ज़ेण्डर शामुएल ने कहा है कि देश और काल एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते हैं। इसलिए इनके अनुसार मूल सत्ता दिक्-काल है, न कि देश और काल। दिक् और काल को अवियोज्य रीति से मान लेने पर ये एक दूसरे को शून्य रहने से बचाते हैं।

गुण-सम्बन्धी विरोधाभास

पक्ष—सरल द्रव्य, अर्थात् परमाणुओं के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत्य नहीं है।

यदि यौगिक द्रव्य का निर्माण सरल परमाणुओं के योग से न हो, तो यौगिक द्रव्य के विनष्ट होने पर उनका लोप हो जायगा और अन्त में कुछ भी शेष न रह पायेगा। परन्तु यौगिक द्रव्य आकस्मिक हैं, और सरल द्रव्य ही स्थायी तथा शाश्वत है।

प्रतिपक्ष—परमाणुओं की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती है।

यदि परमाणु सत् हों, तो ये दिक् में ही सत् होंगे। पर जो कुछ दिक् में हो उसमें ऊपरी; निचला, दाहिना- बाँया इत्यादि अंश रहता हैं। अतः, अखंड्य, शाश्वत अणुओं की सरलता स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि सरल का अर्थ है कि वह जो अंश-रहित तथा अखण्डित हो।

सम्बन्ध पर आधारित विरोधाभास

पक्ष—स्वतन्त्र कारण हो सकता है और सभी कुछ कारण-कार्य से नियन्त्रित नहीं हैं।

यदि सभी घटनाओं की व्याख्या कारण-कार्य के आधार पर की जाय, तो वर्त्तमान घटनाओं का कारण भूत कारण होंगे और इन भूत घटनाओं के भी अन्य भूत कारण होंगे, और इस रीति से अनवस्था का दोष (regressus ad infinitum) हो जायगा। इसलिए इस दोष से बचने के लिए हमें स्वीकार करना चाहिए कि कोई ऐसा स्वतन्त्र कारण है जिसने सांसारिक घटनाओं का प्रारम्भ किया है।

प्रतिपक्ष—स्वतन्त्र कारण संभव नहीं है और सभी कुछ नियतिवाद से जकड़ा हुआ है।

यदि हम मान लें कि बिना किसी कारणवश घटनाएं हुआ करती हैं तो किसी घटना की व्याख्या न हो पायेगी। अतः, हमें स्वीकार करना चाहिए कि कोई भी घटना बिना कारण के नहीं हो सकती, और इसलिए स्वतन्त्र कारण संभव नहीं हो सकता है।

विधि-सम्बन्धी विरोधाभास

पक्ष— विश्व में या इसके किसी भाग में विश्व का निरपेक्ष तथा अनिवार्य रचयिता है।

विश्व में अनेक घटनाएं हुआ करती हैं। ये अनिवार्य नहीं लगती हैं। इसलिए हमें इनका कारण खोजना पड़ता है। पर ये कारण भी आपातिक या आकस्मिक मालूम देते हैं। जैसे, धान के अच्छे होने का कारण अच्छी वर्षा कही जाती है, पर क्यों जल से धान अच्छा होता है, यह आकस्मिक मालूम देता है। पर घट-

प्रतिपक्ष—न तो विश्व में और न इसके बाहर विश्व का कोई निरपेक्ष तथा अनिवार्य रचयिता है।

विश्व की सारी घटनायें दिक् और काल में देखी जाती हैं जिन्हें हम प्रातिभासिक सत्ता मानते हैं। पर सभी प्रातिभासिक सत्ताएं नियतिवाद से जकड़ी हुई हैं और कोई भी घटना निरपेक्ष नहीं दीखती है। इसलिए प्रातिभासिक दृष्टिकोण से कोई भी निरपेक्ष तथा अनिवार्य सत्ता नहीं दिखाई देती है।

नाओं की व्याख्या आकस्मिक कारण या कारणों की श्रृंखला नहीं कही जा सकती है। अतः, विश्व की सारी घटनों की व्याख्या अन्त में अनिवार्य तथा निरपेक्ष सत्ता के आधार पर की जा सकती है।

फिर यह निरपेक्ष तथा अनिवार्य सत्ता विश्व में ही होगी क्योंकि घटनाओं का प्रारम्भ काल में ही हो सकता हैं जो विश्व का गुण है। अतः विश्व का अनिवार्य कारण विश्व-निहित हो सकता है।

यदि कोई सत्ता विश्व में हो तो वह दिक् और काल में रहने के कारण प्रातिभासिक होगी, न कि पारमार्थिक, और इसलिए नियतिवाद से जकड़ी हुई होगी। पर यदि यह सत्ता द्रिक और काल से शून्य में हो, तो शून्य में न कोइ घटना रह सकती और न प्रारम्भ हो सकती हैं।

अतः, न विश्व में और न विश्व से परे कोई निरपेक्ष तथा अनिवार्य सत्ता हो सकती हैं।

विरोधाभासात्मक विचार मानसिक रूपीकरण-प्रवृत्ति का चरम विकास है जो हमारी ज्ञेय वस्तुओं के सम्बन्ध में पाया जाता है। जब हमारे प्रागनुभविक रूपों से प्रत्यक्षों के सम्बद्ध करने पर ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तो रूपीकरण की प्रवृति प्रत्यक्षातीत विषयों के प्रति भी सम्बद्धता प्रदान करके ज्ञान उत्पन्न करना चाहती हैं। इस प्रकार की चरम सम्बद्धता में मानव के चरम लक्ष्य छिपे हुए हैं। हम जानना चाहते हैं कि वास्तव में हम स्वतन्त्र हैं या नियतिवाद से जकड़े हुए हैं,—क्या इस विश्व का कोई सृजनहार है या सृष्टि स्वयंभू तथा शाश्वत है। इन प्रश्नों का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं हो सकता है और इसलिए दर्शन के इतिहास में कोई एक पक्ष को और कोई विरोधाभास के दूसरे प्रतिपक्ष को अपनाता हुआ दिखायी देता है। व्यावहारिक, नैतिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण से विचारक विरोधाभास के पक्षों को अपनाकर कहते हैं कि इस विश्व का सृष्टिकर्ता है जिसने विश्व कि सृष्टि की है; और प्रत्येक व्यक्ति नैतिक निर्णयों में स्वतन्त्र है तथा सरल आत्मा को धारण करके वह अमर है। परन्तु अनुभव पर आश्रित रहकर वैज्ञानिक विचारक प्रतिपक्षों को ही अपनाता है और वह सृष्टि को स्वयंभू, शाश्वत तथा स्वसंचालित मानता और कहीं भी वह स्वतन्त्र कारण को स्वीकार नहीं करता है। यदि दोनों प्रकार के विचारक अपने पक्षों के केवल आदेश रूप में रखकर हठवादी न हो जायँ, तो इससे लाभ अवश्य हो सकता है। अनुभववादी प्रतिपक्षों के आधार पर स्वतन्त्र कारण इत्यादि को

अस्वीकार करता हुआ वैज्ञानिक ज्ञान का परिवर्द्धन करेगा; तथा पक्षों को ग्रहण करने वाला विचारक धर्म तथा नीति की संरक्षा कर सकेगा। "Without unbroken causal connection, there is no nature; without freedom, no morality: without a Deity, no religion".

प्रज्ञा का परम आदर्श (Ideal of Reason)

विश्व-सम्बन्धी प्रज्ञात्मक प्रत्यय से इसलिए ज्ञान असिद्ध ठहरता है कि विश्व के प्रति हमें पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों सही मालूम देते और फिर वे परस्पर विरोधी हैं। अतः, यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि मानव अपने ज्ञान के सीमान्त पर पहुँच गये हैं। पर रूपीकरण की प्रवृति ज्ञान की पर्णता प्राप्त करने के निमित्त हमारे मन को व्याकुल करती रहती है और हम बराबर ज्ञान-सीमा को पार करने के लिए उतावले हो जाते हैं। प्रज्ञात्मक मनोविज्ञान तथा प्रज्ञात्मक विश्व-विज्ञान के अतिरिक्त प्रज्ञा, ज्ञाता और ज्ञेय, दोनों की विशाल तथा पूर्ण समष्टि को किसी एक व्यक्ति की कल्पना कर प्राप्त करना चाहती है। प्रज्ञा इस ज्ञान के महान आदर्श से प्रेरित होकर विचार करती है कि एक ईश्वर है जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और पूर्ण ज्ञान निहित है। अतः, ईश्वर-सम्बन्धी प्रज्ञात्मक प्रत्यय में शाश्वत, ज्ञाता-रूप आत्मा और विश्व की सम्पूर्णता, दोनों का सम्मिश्रण है। चूँकि प्रज्ञात्मक आत्मा और विश्व की सम्पूर्णता-सम्बन्धी ज्ञान दोनों आदर्श ज्ञान के रूप हैं, इसलिए ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान को मानव ज्ञान का परम आदर्श कहा जा सकता है।

यदि मानव अपने ज्ञान की पूर्णता को ईश्वर-ज्ञान के आधार पर प्राप्त करना चाहता है, तोभी इससे वास्तविक ज्ञान नहीं समझा जा सकता है। वास्तविक ज्ञान वही है जिसकी शिला प्रत्यक्षों पर जमी हो। पर ईश्वर को कोई भी न देख सकता और न किसी इन्द्रिय से अनुभव कर सकता है। अतः, केवल प्रत्ययों के आधार पर ईश्वर-विज्ञान केवल खोखला ज्ञान है। यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि सभी प्रमाण जो ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में बताये गये हैं, अयुक्तिसंगत ठहरते हैं। इसलिये हम ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण के खोखलेपन को काण्ट की युक्तियों के अनुसार इस रीति से स्पष्ट कर सकते हैं।

तत्व या सत्ता--सम्बन्धी प्रमाण (Ontological Proof)

अन्सेल्म, देकार्त और लाइबनित्स ने ईश्वर की सत्ता को वास्तविक प्रमाणित करने के लिए सत्ता-सम्बन्धी प्रमाण दिया है। इस प्रमाण से अनुसार,

हमारे मन में पूर्ण सत्ता की धारणा है और इसलिए यह धारणा केवल कोरी कल्पना न होकर अवश्य ही वास्तविक सत्ता के सम्बन्ध में होगी। ईश्वर की वास्तविकता (actuality or existence) उस पूर्ण द्रव्य के प्रत्यय से उसी प्रकार टपकती है जिस प्रकार से त्रिभुज का त्रिकोणाकार उसके प्रत्यय से ही ध्वनित होता है। संक्षेप में प्रत्ययों के आधार पर ही वास्तविकता सिद्ध की जा सकती हैं।

यहाँ काण्ट का कहना है कि वास्तविकता केवल इन्द्रिय-ज्ञान से प्राप्त की जा सकती है। प्रत्ययों से प्रत्यक्षों की सम्बद्धता प्राप्त की जा सकती, पर इससे वास्तविकता नहीं प्राप्त की जा सकती है। प्रत्यय चाहे साधारण वस्तुओं के विषय हों या पूर्ण द्रव्य के विषय हों, वे वास्तविकता को नहीं प्राप्त कर सकते हैं हम आसानी से प्रत्यय बना सकते हैं कि हमारे पाकेट में १०० रुपये हैं, पर इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि हमारे पास १००) रुपये हैं। यदि केवल प्रत्ययों की रचना से ही वास्तविकता प्राप्त हो जाती, तो कोई भूखा, नंगा और दरिद्र न होता। भूखा व्यक्ति मालपुआ तथा रसगुल्ला का प्रत्यय बनाकर अपनी भूख शान्त कर लेता। जिस साम्यानुमान (analogy) के आधार पर सत्तात्मक प्रमाण दिया गया है, वह दोषपूर्ण अनुमान है। त्रिभुज की परिभाषा से त्रिकोणाकारपन का निष्कर्ष सिद्ध होता है। पर त्रिकोणाकारपन केवल एक प्रत्यय है। एक प्रत्यय से अन्य अन्तर्ध्वनित प्रत्ययों की स्थापना की जा सकती है। पर सत्तात्मक प्रमाण में प्रत्यय के आधार पर वास्तविकता की स्थापना की जाती है, जो किसी भी प्रत्यय का धर्म नहीं है।

आलोचक जैसे केअर्ड ने आगे चलकर कहा है कि यद्यपि साधारणतया प्रत्ययों के आधार पर वास्तविकता स्थापित नहीं की जा सकती है, पर केवल एक और एक ही ऐसा प्रत्यय है जिसके अनुरूप वास्तविकता न स्वीकार करने से विचारों में आत्मव्याघात (self-Contradiction) चला आता है। अतः, इन आलोचकों के अनुसार, ईश्वर के प्रत्यय से अनिवार्य रूप से ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित होता है। काण्ट इस आलोचना का प्रत्युत्तर करते हुए बताते हैं कि प्रत्ययों के आधार पर किसी वस्तु के वास्तविक होने की संभावना की कल्पना की जा सकती है, पर अस्तित्व के प्रत्यय से किसी भी वस्तु की (चाहे वह साधारण हो या असाधारण) वास्तविकता सिद्ध नहीं की जा सकती है। यदि हम संयोजक (synthetic) तथा वियोजक (analytic) वाक्यों का भेद याद करें, तो हम देखेंगे कि analytic वाक्यों में अनिवार्यता

पायी जाती पर वह प्रत्ययात्मक (conceptual) अनिवार्यता ही है। synthetic वाक्यों के विधेय का निषेध हम बिना किसी अयुक्ति के कर सकते हैं। यदि ईश्वर का अस्तित्व वियोजक वाक्य का विधेय हैं, तो हम कह सकते हैं कि 'ईश्वर' से उसके अन्तर्निहित अस्तित्व-प्रत्यय अनिवार्य रीति से सिद्ध होता है। पर यहाँ ईश्वर का अस्तित्व केवल प्रत्यय है, न कि वास्तविक सत्ता। पर यदि हम कहें कि ईश्वर का अस्तित्व, संयोजक वाक्य का विधेय है, तो हम बिना किसी अयुक्ति के इसका निषेध कर सकते हैं। अतः, ईश्वर की वास्तविक सत्ता, ईश्वर-सम्बन्धी प्रत्यय से सिद्ध नहीं हो पाती है।

विश्व-सम्बन्धी कारण-कार्य मूलक प्रमाण

हमलोगों ने पाया कि सत्तामूलक ईश्वर के अस्तित्व का पूर्वानुभविक प्रमाण इसलिए दोषपूर्ण सिद्ध हो गया है कि हम अनुभूत वस्तुओं से अपनी युक्तियों को प्रारम्भित नहीं करते हैं। इस कमी को पूरा करने के लिए विश्वाश्रित (cosmological) प्रमाण दिया जाता है।

हमारा विश्व के प्रति जो कुछ अनुभव होता है, उससे बोध होता है कि सभी वस्तुएँ आपातिक (contingent) हैं। अतः, सभी आपातिक वस्तुओं की व्याख्या के लिए हमें इनके अनिवार्य आधार-कारण ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लेना चाहिए। इस तरह का प्रमाण देकार्त और लाइबनित्स ने भी दिया था। इनके अनुसार सभी घटनाओं की व्याख्या कारण-कार्य के सिद्धान्त के द्वारा की जाती है। पर 'क' का कारण 'ख' और 'ख' का कारण 'ग' है, इत्यादि। इस प्रकार के कारण-कार्य की व्याख्या में अपरिमित प्रतीपगमन करना पड़ता है। अतः, हमें इसे अपरिमित प्रतीपगमन के दोष से बचने के लिए स्वीकार करना चाहिए कि सभी कारण-कार्य की श्रृंखला का भी कोई ऐसा कारण होना चाहिए जिससे और कोई प्रतीपगमन न हो पाये। अतः, इस आधार-कारण को अनिवार्य, निरपेक्ष सत्ता होना चाहिए।

पहली बात है कि आपातिक सत्ता का आधार-कारण अनिवार्य रूप आपातिक ही हो सकता है। आपातिक (contingent) से हम अनिवार्य सत्ता नहीं प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि इन दोनों के बीच किसी प्रकार का लगाव है ही नहीं। फिर यदि हम मान भी लें कि आपातिक घटनाओं से अनिवार्य सत्ता (necessary Being) ध्वनित होती है, तो इससे यह सिद्ध नहीं

होता है कि इस अनिवार्य सत्ता की वास्तविकता है। अनिवार्य सत्ता केवल प्रत्यय-मात्र है और प्रत्यय से वास्तविकता स्थापित नहीं की जा सकती है। अतः, विश्वसम्बन्धी प्रमाण भी वास्तव में, सत्तामूलक प्रमाण पर आश्रित है। चूंकि सत्तामूलक प्रमाण अयुक्तिसंगत ठहरता है, इसलिए कारण-कार्यमूलक प्रमाण से भी अनिवार्य सत्ता, अर्थात् ईश्वर की वास्तविकता सिद्ध नहीं होती है।

उद्देश्यमूलक (Teleological) प्रमाण

इस प्रमाण के अनुसार जहाँ तक मानव अनुभव प्राप्त होता है, वहाँ तक सम्पूर्ण विश्व में क्रम, व्यवस्था, साधन-साध्य की सम्बद्धता इत्यादि दिखाई देती है। पर क्या साधनों की ऐसी व्यवस्था जिससे निश्चय लक्ष्य की पूर्ति होती हो, बिना किसी उद्देश्य के हो सकती है? क्या इससे महती बुद्धि का उद्देश्य परिलक्षित नहीं होता है? अतः, प्राकृतिक समरूपता, व्यवस्था, सौन्दर्य आदि से स्पष्ट होता है कि कोई परम सत्ता है जिसने इस विश्व की रचना अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए की है।

काण्ट ने उद्देश्यमूलक प्रमाण को श्रद्धा की निगाह से देखा है और इसके सम्बन्ध में लिखा है; "This proof always deserves to be mentioned with respect. It is the oldest, the clearest, and the most accordant with the common reason of mankind." फिर भी काण्ट के अनुसार इस प्रमाण को युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता है। पहली बात है कि यह युक्ति केवल साम्यानुमान का उदाहरण है और इसलिए इसका निष्कर्ष असंदिग्ध नहीं हो सकता है। फिर इस उद्देश्यमूलक प्रमाण से इतना ही सिद्ध हो सकता है कि विश्व का कोई शिल्पकार (architect) है, न कि इस विश्व का कोई सृष्टिकर्त्ता (creator) है। सृष्टिकर्त्ता वह है जो विश्व के उपादान और उसके रूप दोनों का रचयिता हो। पर शिल्पकार वह है जो किसी दी गयी सामग्री या उपादान में बाहर से रूप आरोपित करता है। उद्देश्यमूलक प्रमाण के अनुसार विश्व की व्यवस्था तथा सम्बद्धता स्वयं विश्व से ही अपने आप नहीं हो सकती है, इसलिए किसी सृजनहार परम सत्ता ने बाहर से इसमें व्यवस्था आरोपित की हैं। अतः, इससे स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक पदार्थ पहले से मौजूद थे और इसे ईश्वर ने नहीं रचा है। इसलिए ईश्वर पूर्वस्थित

भौतिक पदार्थ से परिमित हो जाता है। अतः, उद्देश्यमूलक प्रमाण से अपरिमित, निरपेक्ष, परम सत्ता का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है।

प्रज्ञात्मक प्रत्ययों की उपयोगिता

प्रज्ञात्मक प्रत्ययों के द्वारा वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है और यदि इसे हम ज्ञान मान लें तो हम में Transcendental भ्रम उत्पन्न हो जाता है। पर प्रज्ञात्मक प्रत्यय प्रयोजनहीन नहीं है; क्योंकि इनकी भी मानव ज्ञान में अपनी उपयोगिता है।

१. प्रज्ञात्मक प्रत्ययों के द्वारा प्रज्ञात्मक मनोविज्ञान, विश्व-विज्ञान तथा ईश्वर-विज्ञान मानव के ज्ञान के चरम उद्देश्य की ओर संकेत करते हैं ताकि उन्हें हम अपने दृष्टिकोण में रखकर अपने प्रातिभासिक जगत के ज्ञान को यथासम्भव सम्बद्ध बनायें। अतः, प्रज्ञा के प्रत्यय ज्ञान के निर्मायक अंग नहीं, पर वे इसके विधायक (regulative) आदर्श हैं।

२. प्रज्ञा के प्रत्यय हमारे ज्ञान के सीमान्त (limiting) उदाहरण हैं जो बोध कराते हैं कि उन्हें पार कर हम किसी प्रकार का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

३. जिस प्रकार से सम्वेदन-शक्ति के रूप समझ की मूलधारणाओं के द्वारा सम्बन्ध होते हैं, उसी प्रकार समझ की मूलधारणायें प्रज्ञा के तीन प्रत्ययों के द्वारा सम्बद्धता को प्राप्त करती हैं। संवेदन तथा विचारशक्ति पदार्थों या वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान प्रदान करती है, पर प्रज्ञा के प्रत्यय आदर्श का प्रदान करते हैं। इसी को दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि संवेदन और विचार-शक्ति का सम्बन्ध उन विषयों से है जो हैं; पर प्रज्ञा का सम्बन्ध उन विषयों से है जिन्हें होना चाहिए (ought to be)।

४. यह ठीक है कि ईश्वर की वास्तविकता, आत्मा की, अमरता तथा इच्छा की स्वतन्त्रता ज्ञानातीत हैं। पर ज्ञानातीत रहने के कारण उनके प्रति सन्देह भी नहीं किया जा सकता है। उनके विषय में सन्देह करना उतना ही मूर्खतापूर्ण है जितना उनके विषय में ज्ञान का हठ करना अयुक्ति-संगत हैं। दोनों का तर्क हवा से बात करता है और छाया को सत्य मानकर उससे टक्कर लेता है। "Both parties to the dispute beat the air; they worry their own

shadow for they pass beyond nature to a region where their dogmatic grips find nothing to lay hold of." Therefore, 'the sword of the sceptic and battering ram of the materialists fall harmless on vacuity.'

५. जब प्रज्ञा के प्रत्यय ज्ञानातीत सिद्ध हो जाते तो वे कोरी कल्पना नहीं कहे जा सकते हैं, क्योंकि उन्हें नैतिक तथा धार्मिक विश्वास का योग्य विषय माना जा सकता है। यद्यपि हम नहीं कह सकते कि ईश्वर तथा इच्छा की स्वतन्त्रता असंदिग्ध रीति से जानी जा सकती है तोभी हम कह सकते हैं कि हमें निष्काम भाव से अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए मानो हम स्वतन्त्र हैं और मानो न्यायाधीश ईश्वर पुण्यात्माओं को उनको किये का यथोचित फल देगा, इत्यादि।

क्या काण्ट ने ह्यूम की समस्या का समाधान किया है ?

ह्यूम की समस्या अनुभवजन्य नियमों (empirical laws) के सम्बन्ध में थी। हम रोटी खाते आये हैं और भूत अनुभूति के आधार पर नियम बनाते हैं कि रोटी से शरीर की रक्षा होती है या पानी से प्यास बुझती है। ये नियम भविष्य में और सभी मानव के लिए सत्य माने जाते हैं। पर प्रश्न है कि इनका क्या आधार है जिस पर ये नियम टिके हुए हैं ? प्रायः, ह्यूम के समय में दार्शनिक कहते थे कि ये नियम कारण-कार्य के सिद्धान्त पर टिके हुए हैं। यही कारण है कि ह्यूम ने कारण-कार्य के सिद्धान्त के सम्बन्ध में अपनी गम्भीर गवेषणा प्रारम्भ की थी।

ह्यूम अनुभववादी थे और इसलिए उनके अनुसार सभी भावनाएँ केवल अनुभव से ही सिद्ध की जा सकती हैं। यदि अग्नि और ताप के बीच कारण-कार्य का सम्बन्ध है तो इसे भी अनुभूति पर ही आधारित होना चाहिए। परन्तु ह्यूम ने तीक्ष्ण विश्लेषण के आधार पर स्पष्ट कर दिया है कि कहीं भी ऐसी घटनाएँ नहीं हैं जिनके बीच कारण-कार्य का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। पर प्रश्न है कि यदि अग्नि और ताप के बीच किसी प्रकार का सार्वभौम तथा अनिवार्य कारण-कार्य का सम्बन्ध न हो तो हम क्यों समझते हैं कि अग्नि से ताप अवश्य ही होगा। यहाँ ह्यूम का कहना है कि अग्नि और ताप को इतनी अधिक बार हमलोगों ने एकसाथ अनुभव किया हैं कि इनके बीच साहचर्य-सम्बन्ध (relation of association) स्थापित हो गया है, और जब दो भावनाओं के बीच साहचर्य हो जाता है तब एक भावना के

प्रस्तुत होने पर हम अनिवार्य रूप से दूसरी भावना की प्रतीक्षा करने लगते हैं। अतः, दो वस्तुओं के बीच अनिवार्यता (necessity) का सम्बन्ध कहीं नहीं है, पर अनिवार्यता मानसिक है और विषयीगत है जिससे विवश होकर प्रत्येक व्यक्ति उन वस्तुओं के बीच अनिवार्य सम्बन्ध देखता है जिनमें साहचर्य पाया जाता है। फिर व्यक्तियों में अनिवार्यता के सम्बन्ध की प्रतीक्षा करने की आदत तथा परंपरा (custom) बन जाती हैं और जब कभी कोई भी घटना होती है तो व्यक्ति उसका कारण खोज निकालना चाहता है। अतः, कारण-कार्य का सिद्धान्त वस्तुनिष्ठ नहीं, पर आत्मनिष्ठ तथा काल्पनिक परम्परा है।

इसलिए यदि कहा जाय कि अनुभवजन्य नियमों का आधार कारण-कार्य का सिद्धान्त है, तो ह्यूम का कहना है कि, चूँकि कारण-कार्य का सिद्धान्त मनगढ़न्त तथा काल्पनिक परम्परा है, इसलिए वैज्ञानिक नियमों का कोई ठोस, युक्तिसंगत आधार नहीं माना जा सकता है। अतः, वैज्ञानिक ज्ञान का भी कोई आधार नहीं है। इसी निष्कर्ष को ह्यूम का संशयवाद कहा जाता है।

काण्ट को विज्ञान में पूरी आस्था थी और साथ-ही-साथ उनके अनुसार वैज्ञानिक नियमों का आधार कारण-कार्य का सिद्धान्त था। इसलिए सर्वप्रथम, ह्यूम के संशयवाद की आलोचना करते हुए उन्होंने बताया कि यह कहना कि 'विज्ञानों में ज्ञान है ही नहीं', गलत है। वैज्ञानिक ज्ञान अनिवार्य तथा सार्वभौम रूप से सत्य होता है। कम-से-कम यह बात गणितशास्त्र में स्पष्ट है। अतः, काण्ट ने ह्यूम की आलोचना करके लिखा है कि ह्यूम ने अपनी समस्या तथा निष्कर्ष को संकीर्ण क्षेत्र ही में सीमित रखा है। यदि ह्यूम अपनी समस्या को विस्तृत क्षेत्र में देखते तो उन्हें उनकी कमी खटकने लगती।

"Among philosophers, David Hume....occupied himself exclusively with the synthetic proposition regarding the connection of an effect with its cause, ...and he believed himself to have shown that such an *a priori* proposition is entirely impossible.

....If he had envisaged our problem in all its universality, he would never have been guilty of this statement, so destructive of all pure philosophy. For he would then have recognised that, according

to his own argument, pure mathematicsas containing *a priori* synthetic propositions, would also not be possible; and from such an assertion his good sense would have saved him" (Critique of Pure Reason-Introduction B-20)। यहाँ ह्यूम की आलोचना काण्ट ने ठीक नहीं की है क्योंकि ह्यूम गणितिक निष्कर्ष को अनिवार्य तथा सर्वभौम मानते थे, पर उनके अनुसार गणित का सम्बन्ध वास्तविक अनुभूतिजन्य नियमों से नहीं रहता है। पर ह्यूम की विशेष समस्या वास्तविक घटनाओं के बीच के अनुभूतिजन्य नियमों की सत्यता से सम्बन्ध रखती है। इस सम्बन्ध में ह्यूम के अनुसार वैज्ञानिक नियमों की सत्यता निराधार है।

काण्ट ने ह्यूम का प्रत्युत्तर करते हुए बतलाया है कि पदार्थ-विज्ञान में भी synthetic Judgments *a priori* हैं अर्थात् अनिवार्य तथा सार्वभौम नियम हैं और ये नियम विशेष रीति से कारण-कार्य के सिद्धान्त पर आधारित हैं। परन्तु कारण-कार्य का सिद्धान्त प्रागनुभविक है और इसलिए इसे अनुभूति से सिद्ध ही नहीं किया जा सकता है। यदि ह्यूम ने कारण-कार्य के सिद्धान्त को अनुभवातीत पाया, तो इससे उन्हें सतर्क हो जाना चाहिए था। उन्हें समझना चाहिए था कि कारण-कार्य का सिद्धान्त प्रागनुभविक है और इसलिए उन्हें अपने अनुभववाद में संशोधन लाना चाहिए था। पर ह्यूम ने अनुभववाद की लीक को पकड़े रहकर कारण-कार्य के सिद्धान्त को साहचर्य के आधार पर स्पष्ट किया है। परन्तु साहचर्य-नियम भी मन के स्वरूप पर अनिवार्य रीति से निर्भर रहता है। इसके अनुसार भी कहना पड़ता है कि मन का ऐसा स्वरूप है कि साहचर्य के हो जाने पर एक वस्तु के प्रस्तुत रहने पर दूसरी वस्तु की प्रतीक्षा अनिवार्य रीति से होने लगती है। यहाँ काण्ट का कहना है कि ह्यूम ने कम-से-कम मन के स्वरूप के सम्बन्ध में अनिवार्यता ग्रहण की है, अर्थात् मन का स्वरूप ऐसा है कि (क) इसकी प्रक्रियाओं के बीच साहचर्य हो जाता है; और (ख) सहचारी प्रक्रियाएँ ऐसी हैं कि एक के प्रस्तुत होने पर दूसरी प्रक्रिया अनिवार्य रीति से उभड़ने लगती है। मन के सम्बन्ध में मानव मन के इस स्वरूप तथा उसकी कार्यवाही को ह्यूम को भी वस्तुनिष्ठ स्वीकार करना पड़ेगा। अतः, बिना ज्ञान में विषयनिष्ठ अनिवार्यता को माने हुए किसी भी प्रकार की व्याख्या नहीं हो सकती है। "Experience does indeed show that one appearance customarily follows

upon another, but not that this sequence is necessary.........But as regards the empirical rule of *association* which we must postulate throughout...... upon what, I ask, does this rule, as a law of nature, rest? How is this association itself possible ?(Pure Reason—P. 88)

संक्षेप में काण्ट, ह्यूम के अनुभववाद की आलोचना करते हुए बताते हैं कि गणित तथा पदार्थ-विज्ञान (Physics) में synthetic judgments a priori हैं। यदि विज्ञानों में नियम अनिवार्य तथा सार्वभौम हों, तो ये अनुभव से प्राप्त नहीं किये जा सकते हैं। अनुभव के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि अग्नि और ताप के बीच सम्बन्ध पाया जाता है, पर हम यह नहीं कह सकते हैं कि अग्नि और ताप के बीच सम्बन्ध अवश्यमेव होगा। "Appearances do indeed present cases from which a rule can be obtained according to which something usually happens, but they never prove the sequence to be *necessary*. To the synthesis of cause and effect there belongs a dignity which cannot be empirically expressed, namely, that the effect not only succeeds upon the cause, but that it is posited *through* it and arises *out of* it. This strict universality of the rule is never a characteristic of empirical rule......." (N.K. Smith, Pure Reason—P. 78, फिर देखें पृष्ठ ८०)। चूंकि सार्वभौम तथा अनिवार्य नियम अनुभव से प्राप्त नहीं हो सकते हैं, इसलिए काण्ट के अनुसार वैज्ञानिक नियमों की अनिवार्यता तथा सार्वभौमिकता प्रागनुभविक मानसिक देन है।

ह्यूम गणितिक नियमों को अनिवार्य इसलिए समझते थे कि ये प्रत्ययों के स्पष्टीकरण (explication) से प्राप्त किये जाते हैं और इसलिए ह्यूम की विशेष समस्या थी कि पदार्थ-विज्ञान के वस्तुनिष्ठ नियमों को कैसे अनिवार्य रूप से सिद्ध माना जाय। यहां ह्यूम की समस्या का समाधान करते हुए काण्ट ने बताया है कि पदार्थ-विज्ञान के दो पक्ष हैं, अर्थात् शुद्ध (pure) पदार्थ-विज्ञान और यथार्थ (proper) पदार्थ विज्ञान। Proper physics

का सम्बन्ध वास्तविक विशेष नियमों से है और वास्तव में ह्यूम की समस्या अनुभवजन्य इन्हीं विशेष नियमों से सम्बन्ध रखती है। इस प्रसंग में काण्ट ने pure physics के सम्बन्ध में दिखाया है कि बिना प्रागनुभविक समझ के प्रत्ययों के इसकी सम्भावना नहीं हो सकती है। अब physics proper के जितने विशेष (particular) नियम हैं वे pure physics के प्रागनुभविक नियमों पर आधारित माने जा सकते हैं।

परन्तु काण्ट के उपर्युक्त समाधान को अब सर्वमान्य नहीं समझा जा सकता है। pure physics को वास्तव में पदार्थ-विज्ञान माना ही नहीं जाता है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि विज्ञान-दर्शन के अनुसार सभी विज्ञानों में कुछ प्रारम्भिक (initial) मन्तव्य (postulates) होते हैं और जिन्हें काण्ट ने 'समझ के प्रत्यय' कहा है, वे केवल विज्ञानों के प्रारम्भिक मन्तव्य हैं। इन मन्तव्यों के अनुसार विज्ञान-विचार-संचालित होता है, पर इनसे विज्ञानों के विशेष नियम निर्मित नहीं होते हैं। स्वयं काण्ट ने लिखा है कि प्रत्ययों से वैज्ञानिक नियम सिद्ध नहीं किये जा सकते हैं। ' Special laws, as concerning those appearances which are empirically determined, cannot in their specific character be *derived* from the categories although they are one and all subject to them. To obtain any knowledge whatsoever of these special laws, we must resort to experience;......." (वही P. 103)। अतः, वास्तव में काण्ट ने ह्यूम के Physics Proper से सम्बन्ध रखनेवाली समस्या का समाधान नहीं किया है। केवल इतना कहने से काम नहीं चल सकता है कि Physics Proper के नियम Pure Physics पर आधारित हैं। यदि काण्ट वास्तव में दिखा देते कि Pure Physics से Physics Proper के सभी नियम निकलते हैं तो वे ह्यूम की समस्या का समाधान कर देते और काण्ट ने यह काम नहीं किया है। काण्ट तो इतना ही समझते थे कि बिना कारण कार्य के नियम को माने हुए वैज्ञानिक किसी नियम को स्थापित नहीं कर सकते हैं और यह कारण-कार्य का सिद्धान्त प्रागनुभविक ही सकता है। पर आज वैज्ञानिकों के लिए कारण-कार्य का सिद्धान्त आवश्यक नहीं समझा जाता है। अतः, अधिक से अधिक हम यही कह सकते है कि ह्यूमी समस्या का काण्टीय समाधान अपने युग के लिए समीचीन था, पर समसामयिक दृष्टिकोण के अनुसार काण्टीय समाधान को सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता है।

परन्तु काण्टीय समाधान का मूल आधार है कि विज्ञानों में अनिवार्य तथा संयोजक (synthetic) नियम पाये जाते हैं। इसके विपक्ष में ह्यूम का कथन था कि वैज्ञानिक नियम केवल संभाव्य (probable) हैं। यदि सभी वैज्ञानिक नियम केवल संभाव्य हो, तो काण्टीय प्राग्नुभविक प्रत्ययों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। समसामयिक विचार-धारा में स्पष्ट कर दिया गया है कि यदि नियम अनिवार्य हो, तो ये केवल वियोजक (analytic) ही हो सकते हैं; और यदि ये नियम संयोजक हों, तो ये अनिवार्य नहीं हो सकते हैं। इसलिए Synthetic judgments *a priori* को ही न्याय-संगत नहीं समझा गया है। अत: काण्टीय समस्या ही दोषपूर्ण कही गयी है और इसके आधार पर जो कुछ काण्ट ने ह्यूम का समाधान किया है उसे प्रसंगहीन समझा गया है। इसलिए हम कह सकते हैं कि काण्ट ने ह्यूमी समस्या का समाधान नहीं किया है†।

Critique of Pratical Reason
(व्यावहारिक या नैतिक बुद्धि की समीक्षा)

शुद्ध बुद्धि की गवेषणा करके काण्ट ने स्पष्ट स्पष्ट कर दिया है कि विज्ञानात्मक तत्वमीमांसा संभव नहीं है। तत्त्वमीमांसा में ईश्वर, अमर तथा स्वतन्त्र आत्मा इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। अत:, यदि तत्त्वमीमांसा संभव न हो तो ईश्वर तथा आत्मा के विषय भी जाना नहीं जा सकता है। परन्तु यह निष्कर्ष निषेधात्मक (negative) है और काण्ट का उद्देश्य था कि वे भावात्मक रूप से इन विषयों के विषय कुछ बता सकें। स्वयं काण्ट नीति और धर्म में आस्था रखते थे और इसलिए वे ईश्वर तथा आत्मा के सम्बन्ध में अज्ञेयवादी नहीं रहना चाहते थे। उनके अनुसार यदि ईश्वर तथा आत्मा ज्ञान का विषय न हो, तो हम इनके सम्बन्ध में इनकी वास्तविकता-अवास्तविकता के विषय भी कुछ नहीं कह सकते हैं, अर्थात् यदि ईश्वर की वास्तविकता ज्ञान-सिद्ध नहीं हो सकती है तो अनीश्वरवाद भी सिद्ध नहीं किया

† इस महत्वपूर्ण समसामयिक प्रश्न के सम्बन्ध में देखें C. L. Lewis, 'An analysis of knowledge and Valuation—pp. 158—163 (Open Court publishing Co.); The Journal of philosophy, Vols XLVI, XLVII, 1950. फिर सामान्य रूप से इस प्रश्न पर प्रकाश के लिए देखें B. M. Laing, 'Kant and Natural Science...PHILOSOPHY, Vo. XIX, 1 44. pp 216-232. A J. Ayer, 'Ibid . .11-78,85

जा सकता है; और यदि ज्ञान इनके सम्बन्ध में कुछ नहीं हो सकता है तो विश्वास के लिए रास्ता खुल जाता है कि वह ईश्वर और आत्मा को अपना विषय बनाये। अतः काण्ट की उक्ति है : I was obliged to destroy knowledge in order to make room for faith, विश्वास प्रज्ञा के विरुद्ध नहीं, पर स्वयं प्रज्ञात्मक है क्योंकि यह व्यावहारिक बुद्धि से निकलता है। इसलिए काण्ट व्यावहारिक बुद्धि की समीक्षा के आधार पर ईश्वर और आत्मा को विश्वास का विषय सिद्ध करते हैं।

वैज्ञानिक ज्ञान की समीक्षा करने के लिए काण्ट ने तत्कालीन गणित तथा पदार्थ-विज्ञान की गवेषणा की है। ठीक उसी रीति से नैतिक सिद्धांतों को खोज निकालने के लिए काण्ट नैतिक निर्णयों का विश्लेषण करते हैं। इसलिए काण्ट नैतिक निर्णयों के उदाहरण का संकलन करते हैं, उनके नियमों (laws) की ओर हमारे ध्यान को खींचते हैं और अन्त में उन नैतिक सिद्धान्तों (principles) को प्रमाणित कर दिखाते हैं जो इन नैतिक निर्णयों और उनके नियमों के बीच देखे जाते हैं।

काण्ट की नैतिक समीक्षा में हमें ध्यान रखना चाहिए कि काण्ट का विषय शुद्ध नीति-विज्ञान है, जिस प्रकार से Critique of Pure Reason में उनका विषय शुद्ध पदार्थ-विज्ञान था और काण्ट का कहना था कि physics proper का आधारभूमि में pure physics है, ठीक उसी प्रकार हम कह सकते हैं कि Empirical या Applied Ethics शुद्ध नीति-विज्ञान पर निर्भर करता है और इसलिए हमें शुद्ध नीतिशास्त्र का ही यहाँ अध्ययन करना है। शुद्ध पदार्थ-विज्ञान का निष्कर्ष है कि Understanding gives laws to nature, उसी प्रकार pure Ethics से स्पष्ट होता है कि Reason alone determines moral principles.

यदि हम नैतिक निर्णय के किसी एक उदाहरण को लें तो इससे काण्टीय गवेषणा स्पष्ट हो जायगी। प्रायः, हम कहते हैं कि हमें झूठ बोलना नहीं चाहिए या किसी का उधार नहीं रखना रखना चाहिए। यहाँ काण्ट का कहना है कि नैतिक निर्णय का सम्बन्ध उन घटनाओं से नहीं है जो होती रहती हैं, अर्थात् नीति का सम्बन्ध वास्तविकता (facts) से नहीं, पर आदर्श (ideal) या 'चाहिए' (ought) से है। अतः, Critique of Pure Reason का सम्बन्ध वास्तविकता से था, पर नीति-विज्ञान का सम्बन्ध आदर्श या 'चाहिये'

न्या परम मूल्यों (Values) से है और इसलिये इसके सिद्धान्त भी शुद्ध प्रज्ञा के सिद्धान्तों से भिन्न होंगे* । दूसरी बात है कि जब हम नैतिक निर्णय करते हैं कि 'झूठ नहीं बोलना चाहिए' तो इसे हम सार्वभौमिक रीति से सत्य समझते हैं। फिर जैसे हमें ज्ञात होता है कि हमें झूठ नहीं बोलना चाहिए, वैसे हीं हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है कि हम ऐसा ही करें । काण्ट की यह उक्ति है कि Du Kannst, denn du sollst अर्थात् तू कर सकता है, तो तुझे करना ही चाहिये। अब हम जानते हैं कि सार्वभौमिक तथा अनिवार्य वाक्य केवल प्रागनुभविक होते हैं। अतः, नैतिक निर्णय आनुभविक (empirical) न होकर केवल *a priori* ही हो सकते हैं। पर तीसरी बात नैतिक निर्णय के विश्लेषण से स्पष्ट होती है कि इच्छा-स्वातंत्र्य का रहना आवश्यक है। जब हम कहते हैं कि हमें झूठ नहीं बोलना चाहिए, तो स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ कम-से-कम अन्य पक्ष भी हो सकते हैं, अर्थात् हम मौन भी हो सकते तथा झूठ भी बोल सकते हैं। अतः, इस प्रसंग में कई पक्ष हैं जिनमें से किसी एक पक्ष को हम अपना सकते हैं। इसलिए हमें चुनने की आवश्यकता पड़ जाती है; और चुनने का कोई अर्थ नहीं हो सकता, यदि हममें चुनने की पूरी स्वतंत्रता न हो। अतः, नैतिक व्यापार वह है जिसमें हम स्वतन्त्र रीति से कई पक्षों में से किसी एक हीं पक्ष को अपनाते हैं। इसलिए नैतिक व्यापार को हम स्वतन्त्र व्यापार कह सकते हैं। अब यदि नैतिक कार्य स्वतन्त्र हो तो इसे हम प्रातिभासिक (phenomenal) स्तर से स्पष्ट नहीं कर सकते हैं क्योंकि प्रातिभासिक घटनाओं की व्याख्या केवल कारण-कार्य के नियतिवाद के आधार पर ही की जा सकती है † और स्वतन्त्र व्यापार का उसमें स्थान ही नहीं है। अतः, नैतिक व्यापार की व्याख्या पारमार्थिक (noumenal) सत्ता ही के आधार पर की जा सकती है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक निर्णयों की व्याख्या noumenal Self के a priori laws के ही आधार पर हो सकती है, अर्थात् नैतिक सिद्धान्त व्यावहारिक प्रज्ञा के देन से सम्भव हो सकते और इसके लिए नैतिक नियम जो नैतिक सिद्धांत (principles) से निकलते हैं, सार्वभौमिक ही हो सकते हैं। फिर प्रातिभासिक आत्मा तो पारमार्थिक आत्मा

---

* क्योंकि शुद्ध प्रज्ञा का सम्बन्ध वास्तविक घटनाओं के आधार से है।

† क्योंकि काण्ट के अनुसार वास्तविक घटनाओं की व्याख्या Causal principle से ही हो सकती है

का केवल माध्यम है, इसलिए आनुभविक नियम सापेक्ष होता है (क्योंकि यह तो अपना हेतु नहीं, पर पारमार्थिक (noumenal) सत्ता ही इसका मूलहेतु होता है)। अत:, नैतिक निर्णय निरपेक्ष (Categorical)ही हो सकता है। इसलिए काण्ट के अनुसार नैतिक सिद्धांत की मांग है कि There is nothing in the world, nay, even beyond the world; nothing conceivable which can be regarded as good without qualification saving alone a good will, सत्संकल्प को इसलिए निरपेक्ष रीति से अच्छा कहा गया है क्योंकि अन्य शुभ चीजें सभी दशाओं में शुभ नहीं रह पाती हैं। धन, स्वास्थ्य, विद्या इत्यादि शुभ अवश्य हैं, पर यदि सत्संकल्प न हो तो इनका दुरुपयोग हो सकता है। धन से तथा विद्या से भी दुराचार हो सकता है। उदाहरणार्थ, वकील लोग विद्या-बल से सच को झूठ और झूठ को सच कर देते हैं। पर सत्संकल्प ही ऐसा है जिससे कभी भी दुराचार का भय नहीं हो सकता है। अत:, नैतिक शुभ अथवा औचित्य इसी सत्संकल्प (good will) पर निर्भर करता है।

संकल्प (will) का स्वरूप ही ऐसा है कि इससे किसी न किसी उद्देश्य की पूर्त्ति होती है। तो यहां प्रश्न उठता है कि क्या सत्संकल्प का अच्छापन इसके उद्देश्य-विषय से निर्धारित होता है? यहां काण्ट के अनुसार सत्संकल्प का अच्छापन स्वयं सत्संकल्प की श्रेष्ठता पर निर्भर करता है, न कि परिणाम पर। हो सकता है कि सत्संकल्प का परिणाम बिगड़ जाय, तोभी सत्संकल्प की श्रेष्टता अक्षुण्ण रह जाती है। A good will is good, not because of the consequences which may be frustrated by a niggardly provision of a stepmotherly nature. A good will is good in itself and like a jewel shines by its own light. चूंकि काण्ट परिणाम की भावना को नैतिकता का लक्षण नहीं मानते हैं, इसलिए इनके अनुसार निष्काम कर्म को ही कर्त्तव्य समझा जाता है। इसलिए काण्ट की उक्तियों में भगवद्गीता के आचार-दर्शन की पुनरावृत्ति पायी जाती है। चूंकि सत्संकल्प प्रज्ञात्मक है क्योंकि इसकी शुरूआत व्यावहारिक बुद्धि से होती है, इसलिए सत्संकल्प का शुभत्व (goodness) केवल इसकी प्रज्ञात्मकता पर निर्भर करता है। जो काम केवल सत्संकल्प के ही हेतु हो, वह हमें कर्त्तव्य (duty) मालूम देता है। इसलिए व्यापारों की नैतिकता कर्त्तव्य की कर्त्तव्यता पर निर्भर करती है और इसलिए

नैतिक आचार को नैतिक नियम की श्रद्धा के वश होकर होना चाहिए (A moral act is performed out of the pure regard for the moral law)।

काण्ट के आचार-दर्शन का निष्कर्ष है कि व्यापारों की नैतिकता उनके सत्संकल्प पर निर्भर करती है और सत्संकल्प पारमार्थिक सत्ता तथा आत्मा से निकलता है। पर मानव आनुभविक जीव भी है अर्थात् वह आवेश (impulses) तथा मूलवृत्तियों की तुष्टि चाहता है जिससे उसे सुख (pleasure) मिले। अतः, आनुभविक जीव होने के कारण मानव मूलप्रवृतियों की तुष्टि से सुख-प्राप्ति की इच्छा रखता है और केवल प्रज्ञा के अनुसार संचालित होने पर सुख-इच्छा के कारण नैतिकता के मार्ग से विचलित हो जाने का उसमें आशंका हो जाती है, अर्थात् सख-इच्छा के प्रबल हो जाने पर मानव शुद्ध प्रज्ञात्मक नहीं रह पाता और वह नीतिच्युत हो जाता है। यही कारण है कि मानव में सुख-भाव और नैतिकता के बीच द्वन्द्व मालूम देता है। इसी द्वन्द्व के रहने पर सत्संकल्प की माँग हमें निरपेक्ष आज्ञा के समान प्रतीत होती है और इसके अनुसार की कार्यवाही हमें कर्त्तव्य के रूप में दीखती है। नैतिक विकास का आदर्श है कि हमारा चरित्र इतना निर्मल हो जाय कि हम केवल सत्संकल्प के चलाये ही ऐसा चलें कि हममें सुख की कामना प्रबल न हो पाये।

चूंकि व्यापारों की नैतिकता सत्संकल्प पर निर्भर करती है, न कि सुख प्राप्ति पर और चूंकि सुखभाव की प्रेरणा से नैतिकता के शुभत्व पर धब्बा लग सकता है, इसलिए समालोचकों ने काण्ट के मत को तोड़-मरोड़ दिया है। इन समालोचकों के अनुसार काण्टीय नैतिकता में कर्त्तव्य और सुखभाव के बीच विरोध का रहना अनिवार्य हैं, और इसलिए वे समझते हैं कि काण्ट ने दिखाया है कि कर्त्तव्य को नीरस तथा सुखविहीन होना चाहिए। परन्तु पेटन ने (*) इस मत का खण्डन किया है। काण्ट इस बात को मानते थे कि मानव अपने नैतिक व्यापार में noumenal self होता और सुखभाव से प्रेरित होने पर वह phenomenal या empirical self होता है। चूंकि वह phenomenal सत्ता भी है, इसलिए वह मूलप्रवृत्तियों से संचालित होकर काम करेगा ही और फिर इनकी तुष्टि से उसे सुख होगा ही, और फिर सुखप्राप्ति को काण्ट ने सर्वोच्च शुभ तो नहीं, पर शुभ अवश्य माना है

* The Categorical Imperative 'Hutchinson's University Library), H. J. Paton.

पर काण्ट का कहना है कि व्यापारों की नैतिकता सुखप्राप्ति की मात्राओं से नहीं मूल्यांकित हो सकती है। हो सकता है कि किसी नैतिक व्यापार से सुखप्राप्ति भी हो और सत्संकल्प की भी रक्षा हो। ऐसी हालत में काण्ट के अनुसार नैतिकता केवल सत्संकल्प की रक्षा से आँकी जा सकती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए काण्ट ने ऐसे उदाहरणों को लिया है जिनमें दिखाया है कि कामों की नैतिकता उनके सत्संकल्प पर निर्भर करती है। जैसे, मान लिया जाय कि किसी व्यक्ति का जीवन निराशा से जर्जर हो जाय और जीने से मरना उसे अधिक शांतिदायक मालम दे और तोभी जीवन की रक्षा को वह अपना कर्त्तव्य समझ कर अपने भारमय जीवन को ढोये फिरे, तो काण्ट के अनुसार वह नैतिक कर्त्तव्य करता है। यहाँ हम देखते हैं कि प्राणों की रक्षा करना जीवों का स्वाभाविक गुण है। पर यदि कोई स्वाभाविक प्रेरणा से ही काम करे तो वहाँ प्रातिभासिक कार्य करता है, पर इसे नैतिक नहीं समझा जायगा। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि कर्त्तव्य सुखविहीन हो। पर इतना स्पष्ट अवश्य है कि सुखमय कर्त्तव्य की कर्त्तव्यता सुखभाव से नहीं, पर सत्संकल्प से ही नियन्त्रित होती है। यहाँ काण्ट के सिद्धान्त में कोई दोष देखने में नहीं आता है। यदि हम किसी काम को स्वाभाविक प्रवृत्ति से ही संचालित होकर करें, तो यहाँ 'चाहिए' का कोई अर्थ ही नहीं होता है। खाना-पीना, सोना, जीना इत्यादि स्वाभाविक प्रक्रियाएँ हैं और किसी को कहना कि उसे खाना-पीना या साँस-लेना 'चाहिए' तो उसके लिए 'चाहिए' का कोई अर्थ ही नहीं होता है क्योंकि वह तो ऐसा करता ही है। यहाँ खाने-पीने इत्यादि के अनुसार काम करने के अलावा कोई दूसरा पक्ष नहीं है। पर नैतिक व्यापार में कम-से-कम दो पक्षों को रहना चाहिए जिसमें से किसी एक पक्ष को व्यक्ति स्वतन्त्र रीति से चुनता है। पर चूँकि व्यापारों की नैतिकता मूलप्रवृतियों से नियन्त्रित नहीं होती है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि नैतिक कार्यों को अमूलप्रवृत्तिमय रहना चाहिए। केवल इतना ही काण्ट बोध कराना चाहते थे कि मूलप्रवृत्तियों की प्रियता से नैतिकता नहीं आँकी जा सकती है। वास्तव में उन्होंने 'सुख' को अपनाया है और इसीसे कहा कि यद्यपि सत्संकल्प काम ही निःश्रेयस है, तोभी सम्पूर्ण निःश्रेयस (complete good) में सुख को भी रहना चाहिए। अतः, हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि काण्ट का यह मत नहीं है कि कर्त्तव्यों को सुखविहीन होना चाहिए। फिर काण्ट का यह भी मत नहीं है कि कर्तव्य को भावविहीन होना चाहिए,

क्योंकि उनका कहना है कि सत्संकल्पमय नैतिक नियमों का श्रद्धा से कर्त्तव्य-विष्ठता होनी चाहिये। पर 'श्रद्धा' में भाव का अंश रहता ही है; अतः, कर्त्तव्य को प्रज्ञात्मक भाव, अर्थात् श्रद्धा से नियन्त्रित होना चाहिए।

उपर्युक्त काण्ट के कथन से इतना ही स्पष्ट है कि नैतिक कार्य सत्संकल्प ही के आधार पर होना चाहिए जो मानव के लिए (१) कर्त्तव्य मालूम देता है। अत:, नैतिक व्यापार वह है जिसमें हम कर्त्तव्य कर्त्तव्य के ही हेतु करते हैं। परन्तु duty for the sake of duty शुद्ध नीति विज्ञान का सिद्धांत है। इसलिए इस रूप में असाक्षात् रूप से इसे दैनिक जीवन के आचार में काम में लाया जा सकता है। यही कारण है कि काण्ट के आचार दर्शन को रूपात्मक (formal) कहा गया है। परन्तु रूप के अतिरिक्त आचार में विषय-विशिष्टता (matters) भी पायी जाती है जिसका सम्बन्ध मानव मूल वृत्तियों, वास्तविक घटनाओं तथा कार्यों के परिणाम (Consequences) से रहता है। काण्ट ने दैनिक जीवन के आचार व्यवहार का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उनका आचार-दर्शन शून्यवत् है। प्राय:, आलोचकों ने कहा है कि Good will is a will which wills nothing। काण्ट ने व्यावहारिक आचार-दर्शन के नियमों की समालोचना नहीं की है क्योंकि उनका उद्देश्य था कि आचार-दर्शन के सामान्य सिद्धांतों (principles) की व्याख्या की जाय। इस रूप में उन्होंने सामान्य रीति से बताया है कि किस प्रकार से व्यावहारिक जीवन में सत्संकल्पात्मक आचार को प्राप्त किया जा सकता है। नैतिक आदेश a-priori अर्थात् प्राग्नुभविक ही हो सकता है और इसलिए यह सार्वभौमिक होगा। अत:, जिस भी परिस्थिति में हम किसी व्यापार को करें उसे नैतिक बनाने में हमें ध्यान रखना चाहिए कि अन्य सभी प्राणी भी उसी व्यापार को अपनायेंगे। इसलिए काण्ट की उक्ति है : "Act always as though the maxim of your action should be erected by your will into a universal law" यहाँ 'maxims' से अर्थ है वह सिद्धांत जिसके अनुसार काम किया जाय। यदि कोई ऐसा सिद्धांत हो जिसे

---

१ मानव empirical और noumenal दोनों हैं और उसकी कार्यवाही पूर्णतया noumenal self से ही संचालित नहीं होती है। इससे empirical जीवों को noumenal self की माँग कर्त्तव्य मालूम देती है। परन्तु ईश्वर की कार्यवाही पूर्णतया noumenal self से होती है और ईश्वरीय इच्छा को पवित्र संकल्प (holy will) कहा गया है। शुद्ध नैतिकता केवल पवित्र संकल्प से होती है

सार्वभौम बनाने पर आत्मविरोध हो जाय तो उसे नैतिक नहीं समझा जायगा। काण्ट की इस उक्ति से दो बातें झलकती हैं ; प्रथम, किसी भी सिद्धांत को स्वीकार करने में स्वार्थ को रखकर अपवाद को (exception) नहीं स्थान देना चाहिए, क्योंकि सिद्धांत को सर्वव्यापी रहना चाहिए। फिर उनके अनुसार अनैतिक काम, जैसे झूठ बोलना, धोखा देना इत्यादि सार्वभौम नहीं हो सकते हैं। यदि सभी कोई झूठ बोलने लगे तो झूठ का कोई महत्त्व ही नहीं होगा; और यदि सभी एक दूसरे को धोखा देने लगें तो कोई धोखा भी नहीं खायेगा। इसलिए अनाचार सार्वभौमिक हो जाने पर आत्मविरोधी हो जाता है। व्यावहारिक जीवन में झूठ और धोखे से इसलिए लाभ हो जाता है कि प्राय: लोग सच्चाई और इमानदारी को अपनाये रहते हैं। इसलिए काण्ट ने कहा कि Evil is a parasite on the good. *

फिर काण्ट ने अपने सामान्य सिद्धान्त को इस रीति से भी व्यक्त किया है कि इससे समाज-आचार स्पष्ट हो जाता है। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है: "Act in such fashion that you always treat mankind, as much in your own person as in that of another, as an end, never as a means". चूंकि नैतिक जीव होने के कारण मानव noumenal या पारमार्थिक सत्ता होता है और पारमार्थिक सत्ता वह है जिसके लिये प्रातिभासिक सत्ता साधन हो सकती है, पर जो स्वयं किसी अन्य प्रकार की प्रातिभासिक सत्ता का साधन न हो। अत:, नैतिक मानव पारमार्थिक सत्ता होने के हेतु स्वलक्ष्य है और इसलिए उसे किसी अन्य व्यक्तियों की इच्छा-पूर्ति का साधन नहीं समझा जा सकता है। इसलिए किसी भी नैतिक मानव को साम्राज्य-विस्तार के लिए, या निरंकुश शासन के लिए साधन नहीं बनाया जा सकता है। अत:, काण्ट के अनुसार Totalitarianism, जिसमें व्यक्तिविशेषों की स्वतन्त्रता का हनन होता है, अनुचित समाज-दर्शन है। किसी भी प्रकार की दासता अनैतिक है।

काण्ट को 'प्रज्ञा' पर घमंड था पर जब उन्होंने रूसो की पुस्तकों का अध्ययन किया तो उन्हें स्पष्ट हो गया कि मानव की मानवता उसकी

---

* यह ठीक है कि शुद्ध रूपात्मक सत्यता हो नहीं सकती है। यही कारण है कि अनात्मविरोधीपन की कसौटी से नैतिक निर्णय का औचित्य नहीं जाना जा सकता है। इस प्रसंग में देखें, J. S. Mackenzie, 'Manual of Ethics.'

बुद्धि पर नहीं, किन्तु सत्संकल्प पर ही आधारित रहती है। इसलिए उन्होंने जब यह कहा कि प्रत्येक नैतिक जीव स्वलक्ष्यवान है, तो इससे उन्होंने प्रजातन्त्र (democracy) का सिद्धान्त स्थापित किया है। चूंकि मानव समाज में रहता है और उपर्युक्त कथनानुसार वह एक दूसरे को साधन नहीं बना सकता है, तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि मानव समानाधिकारी होकर एक दूसरे से मिलकर ही काम कर सकते हैं। अतः, उनके अनुसार सत्संकल्पियों का ही प्रजातन्त्र हो सकता है। इसलिए सभी मानव kingdom of ends, अर्थात् noumenal सत्ता के समान भागी होने के कारण भाई-भाई हैं। अतः, काण्ट की उक्तियों से विश्व-प्रजातन्त्र की संभावना टपकती है।

नैतिक जीवन की मान्यता (Postulates)

मान्यता को सिद्धान्त से भिन्न समझना चाहिए। मान्यता वह धारणा है जो किसी अमुक प्रसंग में घटनाओं की व्याख्या के लिए आवश्यक समझी जाय। अतः, नैतिक जीवन की व्याख्या के लिए कुछ धारणायें जिन्हें काण्ट आवश्यक मानते हैं—स्वतन्त्र संकल्प, ईश्वर तथा आत्मा की अमरता काण्ट के लिए नैतिक जीवन की व्याख्या के लिए तीन मान्यतायें हैं। इन तीनों को काण्ट ने शुद्ध प्रज्ञा की भावनायें (ideas) भी कहा है जिसका उल्लेख Transcendental Dialectic में हो चुका है। अतः, सैद्धान्तिक बुद्धि का निष्कर्ष तो यही है कि इन धारणाओं को ज्ञान का विषय नहीं माना जा सकता है। ये केवल कोरी भावनायें हैं और उनके अनुरूप कोई प्रत्यक्ष है नहीं, जिससे इन्हें ज्ञातव्य माना जाय। परन्तु ज्ञान की सीमा, विचार (thought) की सीमा नहीं है। बहुत कुछ जो जाना नहीं जा सकता, वह सोचा जा सकता है। अतः, स्वतन्त्र तथा अमर आत्मा तथा परमात्मा भी विचार के विषय हो सकते है, यद्यपि इनके विषय 'ज्ञान' संभव नहीं है। परन्तु यदि नैतिक जीवन की व्याख्या के लिए इनका होना या रहना हमारे लिए तो आवश्यक मालूम दें तो उन्हें आवश्यक मान्यतायें समझकर ग्रहण कर लेना चाहिए। अतः, यद्यपि हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कह नहीं सकते हैं कि हम जानते हैं कि आत्मा अमर तथा स्वतन्त्र है तोभी हमें अपने नैतिक जीवन को वास्तविक मान लेने पर इस विश्वास के साथ काम करना पड़ेगा कि जिसमें ये वास्तविक मालूम दें। इसलिए नैतिक जीवन में हमें सोचे रहना चाहिए कि मावों आत्मा स्वतन्त्र और अमर है, और ईश्वर

वास्तविक सत्ता है। अतः, आत्मा की स्वतन्त्रता, अमरता तथा ईश्वर की वास्तविकता विश्वास का विषय है, पर ज्ञान का नहीं। परन्तु इन्हें विश्वास का विषय पुकारने पर हम इन्हें मनगढ़न्त कल्पना नहीं समझ सकते है।

आत्मा की स्वतन्त्रता:—यद्यपि काण्ट ने आत्मा की स्वतन्त्रता, अमरता तथा ईश्वर की वास्तविकता को मान्यतायें कहा है तो भी इनका स्थान समान नहीं है। आत्मा की स्वतन्त्रता प्रमुख मान्यता समझी गयी है और इसकी तुलना में आत्मा की अमरता तथा ईश्वर की वास्तविकता को गौण ही समझा जायगा। सैद्धान्तिक प्रज्ञा की समीक्षा में काण्ट ने दिखाया है कि बिना नियतिवादी कारण-कार्य की मूलधारणा को काम में लाये हुए वैज्ञानिक ज्ञान सम्भव नहीं है। इसलिए यदि कोई भी मनोवैज्ञानिक ज्ञान आत्मा के विषय संभव हो तो उसे भी कारण-कार्य की श्रृंखला में आबद्ध होना चाहिये। अतः, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मानव की भी प्रक्रिया स्वतन्त्र नहीं समझी जा सकती है। परन्तु काण्ट ने यह भी इस प्रसंग में बताया है कि मानव phenomenal या प्रातिभासिक तथा पारमार्थिक (noumenal) दोनों सत्ताओं का समभागी जीव हो सकता है। इसलिए आत्मा की प्रक्रियायें phenomenal दृष्टिकोण से नियतिवादित तथा noumenal दृष्टिकोण से स्वतन्त्र मानी जा सकती हैं, अर्थात् आत्मा की स्वतन्त्रता बिना वैज्ञानिक आदर्श से मेल खाये मान्य समझी जा सकती हैं। ऐसी दशा में इसे इसलिए और भी स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि बिना आत्मा की स्वतन्त्रता माने हुए नैतिक जीवन की व्याख्या नहीं हो सकती है। परन्तु नैतिक जीवन भी अपनी वास्तविकता रखता है। अतः, आत्मा की स्वतन्त्रता हमारी आवश्यक मान्यता है, यद्यपि इसे ज्ञान का विषय नहीं पुकारा जा सकता है।

यदि मानव की स्वतन्त्रता हम स्वीकार न करें तो इसका अर्थ होता है कि उनके सभी कार्य नियतिवाद से जकड़े हुए रहते हैं। यदि सभी प्रक्रियायें पूर्व कारणों से ही बाध्य हों तो झूठ बोलने या चोरी करने की प्रक्रिया भी अपने पूर्व कारणों से बाध्य होंगी। अतः, झूठे तथा चोर को हम यह नहीं कह सकते हैं कि उसे सच तथा ईमानदारी का व्यापार करना चाहिए था क्योंकि नियतिवाद के अनुसार उसके लिए झूठ तथा चोरी के अतिरिक्त कुछ दूसरा पक्ष है ही नहीं। जैसे, नियतिवाद को अपनाते हुए स्पिनोजा ने कहा है कि मानव व्यापार अपने पूर्व कारणों से वैसे ही नियन्त्रित होते हैं जैसे पत्थर की परिक्रमा-गति उसके पूर्व कारणों से नियन्त्रित होती है। परन्तु यदि मानवों की सभी प्रक्रियायें

नियतिवाद से बँधी हुई हों, तो उनके व्यापारों को हम उसी प्रकार अच्छा-बुरा नहीं कह सकते हैं जिस प्रकार निर्जीव पत्थर इत्यादि की प्रक्रियाओं को हम भला-बुरा नहीं कह सकते हैं। यदि किसी छुरे से किसी की मृत्यु हो जाती हैं तो हम छुरे को जेल या फांसी नहीं देते हैं, क्योंकि हम समझते हैं कि छुरे की प्रक्रिया नियतिवाद से संचालित होती है। अतः, यदि मानव प्रक्रियायें भी छुरे या पत्थर के समान हों तो उन्हें भी हम अच्छा-बुरा नहीं कह सकते हैं। यद्यपि स्पिनोजा ने वास्तव में बहुत कुछ अंशों में मानव व्यवहार को बुरे-भले के भाव से परे कहा है तोभी अनेक अन्य विचारक इस बात को नहीं स्वीकार करेंगे। इसलिए यदि मानव व्यापार अच्छे-बुरे कहे जा सकते है तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि वे नियतिवाद से नहीं, पर वे मानव-स्वतन्त्रता से संचालित होते हैं। इस अर्थ में आत्मा की स्वतन्त्रता नैतिक जीवन की आवश्यक मान्यता है।

आत्मा की अमरता:—काण्ट के अनुसार शुद्ध नैतिक कार्य की नैतिकता सत्संकल्प से हीं सही रीति से मूल्यांकित हो सकती है। पर मानव phenomenal जीव भी हैं, अर्थात् उसके अन्दर पाशविक वृत्तियाँ भी हैं जिनकी संतुष्टि से वह सुखप्राप्ति की भी इच्छा रखता है। अब किसी भी देहधारी के लिए अत्यन्त कठिन हो जाता है कि वह शुद्ध सत्संकल्प से ही संचालित हो। phenomenal आत्मा की सुख-प्राप्ति की इच्छा उसे सत्संकल्पी रहने से बराबर खींचती रहती है। यह phenomenal self की खींचतान ऐसी नहीं है जो इस जीवन में ही दूर की जा सकती है। अनेक जीवनों के कठिन तप से यह सम्भव हो सकता है कि मानव अपनी पाशविक वृत्तियों तथा सुख-इच्छा की प्रवृत्ति पर विजयी होकर ऐसा उज्ज्वल जीव हो जाय कि उसके आचरण में केवल सत्संकल्प की ही बू टपके। अतः, नैतिक जीवन कि ऐसी समस्या है जिसे इस जीवन के बाद अवसर मिलने पर ही मानव पूर्णतया समाधान कर सकता है। अतः, नैतिक जीवन की माँग है कि मानव अपने को अमर समझकर अपने नैतिक कर्त्तव्यों का पालन करता जाय।

यहाँ काण्ट की युक्ति न तो संतोषजनक मालूम देती और न पर्याप्त ही है। यह आवश्यक नहीं है कि नैतिकता जीवन की माँग व्यक्ति विशेषों में पूरी होती जाय। इतना ही भर कहा जा सकता है कि मानव निष्काम भाव से अपना कर्त्तव्य पालन करे। यदि कोई व्यक्तिविशेष इस जीवन में पूर्णतया

कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकता है तो कम-से-कम वह इस समस्या को अपने बाद के आनेवाले व्यक्तियों के लिए छोड़ देता है कि वे उसकी बतायी हुई लीक को आगे बढ़ायें। अतः, यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्तिविशेष जन्म जन्मान्तरों के बाद ईश्वर के समान पूर्ण हो जाय। फिर काण्ट ने इतना ही भर सिद्ध किया है कि मानव को एक नहीं, पर अनेक जीवनों की आवश्यकता है। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि मानव अमर है। परन्तु शायद काण्ट इस बात को सिद्ध करना चाहते थे कि वही अमर है जिससे पूर्ण नैतिकता प्राप्त कर ली है, क्योंकि मोक्ष प्राप्त, निर्वाणी वास्तव में अमरता का पान करता है।

ईश्वर का अस्तिव—काण्ट के अनुसार मानव लक्ष्यवेधी जीवि-पदार्थ (organism) है और इसके प्रत्येक अंग की कार्यवाही ऐसी है कि इससे जीवपदार्थ की सम्पूर्णता में लाभ पहुँचता है। मानव में उसकी प्रज्ञा भी एक आवश्यक अंग है और सभी अंगों के समान यह भी अपने विशेष कार्य के लिये पूर्णतया उपयुक्त है। अब नैतिक जीवन की मांग है कि उसकी प्रज्ञा (reason) केवल सत्संकल्प की संरक्षा करे। परन्तु सत्संकल्प की रक्षा करने से कर्त्तव्य का पालन तो होता है, पर इससे प्रेय या सुख प्राप्ति नहीं होती है। अब यह हो ही नहीं सकता है कि मानव के किसी अंग की प्रक्रिया अपने लक्ष्य प्राप्ति में अनुपयुक्त हो। अतः, प्रज्ञा का उद्देश्य सुख नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रज्ञात्मक नैतिक जीवन में पुण्य-धर्म (Virtue) संभव है, कर्त्तव्य-परायणता में सुख विशेष रीति से नहीं पाया जाता है। प्रायः देखा जाता है कि अधर्मी तथा नीतिच्युत व्यक्ति भोग करते हैं और आचारवान व्यक्तियों को कष्ट भोगना पड़ता है। पर सुख भी मानवों का उद्देश्य है। अतः, यद्यपि कर्त्तव्य और सुख में किसी प्रकार का अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है, तोभी कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति ही सुख-भोग का सुयोग्य पात्र समझा जा सकता है। अतः, सुख और कर्त्तव्य को समन्वित करने के लिए अवश्य ही किसी परम न्यायाधीश की आवश्यकता प्रतीत होती है, जो पुण्यात्माओं को उनके पुण्य के अनुसार और दुरात्माओं को उनके दुराचार के अनुसार फल दे। इसलिए काण्ट के अनुसार ऐसी परम सत्ता जो प्रत्येक व्यक्ति के किये अनुसार फल दे, नैतिक जीवन की आवश्यक मान्यता होनी चाहिए।

काण्ट की उपर्युक्त युक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि वे प्रेय को अभीष्ट समझते थे, पर वे इसे नैतिकता का मापदंड नहीं समझते थे। परन्तु नैतिक न्यायाधीश के रूप में ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण दुर्बल मालूम देता है।

यदि कर्त्तव्य और सुख के बीच अनिवार्य सम्बन्ध न हो, तो इन्हें मिलाने के लिए ईश्वर की पूर्वकल्पना या पूर्वस्थापना (hypot esis) को Deus ex machina का दोष कहा जायगा।

काण्ट ने Critique of Pure Reason के निष्कर्ष को Practical Reason में खंडित नहीं किया है, पर इसकी कठोरता और एकांगीपन को दूर करने की कोशिश की है। उन्होंने विज्ञान को आचरण से कम महत्व का समझा है। मानव की मानवता उसकी विद्या में नहीं, पर उनके सत्संकल्पात्मक प्रक्रियाओं पर आधारित होती है। इसीसे रूसो के प्रभाव में आकर काण्ट ने Democracy of good wi ls को बड़ा स्थान दिया है।

अतः, नैतिक जीवन की माँगों को ठुकराया नहीं जा सकता है। इसलिए यद्यपि ईश्वर, अमर तथा स्वतन्त्र आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता है तोभी इन्हें कोरी कल्पना नहीं माना जा सकता है। इसी से कहा गया है कि In his Critique of Practical Reason, Kant has modified the conclusions of his Transcendental Dialectic.

———

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. Explain the nature of Philosophy.

इसके उत्तर के लिए देखें 'विश्व-दर्शन का स्वरूप', पृ० ६-२०

2. Is Philosophy science or art or both or none?

दर्शन को विज्ञान नहीं कहा जा सकता है, यद्यपि बिना विज्ञान के इसका पूर्ण विकास भी नहीं हो सकता है (देखें पृ० ९-१४)। इसे साधारण अर्थ में कला भी नहीं कहा जा सकता है। दर्शन intllectual art है जिसमें विज्ञान और कला दोनों को स्थान दिया जा सकता है (देखें पृ० १६-२०।

3. Point out the uses of studying 'The history of Philosophy'. (देखें पृ० २०-२३)

4. What are the characteristics of 'Modern Philosophy' (देखें पृ० २४-२७)

5. What do you mean by the term 'rationalism'? (देखें पृ० २७-३४). Why are Descartes, Spinoza and Leibniz called rationalist? देकार्त को बुद्धिवादी पुकारने के कारण के लिए (देखें पृ० ८२-८३)। चूंकि स्पिनोजा भी गणितिक ज्ञान को सभी ज्ञान की कसौटी समझते थे, इसलिए उन्हें बुद्धिवादी कहा गया है। यही कारण है कि स्पिनोजा की विधि ज्यामितिक है और उनके दर्शन में बौद्धिक निगमनात्मक निष्कर्षों का विशेष स्थान है (देखें पृ० ९०-९६) (९०-९४)। देकार्त और स्पिनोजा के समान लाइबनित्स भी गणित से प्रभावित थे और ज्ञान के प्रत्ययों को आत्मजात मानते थे। इन सब बातों की वजह से उन्हें बुद्धिवादी कहा जाता है (देखें पृ. १३९)।

6. What are the main tenets of Empiricism? (पृ० ३४-३९). Explain them with reference to Locke, Berkeley and Hume.

यहाँ उद्धृत लोक की उक्ति, बर्कले का कथन तथा ह्यूम की उक्ति (३६) के देने से उत्तर में बल चला आयेगा।

7. Explain Bacon's Inductive Method (पृ० ३९-४९) Is it really scientific induction? (पृ० ४७-४९)।

8. To what extent did Bacon's doctrine of 'Idolas' anticipate the critical philososhy of Kant ?

यहाँ 'Idolas' के संक्षिप्त विवरण के लिए (देखें पृ. ४१-४३)। फिर अन्तिम भाग के लिए (देखें पृ. ५१)

9. Why is Bacon regarded 'as the father of Modern Philosophy' ? बेकन को आधुनिक दर्शन का आदि-पिता इसलिए कहा जाता है कि समझा जाता है कि उन्होंने दर्शन में नयी विधि दी, अनुभववाद की नींव डाली और उपयोगितावाद (utilitarianism) की झलक दिखायी है। (देखें पृ० ५०-५२)।

10. Explain the Cartesian method of Philosophy ? (पृ० ५४-५७). Is it deductive or inductive or both ? देखें पृ० ६५)।

11. Critically examine Descartes' *Cogito ergo sum* and indicate its bearing on Hume and Kant's transcendental philosophy. 'Cogito ergo sum' की व्याख्या के लिए (देखें पृ० ६०—६४)।

ह्यूम ने दिखाया है कि हम किसी भी स्थायी द्रव्य को नहीं जान सकते है और इसलिए हम अपनी स्थायी द्रव्य-रूप आत्मा को भी नहीं जान सकते हैं। इसलिए उन्होंने स्थायी द्रव्य-रूप आत्मा की आलोचना की है (देखें पृ०)।

देकार्त और ह्यूम से प्रभावित होकर काण्ट ने दिखाया है कि हम अपनी स्थायी द्रव्यात्मक आत्मा को नहीं जान सकते हैं। परन्तु यद्यपि द्रव्यात्मक स्थायी आत्मा प्रत्यक्ष का विषय नही हो सकती है तभी ज्ञान-अर्जन मे इसे मुख्य प्रत्यय समझना चाहिए। Synthetic unity of apperception को काण्ट ने understanding (समझ) का सर्वोच्च प्रत्यय माना है (देखें पृ० २९६-२९९)।

12. Examine the proofs offered by Descartes for establishing the existence of God. (देखें पृ० ६६-७२)।

13. What Descartes' criterion of Truth ? (देखें

पृ० ६४-६६) । How does he derive it from *Cogito ergo sum* ? (देखें पृ० ६४) ।

14. Explain Cartesian dualism. How does he explain the relation between Mind and Body ?

(देखें पृ० ७५-७८), अति संक्षेप में ही द्वैतवाद की व्याख्या करनी चाहिये, अर्थात् प्रत्येक बात को केवल छू देना चाहिए). मन-शरीर की व्याख्या के लिए (देखें पृ० ७५-७८) ।

15. Explain the doctrine of error, according to Descartes. (देखें पृ० ७८-८०) ।

16. Can we say that Descartes is the legislator of Modern philosophy ? इस प्रश्न का वही अर्थ होता है जो देकार्त को 'आदिपिता' पुकारने से समझा जाता है । (देखें पृ० ८०-८५) ।

17. Describe the Geometrical Method of Spinoza and trace its effects upon his philosophy.

(देखें पृ० ८८-८९ तथा ९०-९५) ।

18. Characterise the monism of Spinoza and give a critical estimate of it. (देखें पृ० ९६-९९, १०७, ११०, ११८ १२०) ।

19. Explain Spinoza's theory of Attributes. If 'every determination is negation,' how can Substanceh have attributes ? देखें पृ० ९५-१०७

20. Explain fully Spinoza's conception of Substance. How are Attributes related to Substance in Spinozism ? (देखें पृ० १०७-११०) । फिर गुण की परिभाषा देकर (पृ० ९९-१०३) के विषय को संक्षेप में आलोचनात्मक रीति से लिखें ।

21. Explain Spinoza's doctrine of Bondage and Freedom, पृ० ११३-११९) । Is it consistent with his pantheism ? (पृ० १२०-१२३) ।

22. What are the stages of knowledge, according to Spinoza ? Point out the importance of 'amor

intellectualis dei' in his Ethics (पृ० ११०-१११, ११५-११७ और १२२-१२३)।

23. Can we say that Spinoza is Descartes made consistent? प्रारम्भ में ही लाइबनित्स ने कहा था कि 'Spinoza cultivated certain seeds of Descartes's Philosophy' इसी मत को वेअर्ड और रसेल ने भी अपनाया है। इसके पूर्ण उत्तर के लिए देखें (पृ० ८७-८९)।

24. Distinguish between 'finite and infinite modes' of Spinoza. How are they related to Substance? देखें पृ० १०३—१०५) सीमित और असीमित प्रकार की अपनी सत्ता स्पिनोजा के शून्यवाद में नहीं रहती है। They are the ever-vanishing waves that perpetually die. अतः देखें (पृ० १०५-१०७)।

25. Explain Leibnitz's theory of Monads. How does this theory reconcile the claims of Democritus and Plato? पृ० १२६-१३२। लाइबनित्स के मोनडवाद में अनेकत्व है जो डेमोक्रिटस का सिद्धांत था, फिर मोनड आध्यात्मिक चिद्बिन्दु हैं जो प्लेटो के प्रत्ययवाद से मेल खा जाता है। ईसलिए मोनडवाद में डिमोक्रिटस के अनेकत्व तथा प्लेटो के प्रत्ययवाद दोनों की संरक्षा होती है।

26. How far does Leibnitz succeed in combining the mechanical with the teleological view of the world? Give a critical estimate of the Pre-established Harmony. (देखें पृ० १३१-१३९)।

फिर Pre-established Harmony के लिए (देखें पृ० १३१-१३५)।

27. How did Leibnitz explain 'evil' and prove that God created the best possible world? (पृ० १४२-१५१)।

28. What was Leibnitz's conception of God? Compare his idea of 'God' with that of Spinoza. (देखें पृ० १४२-१५१, १५१-१५३)।

29. 'Monism must be pantheistic and monadism must be atheistic'. Discuss this statement with reference to the systems of Spinoza and Leibnitz.

यदि सत्ता या द्रव्य एक ही हो तो स्पिनोजा ने दिखा दिया है कि इसे सर्वेश्वरवाद हो युक्तिसंगत रूप से कहा जायगा (देखें पृ० १०७-१०९)। यदि Monads शाश्वत सत्ताएँ हैं तो ईश्वर उनका रचयिता नहीं हो सकता है और अन्त में ईश्वरवाद के ईश्वर का इस मोनडवाद में स्थान सुरक्षित नहीं रह पाता है (देखें पृ० १३४-१३५, १४७-१४८)।

30. 'Leibnitz abounds in ingenious distinctions, but never succeeds in reconciling them." Discuss this statement with reference to Mechanism—Teleology, Empiricism—Rationalism and Determinism—Freedom. (देखें पृ० १३७-१३९, १३९-१४१, १५१-१५२)।

31. Give a clear exposition of Leibniz's theory of knowledge. (पृ० १३९-१४७)

32. Explain the relation between Mind and Body, according to Descartes, Spinoza and Leibnitz Which one theory do you accept and why ?

देकार्त parallelism and interactionism के बीच निर्णय नहीं कर पाये हैं और उनका सिद्धांत occasionalism में परिणत हो जाता है। स्पिनोजा समानान्तरवाद को अपनाते हैं और लाइबनित्स पूर्वस्थापित छन्द का सहारा लेते हैं। किसी भी व्याख्या को संतोषजनक नहीं समझा जा सकता है क्योंकि मन और देह पृथक-पृथक सत्ताएँ नहीं हैं। वास्तविक सत्ता है मन—देह और इसलिए उन्हें बनावटी दो स्वतन्त्र सत्ताओं में विभाजित कर लेने पर कोई भी व्याख्या सतोषजनक नहीं हो सकती है।

33. Is the Ultimate Substance one or many ? Discuss this with reference to the philosophy of Spinoza and Leibnitz.

परम सत्ता न तो एक है और न अनेक। यह है एक में अनेक। स्पिनोजा एक सत्तावादी होने के कारण आंशिक रूप से एक ही पक्ष का प्रतिपादन करते

हैं और लाइबनित्स अनेकत्व को आंशिक रूप में ही अपनाते हैं। स्पिनोज़ा विशिष्टता की व्याख्या न कर शून्यवादी हो गये हैं और लाइबनित्स दर्शन में एकता न लाकर मनगढ़न्त पूर्वस्थापित छन्द की मदद लेते हैं।

34. How has Locke refuted the doctrine of innate ideas? (पृ० १५६-१५८)।

Has he succeeded in doing so? पहली बात यह है कि जिस अर्थ में लौक ने innate ideas को लिया है उस अर्थ में किसी ने इस सिद्धान्त को नहीं अपनाया है (पृ० १५६-१५८)। आगे चलकर innate ideas को मूलधारणाओं (categories) के अर्थ में काम में लाया गया है और इस अर्थ में लौक का अनुभववाद उसका खंडन नहीं कर पाया है। देखें Categories की आवश्यकता (पृ० १६३-१६६)। स्वयं लौक ने Substance, Causality को काम में लाया है और फिर उनकी अनुभववादी व्याख्या आप नहीं दे पाये हैं (देखें पृ० १६४-१६५, १६६-१७०)। अतः, जिस अर्थ में देकार्त या आगे चलकर लाइबनित्स तथा काण्ट ने innate ideas को समझा है उस अर्थ में लौक उनका खण्डन नहीं कर पाये हैं। फिर लौक का 'खण्डन' मन को केवल चेतनमय मानकर किया गया है। पर मन अचेतन और अर्धचेतन भी है। इस कारण से भी innate ideas का खण्डन संतोषजनक नहीं समझा जायगा।

35. Explain Locke's *tabula rasa* theory of mind and show how it was attacked by Leibniz?

(देखें पृ० १५८-१६१)। लाइबनित्स ने मन को सक्रिय तथा प्रवैगिक माना है और इस दृष्टिकोण से लौक ने मन की आलोचना की है (देखें पृ० १३६-१४१)।

36. Show how Locke received the problem of knowledge from Descarates and passed it on to Leibnitz.

लौक की ज्ञान-मीमांसा के दो मुख्य खंड है, अर्थात अभावात्मक और भावात्मक। नकारात्मक रीति से उन्होंने innate ideas के सिद्धान्त का खंडन किया है और इस खंडन में उन्होंने देकार्त के "innate ideas' को तो नहीं, पर उनसे प्रभावित मत का अवश्य खंडन किया है। अतः, लौक

'innate ideas' के खण्डन में देकार्त की ज्ञान-मीमांसा से प्रभावित हुए थे। लाइबनित्स ने लोक के खण्डन को स्वीकार नहीं किया है और लोक की ज्ञान-मीमांस की आलोचना की है (देखें पृ० १३९-१४१)। अतः देकार्त, और लाइबनित्स की ज्ञान-मीमांसा शृंखलाबद्ध है जिसमें लोक मध्य कड़ी हैं।

37. Explain that according to Descartes *some*, according to Locke *none*, and, according to Leibnitz, *all* ideas are inntae, 'देखें पृ० ८२-८३, लोक ने सभी आत्मजात प्रत्ययों का खण्डन करके माना है कि कोई भी प्रत्यय आत्मजात नहीं है, पृ० १५६-१५८, और लाइबनित्स ने माना है कि सभी प्रत्यय आत्मजात हैं, (पृ० १३९-१४१)।

38. Explain Locke's theory of ideas. Was he a consistent empiricist ? (पृ० १५८-१६०, १६१)। लोक संगत रीति से अनुभववादी नहीं थे क्योंकि उन्होंने अनुभवातीत द्रव्य, कारण-कार्य को स्वीकार किया था। फिर संवेदनमय ज्ञान को ज्ञान नहीं माना और ज्ञान के आदर्श को बुद्धिवाद पर आधारित रखा है (पृ० १६८-१७३, १८१)।

39. If the *esse* of a thing consists in its *percipi*, then how does Berkeley explain the externality and permanence of things ? यदि वस्तुएं प्रत्यय-मात्र हों ? और प्रत्यय मानसिक हों, तो वस्तुओं का स्थायित्व किस प्रकार सिद्ध किया जाय ? पृ० २०२-२०४)।

40. How does Berkeley refute the notion of matter ? (देखें पृ० १८५-१८७ १९१-१९४)।

41. Is Berkeleys' refutation of matter an enterprise in ontology or epistemology ?

प्राय:, बर्कले के दर्शन को अध्यात्मवाद कहा गया है। इस अर्थ में उन्होंने भौतिकवाद की समालोचना की है (पृ० १८५-१८९, १९१-१९४) पर समसामयिक आलोचना यह सिद्ध करना चाहती है कि बर्कले ने केवल जड़ सम्बन्धी प्रत्यय का विश्लेषणमात्र किया है। यदि बर्कले ने केवल जड़ प्रत्यय का विश्लेषण किया है तो उन्होने यही दिखाया है

कि हम किस प्रकार से 'जड़' शब्द को संगत रूप से काम में ला सकते हैं और यह प्रयास ज्ञान-मीमांसा कहा जायगा, न कि तत्वमीमांसा का। देखें Russell, B. 'A history of Western Philosophy'; फिर देखें British Empirical Thinker,' Ed. Prof. A. j. Ayer.

42. To arrive at Spiritualism all that Berkeley had to do was to efface the distinction between Primary and Secondary qualities. Has he been successful in doing so ?

देखें पृ० १८९-१९१। परन्तु अध्यात्मवाद की स्थापना में बर्कले ने कई प्रकार के तर्क की मदद ली है और प्राथमिक-अप्राथमिक गुणों के भेद के खंडन को केवल एक, न कि सम्पूर्ण तर्क माना जायगा।

43. Is mind or spirit an *idea*, according to Berkeley ? How do we know other spirits and God, according to Berkeley ? (देखें पृ १९७-२०२)।

44 Is Berkeley's idealism subjective or objective ? Discuss. (पृ० २०५-२०९)।

45. Is it true to say that the essence of a thing consists in its being perceived ? Does *isse est percipi* form the foundation of idealism ?

(१८३-१८४,१९६)

बर्कले ने 'प्रत्यक्ष-प्रक्रिया' का सही विश्लेषण नहीं किया है। फिर पेरी ने esse est percipi को अध्यात्मवाद तथा प्रत्ययवाद की आधारशिला माना है (देखें, R. B. Perry, *Present Philosophical Tendencies*' Sections 8-10)। परन्तु विषयगत प्रत्ययवाद मनोवैज्ञानिक प्रत्यय पर नहीं पर तार्किक प्रत्ययों पर आधारित है। फिर बर्कलीय प्रत्ययवाद में धार्मिकता की बू है जो प्रत्ययवाद में आवश्यक नहीं है।

46. Explain the sensationistic atomism of Hume. Is it adequate for a sound epistemology ? (पृ० २०९-२१४)।

47. Show how Hume's analysis of experience leaves no ground for belief in any permanent reality, whether physical or psychical.

यदि हम ह्यूमी आणविक सवेदनाओं को ज्ञान-मीमांसा की मूल आधार-शिला मान लें, तो द्रव्य-ज्ञान सभव नहीं होता है। (देखें पृ० २०६-२११ २१६-२१८)।

48. How does Hume criticize the *apriori* notion of causality ? Explain fully his own theory of causality.

देखें पृ० २२८-२३० और ह्यूम के विचार के लिए (देखें पृ० २२०-२२१)।

49. "The scepticism of Hume was the logical outcome of the empirical trend of thought that began with Locke". Explain

यहाँ पहले द्रव्य, कारण-कार्य तथा ज्ञान के स्वरूप तथा सीमा के सम्बन्ध में लौक का विचार देना चाहिए। फिर द्रव्य तथा कारण-कार्य के सम्बन्ध में बर्कलीय संदेह का प्रकाशन। अन्त में, ह्यूम के विचारों को इनके सम्बन्ध में दिखाना चाहिए।

50. Must empiricism end in scepticism ? Show this with refrence to Hume.

यथार्थ वस्तुओं का ज्ञान अनुभव के द्वारा अनिवार्य रीति से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। पर अनिवार्य ज्ञान का आदर्श ही निराधार है। विज्ञान के लिए संभाव्य ही ज्ञान प्रर्याप्त है और अनुभव के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है (देखें पृ० १२८-२२९, Language truth and Logic A. J. Ayer-100)

51. Compare Hume's analysis of Causality with that of Kant. Which do you prefer and why ?

ह्यूमी व्याख्या के लिए (देखें २१९-२२०)। (अति संक्षेप में लिखना चाहिये)। फिर ह्यूम के 'विश्लेषण' की समालोचना के लिए देखें काण्ट का दर्शन ३१८-३२१।

काण्टीय युग के दृष्टकोण से काण्ट का समाधान समीचीन था, पर आधुनिक काल में ह्यूम के मत को विशेष प्रश्रय दिया जाता है।

52. Was Hume a sceptic ? If not, then what is his positive contribution to Philosophy !

देखें २२४-२२६, फिर २२८-२२६ पृ० (अन्त)। इस विषय पर रसेल और एर के मत को भी जानना आवश्यक है जिसे इस पुस्तक में केवल छू दिया गया है।

53. Has Kant succeeded in reconciling the rival claim of Empiricism and Rationalism in his criticle philosophy ?

यहां पहले व्याख्या करें (पृ० २३६-२४५; फिर देखें २४८-२५१)। काण्टीय दर्शन का सहारा मान लेने पर तो काण्टीय सुझाव समीचीन मालूम देता है।

54. What was the problem of Kant and how has he answered it ?

यह प्रश्न अति सामान्य है और इसकी व्याख्या भी सामान्य रीति से होनी चाहिए (२४०-२४५)।

55. How has Kant explained 'synthetic judgments a *priory* ? Point out the importance of such judgements for the solution of his problem. (पृ० २५१-२६५)।

56. Explain as to what Kant meant by calling his philosophy 'Copernican revolution'. Has he not been Ptolemaic in as much as he emphasized the legislative function of human mind ? (पृ० २४३-२४५)।
कोपर्निकसीय आन्दोलन से काण्ट ने अपनी देन की नवीनता को बताना चाहा है। उनका अर्थ यह नहीं था कि वे वस्तुवादियों की भांति वस्तुओं की निजी स्वतन्त्रता को स्वीकार करें। ज्ञान-मीमांसा के दृष्टिकोण से उन्होंने पृथ्वी-केन्द्रित मानवों की ही महत्ता स्वीकार की है जो टोल्मी के सिद्धान्त से मेल खाता है।

57. Why is Kant's philosophy called 'Critical' ? Point out its importance in epistemology. (२३९-२४२, २४६-२४७) । इसमें अनुभववाद और बुद्धिवाद का समन्वय होता है और आगे चलकर इसके आधार पर वैज्ञानिक ज्ञान का सही विश्लेषण संभव हो पाता है । आज भी काण्ट की categories—विषयक देन महत्वपूर्ण है ।

58. Explain Kant's proofs for showing that Space and Time are *a priori* forms of perception (२७७-२८०)।

59. How has Kant shown that synthetic judgments *a priori* are possible in Mathematics ? यहां दिखाना है कि Space और Time प्रागनुभविक हैं और फिर उनकी Transcendental व्याख्या करें । (२६६-२६८) ।

60. What does Kant understand by Categories ? How does he discover them ? (२९१-२९३) ।

61. Give the gist of the central teaching of Kant's Transcendental Analytic., २८६-२९१ ।

62. Explain Kant's theory of 'Schematism' and 'Analytic of principles.' २९९-३०२ ।

63. Explain Kant's distinction between 'phenomenon' and 'noumenon.' Is he justified in retaining the notion of 'things-in-themselves' ? ३०२-३०४ ।

64. Explain that, according to Kant, Physics is but Metaphysics is not possible. ज्ञान की अति सामान्य व्याख्या देकर Transcendental Dialectic के विषय लिखें पृ० २८८-२९०,३०३-३०५ ।

65. How far does Kant agree with Hume in the criticism of 'Cogito ergo sum' ? Explain Kant's doctrine of 'synthetic unity of appreception'. (पृ० २९६-२९९, ३०६, ३०७,३०७ ३०८) ।

66. Has Kant succeeded in destroying Descartes's ontological argument for proving God ? पहले देकार्त के प्रमाण की संक्षिप्त व्याख्या करें। तब काण्ट की समालोचना दें (३१३ ३१५)।

67. Give a gist of Kant's critique of practical Reason'. पृ० ३१३-३३१।

68. "Like a juggler out of an empty hat, Kant draws out the concept of duty or God, immortality, and freedom—to the great surprise of his readers." Explain this remark.

(यहाँ नैतिक जीवन की मान्यताओं की व्याख्या करें, (३३१-३३५)।

69. Show that the sceptical result at which Kant arrives in the critique of Pure Reason is essentially modified in the critique of Practical Reason. नैतिक जीवन की मान्यताओं को स्वीकार कर लेने पर अतीन्द्रिय सत्ता को मान लिये जाने पर काण्ट का अज्ञेयवाद विनम्र हो गया है। सर्व प्रथम, काण्ट के अज्ञेयवाद की व्याख्या की जाय और तब आत्मा की स्वतंत्रता, उसकी अमरता और ईश्वर के अस्तित्व की सम्भावना के सम्बन्ध में व्याख्या दी जाय।

**